

प्रकाशक :-
दलसुख मालवणिया
सेक्रेटरी, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी,
वाराणसी-५

मुद्रक :-
जयंति हलाल
वसंत प्रिन्टिंग प्रेस
बीकानंटा, पेलामाईकी बाड़ी
अहमदाबाद-१

गंधसमष्पणं

सव्वण्णुसत्थत्थपयासगत्थं भव्वाण जीवाण विवोहणत्थं ।
गंधा अणेगा रइया महग्घा जेहिं महत्था विविहा विसुद्धा ॥१॥
'भवविरहसूरि' इतिगुण्णणाम जेसिं जयम्मि सुपसिद्धं ।
जाइणिमहत्तराए धम्मसुयत्तं च जे पत्ता ॥२॥
अणुवकयपरोवकया अम्हारिसण्णेयजणगणम्मि जे ।
महमाहणाण महसमणवराणं पुज्जपायाणं ॥३॥
सिरिहरिभद्दायरियाणण्णुवमचरियाण महमईणं णं ।
ताणं ताणाणंइहयं तन्विरइयवित्तिंसंजुयं एयं ॥४॥
पुण्णपवित्ते करकयकोसे अप्पेमि नंदिसुत्तं हं ।
भत्ति-वहुमाणगहिल्लो विणयणओ अप्पयं घनं ॥५॥
मन्नेमाणो वारं वारं सकयत्थयं च भावंतो ।
मुणिपुण्णविजयणामो णिग्गंथो चरणरयकप्पो ॥६॥ छहिं कुल्लयं ॥

ग्रन्थसमर्पण

भव्यजीवों के विबोध के लिए सर्वज्ञ के शास्त्रों के अर्थप्रकाशन के हेतु जिन्होंने विविध विशुद्ध और महार्थको प्रकट करनेवाले महामूल्यवान अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनका उपनाम 'भवविरहसूरि' जगत में सुप्रसिद्ध है और जो याकिनीमहत्तरा के धर्मपुत्र थे, हमारे जैसे अनेक जनोंको जिन्होंने अनुपकृत होते हुए भी उपकार किया है, जो महात्राहण महाश्रमणश्रेष्ठ और पूज्यपाद है, ऐसे महामति अनुपमचारित्रधर श्रीहरिभद्राचार्य के पुण्यपवित्र करकमलकोपमें उन्हींकी वनाई वृत्ति के साथ यह नन्दिसूत्र को भक्ति और बहुमान से विवश अपने को धन्य मानता हुआ—पुनः पुनः अपने को कृतार्थ समझता हुआ मैं उनकी चरणरजके समान निर्ग्रन्थ मुनि पुण्यविजय समर्पित करता हूँ ।

प्रकाशकीय निवेदन

जैन आगम ग्रन्थों के प्रकाशनके लिए अब तक अनेक व्यक्ति और संस्थाओंने प्रयत्न किया है। ई. १८४८ में सर्व प्रथम स्टिवेन्सन ने कल्पसूत्रका अनुवाद प्रकाशित किया किन्तु वह क्षतिपूर्ण था। वस्तुतः वेबर ही सर्वप्रथम विद्वान माने जायेंगे जिन्होंने इस दिशामें नया प्रस्थान शुरू किया। उन्होंने ई. १८६५-६६ में भगवती सूत्रके कुछ अंशों का संपादन किया और उन पर टिप्पणीरूप अपना अध्ययन भी लिखा।

राय धनपतिसिंह बहादुरने आगमोंका प्रकाशन १८७४ में शुरू किया और कई आगम प्रकाशित किये किन्तु उनका मूल्य हस्तप्रतों की मुद्रित आवृत्तिसे कुछ अधिक था। फिर भी—विद्वानों को दुर्लभ वस्तु सुष्ठम बनानेका श्रेय उन्हें है ही। जेकोवीका कल्पसूत्र (ई. १८७९), और आचारांग (ई. १८८२), व्युमनका औपपातिक (ई. १८८३) और आवश्यक (ई. १८९७), स्टेड्थलका ज्ञातार्धमकथा का कुछ अंश (ई. १८८१), होर्नत्रका उपासकदशा (ई. १८९०), शुत्रिगके आचारांग (ई. १९१०) इत्यादि ग्रन्थ आगमों के संपादनकी कला में आधुनिक विद्वानों को संमत ऐसी पद्धति को अपनाकर प्रकाशित हुए थे। फिर भी लाला मुखदेव सहायद्वारा ऋषि अमोलककृत हिन्दी अनुवाद के साथ (ई. १९१४-२०) जो ३२ आगम प्रकाशित हुए तथा आगमोदय समिति द्वारा समग्र सटीक आगमों का ई. १९१५में जो मुद्रण प्रारंभ हुआ उनमें उस पद्धति की उपेक्षा ही हुई। आचार्य सागरानन्दसूरि द्वारा संपादित संस्करण शुद्धिको और मुद्रण को दृष्टिसे राय धनपतिसिंहके संस्करणसे आगे बढ़ा हुआ है और विद्वानोंके लिये उपयोगी भी सिद्ध हुआ है। इस संस्करणके प्रकाशनके बाद जैनधर्म और दर्शनके अध्ययन और संशोधन में जो प्रगति हुई उसका श्रेय आचार्य सागरानन्दसूरिको है। किन्तु इतना होने पर भी आगमों का आधुनिक पद्धतिसे समीक्षित वाचना की आवश्यकता तो बनी ही रही थी। पाठनमें ई. १९४३ में आगम प्रकाशनके लिए जिनागम प्रकाशिनी संसदकी स्थापना की गई किन्तु उससे अब तक कुछ भी प्रकाशन हुआ नहीं। पू. पा. मुनिश्री पुण्यविजयजी लगातार चालीससे भी अधिक वर्ष से इस प्रयत्नमें हैं कि आगमोंका सुसंवादित संस्करण प्रकाशित हो। उन्होंने इस दृष्टिसे प्राचीन प्रतों की शोध करके कई मूल आगमों और उनकी प्राकृत-संस्कृत टीकाओं के पाठ संशोधित किए हैं। इतना ही नहीं उन्होंने टीकाओंमें या अन्य ग्रन्थोंमें आगमोंके जो अवतरण आये हैं उनका आधार लेकर भी पाठशुद्धिका प्रयत्न किया है। उनके इस प्रयत्नको ही मुख्यरूपसे नजर समझ रख कर स्वतन्त्र भारतके प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसादने ई. १९५३ में प्राकृत ग्रन्थ परिपदकी स्थापना की। अबतक इस परिपद के द्वारा प्राकृत भाषाके कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ सुसंपादित होकर प्रकाशित हुए हैं। तथा पं. हरगोविंददासका सुप्रसिद्ध पाइयसइमहण्णवी भी पुनः मुद्रित हुआ है। प्राकृत ग्रन्थपरिपद के द्वारा सटीक आगमों का प्रकाशन होना है यह जानकर केवल मूळ आगमों के प्रकाशनके लिए बंबईके महावीर जैन विद्यालयने ई. १९६० में योजना बनाई और पू. मुनिश्री का सहकार मांगा जो सहर्ष दिया गया।

यह परम हर्षका विषय है कि प्राकृत ग्रन्थ परिपद अब अपने मुख्य ध्येय के अनुसार आगमप्रकाशनके क्षेत्रमें भी प्रवेश कर रही है और समग्र आगमके मंगलभूत नन्दोपमृत आ० जिनदास नहतर कृत चूर्णि और आचार्य हरिमद्रकृत वृत्ति आदिके साथ नवम और दशम ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित कर रही है। इसका श्रेय पू. पा. मुनिराज श्री पुण्यविजयजी को है जिन्होंने बड़े परिश्रम से इनका संपादन दीर्घकालीन अध्ययनसे अनेक हस्तप्रतों और टीकाओंके आश्रयसे किया है। इसके लिए प्राकृत ग्रन्थ परिपद और विद्वज्जगत उनका ऋणी रहेगा।

॥ जयन्तु वीतरागाः ॥

प्रस्तावना

आज विद्वानों के करकमलोंमें नन्दीसूत्र, उसकी हरिभद्रसूरिकृत वृत्ति, हरिभद्री वृत्तिकी चन्द्रकुलीन आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरिकृत दुर्गपदव्याख्या, जिसका अपरनाम टिप्पनक है, और हरिभद्रीवृत्तिके पर्याय, ये चार ग्रन्थ उपहृत किये जाते हैं। इनका संशोधन मूल नन्दीसूत्रकी आठ प्रतियाँ, हरिभद्री वृत्तिकी चार प्रतियाँ, दुर्गपदव्याख्याको तीन प्रतियाँ और पर्याय या संक्षिप्त टिप्पनककी दो प्रतियाँ, इस प्रकार कुल सत्रह प्रतियोंके आधारसे किया गया है।

मूल नन्दीसूत्रकी आठ प्रतियोंका विस्तृत परिचय, इसी प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित चूर्णीसहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनामें दिया गया है, इसको न दुहरा कर, विद्वानोंसे विज्ञप्ति है कि इस परिचयको चूर्णीसहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनासे ही देख लें। मूल नन्दीसूत्र के संख्यावन्ध पाठभेद आदिके विषयमें जो कुछ वक्तव्य और ज्ञातव्य था वह उसमें ही दिया है। इस ग्रन्थमें सिर्फ हरिभद्रसूरि महाराजने जिन पाठोंको लक्षित करके व्याख्या की है, वे पाठ सूत्रप्रतियोंमें मिले हों या न मिले हों, तथापि वृत्तिकारअभिमत सूत्रपाठ वृत्तिअनुसार मैंने दिये हैं। इन सब बातोंका सूचन चूर्णीसहित नन्दीसूत्र की पादटिप्पणीयोंमें स्थान स्थान पर किया है; चूर्णा, हरिभद्री वृत्ति और मलयगिरिवृत्तिमें पाठभेदोंके अलावा सूत्रोंकी और गाथाओंकी कमी-वेशी भी है, जिनका सूचन भी पाद टिप्पणीयोंमें किया है। अत एव सूत्रांक और सूत्रगत गाथांकमें फरक जरूर ही है, इस बातको गीतार्थ मुनिगण और विद्वद्वर्ग ध्यानमें रखे। चूर्णिके अनुसार सूत्रांक ११८ और सूत्रगत गाथांक ८५ है, तब हरिभद्री वृत्ति अनुसार सूत्रांक १२० और सूत्रगत गाथांक ८७ हुआ है। मूल नन्दीसूत्रकी बहुतसी प्राचीन प्रतियोंमें पाई जाती गुणरयणुज्जलकड्यं० नगर रह चक्र पउमे० वंदामि अज्जघम्मं० वंदामि अजरक्खियं० गोविंदाणं पि णमो० ततो य भूयदिन्नं० ये छह गाथायें चूर्णीकार जिनदासगणि महत्तर, लघुवृत्तिकार आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि और वृहद्वृत्तिकार श्रीमलयगिरि आचार्य, इन तीनों ही व्याख्याकारोंकी व्याख्यामें नहीं हैं। इन छह गाथाओं के अतिरिक्त जिनशासनकी स्तुतिरूप णेञ्जुइ पहसासणयं० और नेरइय देव तित्थंकरा० ये दो गाथायें भी चूर्णोंमें नहीं हैं, जो हरिभद्रसूरि और मलयगिरिसूरिकी व्याख्यामें पाई जाती हैं। इन सबका चूर्णोंकी पादटिप्पणीयों में निर्देश किया गया है। सामान्यतया सूत्रपाठके मुद्रण-विषय में मेरा यह क्रम रहा है कि जो जो व्याख्या सम्पादित की जाय उसमें उस व्याख्याकारको अभिमत सूत्रपाठ दिये जायें। नन्दीचूर्णा और नन्दीहरिभद्री वृत्तिके साथ दिये सूत्रपाठोंमें विद्वद्वर्ग को इस कथनका साक्षात्कार होगा।

हरिभद्री वृत्तिकी प्रतियाँ

१. आ. प्रति—आगमोद्धारक पूज्यपाद श्रीसागरानन्दसूरिसम्पादित एवं संशोधित मुद्रित आवृत्ति। जिसका प्रकाशन वि. सं. १९८४ में श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था—रतलामकी ओरसे हुआ है।

२. दा. प्रति—पूज्यपाद आचार्य महाराज श्री विजयदानसूरीश्वरजी संशोधित। जो भाई श्री हीरालालके द्वारा वि. सं. १९८८ में प्रकाशित हुई है।

३. सं. प्रति—पाटण श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिरस्थित श्रीसंबके ज्ञानभंडारकी कागज पर लिखित प्रति।

४. वा. प्रति—पाटण. श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिरस्थित वाडीपार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडारकी कागज पर लिखित प्रति।

सं. और वा. ये दोनों प्रतियाँ विमानकी पंद्रहवीं शतांके चतुर्थ चरणमें लिखित प्रतीत होती हैं। इनके अनिश्चित

और भी प्रतियाँ संशोधनके समय पासमें रखी गई थीं। किन्तु उनका उपयोग जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ ही किया गया है।

श्रीचन्द्रीयदुर्गपदव्याख्या—टिप्पणक की प्रतियाँ

हारिभद्रीवृत्तिसमेत नन्दीसूत्रके बादमें चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीधनेश्वरसूरिके शिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरिविरचित हारिभद्री-वृत्तिका टिप्पणक छपा है, जिसका आचार्यने 'नन्दीटीकादुर्गपदव्याख्या' नाम दिया है। इसके संशोधनके लिये तीन प्रतियाँ एकत्र की गई हैं—

१. जे. प्रति—जेसलमेरके खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनभद्रसूरिके ताडपत्रीय ज्ञानभंडारकी ताडपत्रीय प्रति, सूचिमें इस प्रतिका क्रमांक ७६ है। इस प्रतिके पत्र २२१ हैं। प्रति अति शुद्ध और उसमें कहीं कहीं किसी विद्वान् मुनिवरकी लिखी हुई महत्त्वकी टिप्पणियाँ भी हैं। प्रतिके अंतमें इस प्रकार लेखककी पुष्पिका पाई जाती है—

॥ ग्रंथाग्रम् ३३०० ॥ छ ॥ मंगलमस्तु ॥ छ ॥ संवत् १२२६ वर्षे द्वितीयश्रावण शुदि ३ सोमेऽधेह मंडलीवास्तव्य श्रीजाल्योधरगच्छे मोढवंशे श्रावक श्री सदेवसुतेन ले० पल्हणेन लिखिता । लिखापिता च श्रीगुणभद्रसूरिभिः ॥ छ ॥ मंगलमस्तु ॥ छ ॥

सकलभुवनप्रकाशनभानुश्रीहेमचन्द्रसुरुरूपाम् । स्थापयिताऽऽसीद् भाण्डागारिकसोमाकसुश्राद्धः ॥१॥

मरुदेवागर्भजया तत्सुतया सोमिकाह्वया क्रीत्वा । नन्धध्ययनसुविवरणटिप्पितपुस्तकमिदमुदारम् ॥२॥

मुनिवालचन्द्रशिष्यश्रीमद्गुणभद्रसूरिसुरुरभ्यः । दत्तमुपलभ्य वयं फलममलं ज्ञानदानस्य ॥३॥

सं. १३१३ श्रीजिनपद्मसूरिगुरुरूपदेशेन सा० केलिपुत्र सा० किरता सुश्रावकेण सत्पुत्र सा० विजमल सा० कर्मसिंह पौत्र कीका सकलपरिवारेण सस्रत्रा नन्दीटीका गृहीता । भगिनीनायकसुश्राविकाश्रेयोर्धम् । आचन्द्रार्के नन्दतात् ॥ श्रीः ॥

दुर्गपदव्याख्याकी प्रतिके अन्तमें लिखित इस पुष्पिकासे ज्ञात होता है कि—यह प्रति गुणभद्र आचार्यने वि. सं. १२२६ में मंडलीवास्तव्य जाल्योधरगच्छीय मोढज्ञातीय पल्हण नामक श्रावक लेखकके पास लिखाई थी। जिसको भंडारी सोमाककी धर्मपत्नी मरुदेवाकी पुत्री सोमीने खरीद कर (? लेखनमूल्य दे कर) हेमचन्द्राचार्यके शिष्य वालचन्द्रमुनिके शिष्य गुणभद्रसूरिको उपहृत की थी।

बादमें अस्तव्यस्त हो जाने के कारण इस प्रतिको—वि. सं. १३१३ में श्रीजिनपद्मसूरिके उपदेशसे किरतानामक श्रावकने अपनी बहिन नायक सुश्राविकाके श्रेयोनिमित्त खरीद की।

इस पुष्पिकामें निर्दिष्ट श्रीहेमचन्द्राचार्य, वालचन्द्रमुनिके गुरु होनेके कारण सम्भव है कि—ये चालुक्यराज कुमार-पालवृत्तप्रतिबोधक हेमचन्द्राचार्य हों। पुष्पिकागत 'सकलभुवनप्रकाशनभानु' यह विशेषण भी इस अनुमानको पुष्ट करता है।

इस पुष्पिकासे यह भी सूचित होता है कि—प्राचीनकालमें भी ज्ञानभंडारकी पुस्तकें अस्तव्यस्त हो जाती थीं और इनको पुनः खरीद भी कर ली जाती थी।

इस प्रतिके आदिके दो पत्र प्राचीन कालसे ही गूम हो गए हैं। यही कारण है कि—आज इस दुर्गपदव्याख्याकी जो प्राचीन अर्वाचीन हस्तप्रतियाँ देखनेमें आई हैं उन समीमें इस व्याख्याका मंगलाचरण आदि प्रारम्भिक अंश प्राप्त नहीं है।

२. पा.—यह प्रति पाटन—श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिरस्थित श्रीसंघके ज्ञानभंडारकी प्रति है। यह प्रति अनुमान विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दीमें लिखित है।

३. इं.— यह प्रति बडौदा श्रीआत्मारामजी जैन ज्ञानमंदिरस्थित पूज्यपाद श्रीहंसविजयजी महाराज संगृहीत ज्ञान-भंडारकी है और नई लिखी हुई है ।

नन्दीसूत्रकी हारिभद्रवृत्ति एवं उसके ऊपरकी दुर्गपदव्याख्यामें कोई पाठभेद प्राप्त नहीं हैं ।

नन्दीसूत्रविषमपदटिप्पनककी प्रतियाँ

नन्दीसूत्रविषमपदपर्याय या टिप्पनक, यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, किन्तु 'सर्वसिद्धान्तपर्याय' नामक ग्रन्थमेंसे विभाजित अंशमात्र है । इसके संशोधनके लिये पाटन—श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिरकी दो प्रतियोंका उपयोग किया गया है, जो अनुमानं विक्रमकी सत्रहवीं शतीकी लिखित प्रतीत होती हैं ।

इस प्रकार इन सत्रह हस्तप्रतियोंके आधारसे इस ग्रन्थाङ्कका संशोधन एवं संपादन किया गया है ।

नन्दीसूत्रकार

नन्दीसूत्रके प्रणेता स्थविर देव वाचक हैं । इनके सम्बन्धमें जो कुछ कहनेका था वह चूर्णि सहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनामें कह दिया है ।

लघुवृत्तिकार श्रीहरिभद्रसूरि

इस ग्रन्थाङ्कमें प्रकाशयमान वृत्तिके प्रणेता याकिनीमहत्तराधर्मसूनु आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि महाराज हैं । इनके विषयमें विद्वानोंने अनेक दृष्टिसे विचार किया है और लिखा भी बहुत है । अतः यहाँ पर मुझे अधिक कुछ भी कहनेका नहीं है । जो कुछ कहनेका था, वह मैंने, श्री लालभाई दलयतभाई भारतीय संस्कृतिविद्यामन्दिरग्रन्थावलीके चतुर्थ ग्रन्थाङ्करूपमें प्रसिद्ध किये गये 'सटीक योगशतक और ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय'की प्रस्तावनामें कह दिया है । अतः विद्वानोंसे प्रार्थना है कि उस प्रस्तावनाको देखें ।

दुर्गपदव्याख्याकार श्री श्रीचन्द्रसूरि

इस ग्रन्थाङ्कमें सम्पादित नन्दीवृत्तिटिप्पनक, जिसका नाम ग्रन्थकारने दुर्गपदव्याख्या दिया है, इसके प्रणेता आचार्य श्रीश्रीचन्द्रसूरि हैं । ये अपनेको चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीशीलभद्रसूरिके शिष्य श्रीधनेश्वराचार्य के शिष्य बतलाते हैं ।

इनका, आचार्यपदप्राप्तिकी पूर्वावस्थामें नाम पार्श्वदेवगणि था, ऐसा उल्लेख इन्हींकी रचित पाटन—खेत्रवसी पाडाकी न्यायप्रवेशपञ्जिकाकी ताडपत्रीय प्रतिकी पुष्पिकामें पाया जाता है । जो इस प्रकार है—

न्यायप्रवेशशास्त्रस्य सद्वृत्तेरिह पञ्जिका । स्वपरार्थं दृष्ट्वा (दृष्ट्वा) स्पष्ट्वा पार्श्वदेवगणिनाम्ना ॥१॥

प्रह९रस६रुद्रै११युक्ते विक्रमसंवत्सरेऽनुराधायाम् । कृष्णायां च नक्षत्र्यां फाल्गुनमासस्य निष्यन्ना ॥२॥

न्यायप्रवेशविवृतेः वृत्तेर्नां पञ्जिकां यन्मयाऽवाप्तम् । कुशलोऽस्तु तेन लोको लभतामवबोधकरमनुत्तम् ॥३॥

यावल्लवणोद्वान् यावन्नक्षत्रमण्डितो मेरुः । खे यावच्चन्द्रार्कौ तावदियं पञ्जिका जयतु ॥४॥

शुभमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः । दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखं भवतु लोकः ॥५॥

इति श्रीशीलभद्रसूरिशिष्यसुगृहीतनामधेयश्रीमद्भनेश्वरसूरिरित्यैः सामान्द्रावस्थाप्रसिद्धपण्डितपार्श्वदेवगण्यनिधान-विरोपावरधावाप्तश्रीश्रीचन्द्रसूरिनामभिः स्वपरोपकारार्थं दृष्ट्वा विषमपदपञ्जिका न्यायप्रवेशकवृत्तेः पञ्जिका परिममायेति ॥

आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरि, जिनका पूर्वावस्थामें पार्श्वदेवगणि नाम था, उन्होंने अपने गुरु श्रीधनेश्वराचार्यको श्रीजिन-बह्मगणिविरचित सार्धशतकप्रकरण-अपरनाम-सूक्तार्थविचारस्तान्प्रकरणकी वृत्तिकी रचना और उसके संशोधनकार्यमें साहाय्य

दिया था, ऐसा इस वृत्तिकी प्रशस्तिमें खुद वृत्तिकार गुरुने सूचित किया है। इस प्रशस्तिमें श्री श्रीचन्द्रसूरिकी गुरु-प्रगुरु आदि परम्पराका और वंशादिका उपयुक्त वर्णन होनेसे यह प्रशस्ति यहाँ दी जाती है—

सम्पूर्णनिर्मलकलाकलितं सदैव जाड्येन वर्जितमखण्डितवृत्तभावम् ।

दोषानुषङ्गरहितं नितरां समस्ति चान्द्रं कुलं स्थिरमपूर्वशाशाङ्गतुल्यम् ॥१॥

तस्मिंश्चरित्रघनधामतया यथार्थाः संजज्ञिरे ननु धनेश्वरसूरिवर्याः ।

नीहारहारहरहारविकाशिकाशसंकाशकीर्त्तिनिवहैर्धवलीकृताशाः ॥२॥

ये निःसङ्गविहारिणोऽमलगुणा विश्रान्तविधाधरव्याख्यातार इति क्षितौ प्रविदिता विद्वन्मनोमोदिनः ।

येऽनुष्ठाननिजनेषु साम्प्रतमपि प्राप्तेपमाः सर्वतस्तेभ्यस्तेऽजितसिंहसूरय इहामूवन् सतां सम्मताः ॥३॥

उदामधामभवजन्तुनिकामवामकामेभकुम्भतटपाटनसिंहपोताः ।

श्रीवर्द्धमानमुनिपाः सुविशुद्धबोधास्तेभ्योऽभवन् विशदकीर्त्तितानभाजः ॥४॥

लोकानन्दपयोधिबर्द्धनवशात् सद्वृत्ततासङ्गतैः सौम्यत्वेन कलाकलापकलनाच्छ्लाघ्योदयत्वेन च ।

ध्वस्तध्वान्ततया ततः समभर्वैश्चन्द्रान्वयं सान्वयं कुर्वाणाः शुचिशालिनोऽत्र मुनिपाः श्रीशीलभद्राभिषाः ॥५॥

निःसंख्यैरपि लब्धमुख्यगणनैराशाविकाशं सतां कुर्वाणैरपि सङ्कटीकृतदिगाभोगैर्गुणप्रीणिकैः ।

श्वेतैरप्यनुरञ्जितत्रिभुवनैर्येषां विशालैर्गुणैश्चित्रं कोऽपि यशःपटः प्रकटितः श्वेतो विचित्रैरपि ॥६॥

सत्तर्ककर्कशधियः सुविशुद्धबोधाः सुव्यक्तसूक्तशतमौक्तिकशुक्तिकल्पाः ।

तेषामुदारचरणाः प्रथमाः सुशिष्याः सद्योऽभवन्नजितसिंहमुनीन्द्रवर्याः ॥७॥

तेषां द्वितीयशिष्या जाताः श्रीमद्धनेश्वराचार्याः । सार्द्धशतकस्य वृत्तिं गुरुप्रसादेन ते चक्रुः ॥८॥

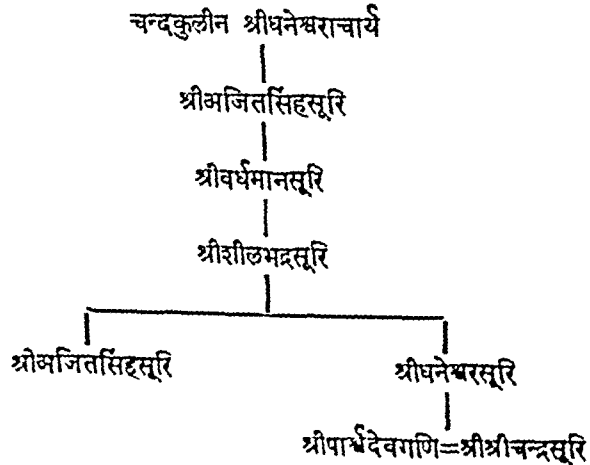
शशिः१मुनिः७पशुपतिः११सङ्घे वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते । चैत्रे सितसप्तम्यां समर्थितेयं गुरौ वारे ॥९॥

युक्तायुक्तविवेचन-संशोधन-लेखनैकदक्षस्य । निजशिष्यसुसाहाय्याद् विहिता श्रीपार्श्वदेवगणेः ॥१०॥

प्रथमादर्शे वृत्तिं समल्लसतां प्रवचनानुसारेण । मुनिचन्द्र-विमलचन्द्रौ गणी विनीतौ सदोद्युक्तौ ॥११॥

श्री चक्रेश्वरसूरिभिरतिपटुभिर्निपुणपण्डितोपेतैः । अणहिलपाटकनगरे विशोध्य नीता प्रमाणमियम् ॥१२॥

इस प्रशस्तिमें आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरिकी पूर्वजपरम्परा इस प्रकार है—



न्यायप्रवेशपञ्जिकाकी प्रशस्तिका उपर जो उल्लेख किया है उसके अंतमें 'श्रीश्रीचन्द्रसूरिका ही पूर्वावस्थामें पार्श्व-देवगणि नाम था' ऐसा जो उल्लेख है वह खुद ग्रन्थप्रणेताका न होकर तत्कालीन किसी शिष्य-प्रशिष्यादिका लिखा हुआ प्रतीत होता है। अस्तु, कुछ भी हो, इस उल्लेखसे इतना तो प्रतीत होता ही है कि-श्रीचन्द्राचार्य ही पार्श्वदेव गणि हैं या पार्श्वदेवगणि ही श्री श्रीचन्द्रसूरि हैं, जिनका उल्लेख धनेश्वराचार्यने सार्धशतकप्रकरणकी वृत्तिमें किया है।

श्रीश्रीचन्द्रसूरिका आचार्यपद

श्रीश्रीचन्द्रसूरिका आचार्यपद किस संवतमें हुआ ? इसका कोई उल्लेख नहीं मीलता है, फिर भी आचार्यपदप्राप्तिके बादकी इनकी जो ग्रन्थरचनायें आज उपलब्ध हैं उनमें सबसे पहली रचना निशीथ चूर्णिविशोदेशकव्याख्या है। जिसका रचना-काल वि. सं. ११७४ है। वह उल्लेख इसप्रकार है—

सम्यक् तथाऽऽम्नायाभावादत्रोक्तं यदुत्सूत्रम् (?) । मतिमान्वाद्वा किञ्चित् क्षन्तव्यं श्रुतधरैः कृपाकलितैः ॥१॥

श्रीशीलभद्रसूरीणां शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः । विशकोदेशकव्याख्या दृष्ट्वा स्वपरहेतवे ॥२॥

वेदाश्वरुद्रसङ्घे ११७४ विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे । भाषसितद्वादश्यां समर्थितेयं रवौ वारे ॥३॥

निशीथचूर्णिविशोदेशकव्याख्याप्रशस्तिके इस उल्लेखको और इनके गुरु श्री धनेश्वराचार्यकृत सार्धशतकप्रकरणवृत्तिकी प्रशस्तिके उल्लेखको देखते हुए, जिसकी रचना ११७१ में हुई है और जिसमें श्रीचन्द्राचार्य नाम न होकर इनकी पूर्वावस्थाका पार्श्वदेवगणि नाम ही उल्लिखित है, इतना ही नहीं, किन्तु प्रशस्ति के ७ वें पद्यमें जो विशेषण इनके लिये दिये हैं वे इनके लिये घटमान होनेसे, तथा खास कर पाटन-खेत्रवसी पाडाकी न्यायप्रवेशपञ्जिकाकी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके अंतमें उनके किसी विद्वान शिष्य-प्रशिष्यादिने—“सामान्यावस्थाप्रसिद्धपण्डितपार्श्वदेवगण्यभिधान-विशेषावस्थावाप्तश्रीश्रीचन्द्रसूरिनामभिः” ऐसा जो उल्लेख दाखिल किया है, इन सब का पूर्वापर अनुसन्धान करनेसे इतना निश्चित रूपसे प्रतीत होता है कि-इनका आचार्यपद वि. सं. ११७१ से ११७४ के बिचके किसी वर्षमें हुआ है।

ग्रन्थरचना

ग्रन्थरचना करनेवाले श्रीश्रीचन्द्राचार्य मुख्यतया दो हुए हैं। एक मलधारगच्छीय आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिके शिष्य और दूसरे चन्द्रकुलीन श्री धनेश्वराचार्यके शिष्य, जिनका पूर्वावस्थामें पार्श्वदेवगणि नाम था। मलधारी श्रीश्रीचन्द्रसूरिके रचे हुए आज पर्यंतमें चार ग्रन्थ देखनेमें आये हैं—१ संप्रहणी प्रकरण २ क्षेत्रसमासप्रकरण ३ लघुप्रवचनसारोद्धारप्रकरण और ४ प्राकृत मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र। प्रस्तुत नन्दीसूत्रवृत्तिदुर्गपदव्याख्याके प्रणेता चन्द्रकुलीन श्रीश्रीचन्द्राचार्य की अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनके नाम, उनके अन्तकी प्रशस्तियोंके साथ यहाँ दिये जाते हैं—

(१) न्यायप्रवेशपञ्जिका और (२) निशीथचूर्णिविशोदेशकव्याख्याके नाम और प्रशस्तियोंका उल्लेख उपर दो घूका है। (३) श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति। रचना संवत् १२२२। प्रशस्ति—

कुवलयसद्विकासप्रदस्तमःप्रहतिपटुरमलबोधः । प्रस्तुततीर्थाधिपतिः श्रीवीरजिनेन्दुरिह जयति ॥१॥

विजयन्ते हतमोहाः श्रीगौतममुख्यगणधरादित्याः । सन्मार्गदीपिकाः कृतमुमानसाः जन्तुजाडचमिद्रः ॥२॥

नित्यं प्राप्तमहोदयत्रिभुवनक्षीराब्धिरलोत्तमं, स्वर्ग्योतित्तिपात्रकान्तकिरणैरन्त स्तमोमेदद्रम् ।

स्वच्छातुष्णसिताम्बरैकतिलकं बिभ्रत् सदा कौमुदं श्रीमन् चन्द्रकुलं समस्ति दिनलं जाड्यदिनिप्रव्यम् ॥३॥

तरिम्न् सूरिपरम्पराक्रमसमायाता बृहत्प्राभदाः सन्ध्याज्ञानमुदर्शनातिविमलश्रीपदसङ्घोषमाः ।

सच्चारित्रविभूषिताः शमपनाः सरसकन्याहिंसा दिख्याता सुवि नूरयः सनमवन् श्रीशीलभद्राभिकाः ॥४॥

ततश्च तेषां पदपदग्रहंसः, समग्रगच्छाभरणावतंसः । धनेश्वरः सूरिरभूत् प्रशस्यः, जिप्यः प्रभावप्रथितो यदीयः ॥५॥

निःशेषागमतर्कशाखसकलालङ्कारसंविन्निधेर्यस्येन्दोसि दीधितिर्वितमसो वाचोऽमृतस्यन्दिनीः ।

भास्वाधामितभक्तिसम्भविक्काः स्वात्मानमस्ताशुभं मन्यन्ते स्म सुरापवर्गुरुत्तरिप्रात्रमत्युत्तमम् ॥६॥

श्रीचन्द्रसूरिनामा शिष्यस्तेषां बभूव गुरुभक्तः । तेन कृता स्पष्टार्था श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्तिरियम् ॥७॥

करनयनसूर्यवर्षे १२२२ प्रातः पुण्याकर्मधुसितदशम्याम् । भृत्तियोगनवमकक्षे समर्थिता प्रकृतवृत्तिरियम् ॥८॥

उत्सूत्रं यद् रचितं मतिदौर्वल्यात् कथञ्चनापि मया । तच्छोधयन्तु कृतिनोऽनुग्रहबुद्धिं मयि विधाय ॥९॥

यावत् सुमेरुशिखरी शिखरीकृतोऽत्र, नित्यैर्विभाति जिनविम्बगृहैर्मनोज्ञैः ।

श्रीचन्द्रसूरिरचिता भुवि तावदेषा, नन्वात् प्रतिक्रमणवृत्तिरधीयमाना ॥१०॥

प्रत्यक्षरं निरूप्यास्य ग्रन्थमानं विनिश्चितम् । श्लोकपञ्चाशदुत्तरशतान्येकोनविंशतिः ॥११॥

॥ ग्रन्थाग्रम् १९५० ॥

(४) जीतकल्पवृहच्चूर्णिदुर्गपदव्याख्या । रचनासंवत् १२२७ । प्रशस्ति—

इति जीतकल्पचूर्णिविषया व्याख्या समाप्ता ।

जीतकल्पवृहच्चूर्णौ व्याख्या शालानुसारतः । श्रीचन्द्रसूरिभिर्दृष्ट्वा स्व-परोपकृतिहेतवे ॥१॥

मुनि-नयन-तरणिवर्षे १२२७ श्रीवीरजिनस्य जन्मकल्याणे । प्रकृतग्रन्थकृतिरियं निष्पत्तिमवाप रविवारे ॥२॥

सद्ग-चैत्य-गुरुणां च सर्वार्थप्रविधायिनः । वशाऽभयकुमारस्य वसतौ दृष्ट्वा सुबोधकृत् ॥३॥

एकादशशतविंशत्यधिकं श्लोकप्रमाणग्रन्थाग्रम् । ग्रन्थकृतिः प्रविवाच्या मुनिपुङ्गवसूरिभिः सततम् ॥४॥

यदिहोत्सूत्रं किञ्चिद् दृष्ट्वं छन्नस्थबुद्धिभावनया । तन्मयि कृपानुकुलितैः शोध्यं गीतार्थविद्वद्भिः ॥५॥

समाप्ता चेयं श्रीशीलभद्रप्रभु-श्रीधनेश्वरसूरिपादपद्मचञ्चरीकश्रीश्रीचन्द्रसूरिसंरचिता जीतकल्पवृहच्चूर्णिदुर्गपदविषया निशीथादिशालानुसारतः सम्प्रदायाच्च सुगमा व्याख्यायते ।

यावत्प्रवणोदन्वान् यावन्नक्षत्रमण्डितो मेरुः । खे यावच्चन्द्रार्कौ तावदियं वाच्यतां भव्यैः ॥१॥

(५) नन्दीसूत्रलघुवृत्तिदुर्गपदव्याख्या । प्रशस्ति—

श्रीधनेश्वरसूरीणां पादपद्मोपजीविना । नन्दिवृत्तौ कृता व्याख्या श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिणा ॥१॥

इति समाप्ता श्रीशीलभद्रप्रभु-श्रीधनेश्वरसूरिशिष्यश्रीश्रीचन्द्रसूरिविरचिता नन्दिटीकाया दुर्गपदव्याख्या ॥

नन्दिवृत्तिदुर्गपदव्याख्यान्ते ।

(६) मुखबोधा सामाचारी । प्रशस्ति—

इधेसा गिहत्थसाहुसत्थाणुट्टाणविहिपदरिसणपरा सिरिसीलभदसूरि-धणेसरसूरिसिस्ससिरिचंदसूरिसमुद्धरिया सुहबोहा सामायारी सम्भत्ता । इति बहुविधप्रतिष्ठाकल्पान् संवीक्ष्य समुद्धृत्यं श्रीश्रीचन्द्रसूरिणा ॥

समुच्चय ग्रन्थाग्रम् १३८६ ॥

कमलवने पाताले क्षीरोदे संस्थिता यदि स्वर्गे । भगवति ! कुरु सान्निध्यं विन्धे श्रीश्रमणसङ्घे च ॥१॥

॥ इति श्रीमुखबोधा सामाचारी समाप्ता ॥

सं. १३०० माघ शुद्धि १० गुरौ श्रीचन्द्रगच्छे मण्डनीय भृङ्गांकसूरिभिर्लिखायिता ।

(७) निरयावलिकादिपञ्चोपाङ्गसूत्रवृत्ति । रचना सं. १२२८ । प्रशस्ति—

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिविरचितं निरयावलिकाश्रुतस्कन्धविवरणं समाप्तमिति । निरयावलिकादिपञ्चोपाङ्गसूत्रवृत्ति-
ग्रन्थाग्रम् ६३७ ॥

वसु-लोचन-रविवर्षे १२२८ श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिभिर्दद्या । आभडवसाकवसतौ निरयावलिशास्त्रवृत्तिरियम् ॥१॥

(८) पिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्ति । रचना संवत् ११७८ । प्रशस्ति—

समातेयं श्रीश्रीचन्द्रसूरिविरचिता सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिष्कषणपट्टकसन्निभप्रतिभजिनवल्लभाभिधानाचार्यद्व्यपिण्डविशुद्धि-
शास्त्रस्य वृत्तिः ॥

यच्चक्रे जिनवल्लभो दृढमतिः पिंडैपणागोचरं, प्रज्ञावर्जितमानवोपकृतये प्राग्यार्थमल्पाक्षरम् ।

शास्त्रं पिण्डविशुद्धिसंज्ञितमिदं श्रीचन्द्रसूरिः स्फुटां तद्वृत्तिं सुगमां चकार तनुधीः श्रीदेवतानुप्रहात् ॥१॥

वसु-मुनि-रुद्रैर्युक्ते विक्रमवर्षे ११७८ रवौ समाप्येया । कृष्णैकादश्यां कार्तिकस्य योगे प्रशस्ते च ॥२॥

अस्यां चतुःसहस्राणि शतानां च चतुष्टयम् । प्रत्यक्षरप्रमाणेन श्लोकमानं विनिश्चितम् ॥३॥ प्र० ४४०० ॥

उपर श्री श्रीचन्द्रसूरिकी जिन आठ कृतियोंके नाम् उनकी प्रशस्तियोंके साथ उल्लिखित किये हैं, उनको देखनेसे यह स्पष्ट होता है कि— प्रारम्भकी छ रचनायें चन्द्रकुशीन आचार्य श्रीधनेश्वरके शिष्य श्रीश्रीचन्द्रसूरिकी ही हैं । सातवीं निरया-
वल्यादिपंचोपांग्याख्या भी अनुमान इन्हीकी रचना मानी जाती है । आठवीं पिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्तिकी रचना इन्हीं आचार्य-
की है या नहीं, यह कहना जरा कठिन है । क्यों कि इस रचनामें वृत्तिकारने “ श्रीदेवतानुप्रहात् ” ऐसा उल्लेख किया है, जो
दूसरी कोई कृतिमें नहीं पाया जाता है । यद्यपि रचनाकाल ऐसा है, जो अपनेको इन्हीं आचार्य की रचना होने की ओर
आकर्षण करता है । फिर भी इस बातका वास्तविक निर्णय मैं तज्ज्ञ विद्वानोंके पर छोड़ देता हूं ।

उपर मैंने श्रीश्रीचन्द्राचार्यकी रचनाओंके नाम और उनके अन्तकी प्रशस्तियोंका उल्लेख किया है, उनको देखते ही
विद्वानोंके दिलमें एक कल्पना जरूर ऊठेगी कि इन आचार्यकी विक्रमसंवत् ११६९, ११७४, ११७८, ११८०, १२२२,
१२२७, १२२८ आदि संवतमें रची हुई जो कृतियाँ पाई गई हैं उनमें सं. ११८० बाद एकदम उनकी रचना सं. १२२२
में आ जाती है, तो क्या ये आचार्य चालीस वर्ष के अंतरमें निष्क्रिय बैठ रहे होंगे ! जरूर यह एक मद्भवका प्रश्न है,
किन्तु अन्य साधनोंके अभावमें इस समय में इतना ही जवाब दे सकता हूं कि— प्राचीन ग्रंथोंकी सूचां गृहटिप्पणिकांमें,
जैनग्रन्थावली आदिमें १ श्रमणप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति २ जयदेवछन्दःशास्त्रवृत्तिटिप्पणक ३ सनकुमारचरित र. सं. १२१४
प्रं. ८१२७ आदि नाम पाये जाते हैं । इसी तरह इनकी और कृतियाँ जरूर होंगी, किन्तु जब तक ऐसी कृतियाँ कहीं भी
देखने—सुननेमें न आये तब तक इनके विषयमें कुछ कहना उचित प्रतीत नहीं होता है । परन्तु यह तो निर्विवाद है कि—
दिक्के वर्षोंमें रची हुई इनकी ग्रन्थकृतियाँ अवश्यमेव होनी चाहिए ।

पाठन—श्रीहेमचन्द्राचार्य जैनज्ञानमंदिररिथत श्रीसंघजैनज्ञानमंडार क्रमांक १०२३ वाडी प्रकरगमुनिग्रामे श्रीश्रीचन्द्रा-
चार्यशत अनागतचतुर्विंशतिजिनस्तोत्र है, जो यहाँ उपयुक्त समझ कर दिया जाता है, किन्तु यह वृत्ति कौदमे श्रीचन्द्रा-
चार्यकी है यह कहना शक्य नहीं है । स्तोत्र—

बीरदरस्त भगवओ वोलियबुलसीयदरिससहसेहि । पउमाई चउदीसे जह हुंति जिणा तहा सुजिनो ॥१॥

पउमे च पउमनारं सेणियज्जं जिनेत्तरं भजिमो । बसं च दूरसेणं वंदे जंतं मुयासस ॥२॥

तद्व्यं सुपासनामं उदायजीवं पणट्टभववासं । वंदे सयंपभजिणं पुट्टिलजीवं चउत्थमहं ॥३॥
 सव्वाणुभूयनामं दढउजीवं च पंचमं वंदे । छट्टं देवसुयजिणं वंदे जीवं च कित्तिस्स ॥४॥
 सत्तमयं उदयजिणं वंदे जीवं च संखनामस्स । पेढालं भट्टमयं आणंदजियं नमंतामि ॥५॥
 पुट्टिलजिणं च नवमं सुरकयसेवं सुनंदजीवस्स । सयक्कित्तिजिणं दसमं वंदे सयगस्स जीवं ति ॥६॥
 एगारसमं मुणिसुव्वयं च वंदामि देयईजीवं । वारसमं अममजिणं सच्चइजीवं जगपईवं ॥७॥
 निकसायं तेरसमं वंदे जीवं च वासुदेवस्स । बलदेवजियं वंदे चउदसमं निण्णुलाइजिणं ॥८॥
 सुलसाजीवं वंदे पनरसमं निम्ममत्तनामाणं । रोहिणिजीवं नमिमो सोलसमं चित्तगुत्तं ति ॥९॥
 सत्तरसमं च वंदे रेवइजीवं समाहिजिणनामं । संवरमट्टारसमं सयालिजीवं पणिवयामि ॥१०॥
 दीवायणस्स जीवं जसोहरं वंदिमो इगुणवीसं । कन्हजियं गयतन्हं वीसइमं विजयमभिवंदे ॥११॥
 वंदे इगवीसइमं नारयजीवं च मल्लिनामाणं । देवजिणं वावीसं अंबडजीवस्स वंदे हं ॥१२॥
 अमरजियं तेवीसं अणंतविरियाभिहं जिणं वंदे । तह साइचुद्धजीवं चउवीसं भइजिणनामं ॥१२॥
 उस्सप्पिणीए चउवीसजिणवरा कित्तिया सनामेहिं । सिरिचंदस्सरिनामेहिं सुहयरा हुंतु सयकालं ॥१४॥

॥ इति अनागतचतुर्विंशतिजिनस्तोत्रम् ॥

यहाँ पर एक वातको स्पष्ट करना अति आवश्यक है कि— प्राकृत पृथ्वीचन्द्रचरितके प्रणेता चन्द्रकुलीन श्रीशान्ति-
 स्सरिजीने अपने इस चरितकी मंगलगाथामें सूचित किया है कि— 'धनेश्वराचार्यकी अर्थगम्भीर वाणीका आपके उपर बड़ा
 प्रभाव पड़ा है' और इसी चरितकी प्रशस्तिमें आपने लिखा है कि—चन्द्रकुलीन श्रीसर्वदेवसूरिके स्वहस्तसे दीक्षा पाने वाले
 श्रीश्रीचन्द्राचार्यकी कृपासे आपको आचार्यपद प्राप्त हुआ है। वह मंगलगाथान्तर्गत गाथा और प्रशस्ति इस प्रकार हैं।
 मंगलगाथान्तर्गतगाथा—

जन्नाणधणल्लेणं ववहरमाणा वयं मइदरिदा । करिमो परोवयारं तेसि नमो गुरु धणेसाणं ॥१०॥

प्रशस्ति—

आसी कुंदिंदुसुद्धे विउलससिक्कुले चारुचारित्तपत्तं सूरी सेयंवराणं वरतिलयसमो सव्वदेवामिहाणो ।
 नाणासूरिप्पसाहापहियसुमहिमो कप्परुक्खो व्व गच्छो जाओ जत्तो पवित्तो गुणसुरसफलो सुप्पसिद्धो जयम्मि ॥१॥
 तेसि चास्ससी सुयजलनिही खंतदंतो पसंतो, सीसो वीसो सियगुणगणो नेमिचंदो मुणिंदो ।
 जो विकखाओ पुहइवलए सुग्गचारी विहारी, मन्ने नो से मिहिर-ससिणो तेय-कंतीहिं तुल्ला ॥२॥
 तेसि च सीसो पयईजडप्पा, अदिट्टपुब्बिल्लविसिट्टसत्थो । परोवयारेक्करसावियञ्जो, जाओ निसग्गेण कइत्तकोइ ॥३॥
 जो सव्वदेवमुणिपुंगवदिविखएहिं, साहित्त-तक्क-समाएसु सुसिक्खिखएहिं ।
 संपाविओ वरपयं सिरिचंदस्सरिपुजेहिं पक्खमुवगम्म गुणेसु भूरि ॥४॥
 संवेगंबुनिवाणं एयं सिरिसंतिस्सरिणा तेणं । वजरियं वरचरियं मुणिचंदविणेयवयणाओ ॥५॥
 जइ किंचि अजुत्तं वुत्तमेत्थ मइजइ-रहसवित्तीहिं । तमण्णुगहवुद्धीए सोद्वेयव्वं छल्लेहिं ॥६॥
 इगतीसाहियसोलससएहिं वासाण निच्चुए वीरे । कत्तियचरिमत्तिहीए कित्तियरिक्खे परिसमत्तं ॥७॥

उपर दी गई पृथ्वीचन्द्रचरितकी मंगलगाथान्तर्गत दसवीं गाथा और उसकी प्रशस्तिको देखनेसे यह प्रतीत होता है कि—
 प्राकृत पृथ्वीचन्द्रचरितके प्रणेता आचार्य श्रीशान्तिस्सरिके हृदयपर श्रीधनेश्वराचार्यके अर्थगम्भीर विचारोंका भारी प्रभाव पड़ा

है और श्री श्रीचन्द्राचार्य, जो साहित्य, तर्क और सिद्धान्तके पारंगत थे, उनकी कृपासे आपको आचार्यपद प्राप्त हुआ था। इस प्रकार यहाँ पर इस आचार्ययुगलके नामोंको सुनते ही यह भी संभावना हो आती है कि— ये दो आचार्य, सार्धशतक-प्रकरणवृत्ति आदिके प्रणेता श्रीधनेश्वराचार्य और न्यायप्रवेशपञ्जिका, निशीथर्विशोदेशकव्याख्या आदिके प्रणेता पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्रीश्रीचन्द्राचार्य, गुरु—शिष्यकी जोड़ी हों !। परन्तु पूर्वापर उल्लेखोंका अनुसंधान करनेसे प्रतीत होता है कि— पृथ्वीचन्द्रचरितमें निर्दिष्ट श्रीधनेश्वराचार्य और श्री श्रीचन्द्राचार्य जुदा हैं। इसका कारण यह है कि— यद्यपि पृथ्वीचन्द्र-चरितमें निर्दिष्ट धनेश्वराचार्य कौन थे? किनके शिष्य थे? यह स्पष्ट नहीं है, तौ भी श्री श्रीचन्द्राचार्य, जिनकी सहायसे श्रीशान्तिसूरिको सूरिपद प्राप्त हुआ था, वे चन्द्रकुलीन श्रीसर्वदेवसूरिके हस्तसे दीक्षा पाये थे, ऐसा तो इस प्रशस्तिमें साफ उल्लेख है, इससे ज्ञात होता है कि— पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्री श्रीचन्द्राचार्यसे पृथ्वीचन्द्रचरितनिर्दिष्ट श्रीचन्द्राचार्य भिन्न हैं। दूसरी बात यह भी है कि— पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्री श्रीचन्द्राचार्यका आचार्यपद, मैं उपर लिख आया हूँ तदनुसार वि. सं. ११७१ से ११७४ के बीचके किसी भी वर्षमें हुआ है; तब पृथ्वीचन्द्रचरितकी रचना वारसंवत् १६३१ अर्थात् विक्रम-संवत् ११६१ में हुई है, जिस समय शान्त्याचार्यको आचार्यपदप्रदानकरनेके लिये सहायभूत होनेवाले श्री श्रीचन्द्राचार्य प्रौढावस्थाको पा चुके थे। अतः ये धनेश्वराचार्य और श्रीचन्द्राचार्य प्रस्तुत नन्दीसूत्रवृत्तिदुर्गपदव्याख्याकार श्रीचन्द्राचार्य और उनके गुरु धनेश्वराचार्यसे भिन्न ही हो जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ नन्दिवृत्तिदुर्गपदव्याख्याकार चन्द्रकुलीन श्री श्रीचन्द्राचार्यका यथासाधनप्राप्त परिचय दिया गया है।

मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत नन्दिटिप्पनक

इस नन्दिवृत्तिके उपर मलधारगच्छीय आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत टिप्पनक भी था, जो आज प्राप्त नहीं है। आज पर्य-तमें मैंने संख्याबन्ध ज्ञानभंडारों को देखे हैं, इनमेंसे कोई ज्ञानभंडारमें वह देखनेमें नहीं आया है। फिर भी आपने इस टिप्पनककी रचना की थी—इसमें कोई संशय नहीं है। खुद आपने ही विशेषावश्यकमहाभाष्यवृत्तिके प्रान्त भागमें अपनी ग्रन्थरचनाओंका उल्लेख करते हुए इस रचनाका भी निर्देश किया है। जो इस प्रकार है—

इह संसारवारांनिधौ मां निमग्नं.... अवलोक्य कोऽपि.... महापुरुषः.... चारित्रमयं महायानपात्रं समर्पयामास। भणित-
वांश्च—भो महाभाग ! समधिरोह त्वमस्मिन् यानपात्रे । समारूढश्चात्र.... भवजलधिमुत्तीर्य प्राप्स्यसि शिवरत्नद्वीपम् । समर्पितं च
मम तेन मुद्गापुरुषेण सद्भावनामजूपायां प्रक्षिप्य शुभमनोनामकं महारत्नम् । अभिहितं च मां प्रति—रक्षणीयमिदं प्रयत्नतो
भद्र ! ।..... एतदभावे तु त्प्रेमेतत् प्रलयमुपयाति । अत एव तय पृष्ठतः सर्वादेरेणैतदपठगणार्थं लघिभ्यस्ते ते मोदराजादयो
दुष्टतस्कराः ।..... 'रे' र तस्कराधमाः ! किमेतदारब्धम् ? स्थिरीभूय लगन लगन सवांमना' इति ब्रुवागो मोदचरत्नकवनी
ससैन्य एवाऽऽरब्धो युगपत् प्रहृत्तम् । केचित्त्वतीवच्छलातिनो मोहसैनिकाः..... जर्जरयन्ति सद्भावनाद्भानि । तनो मया
तस्य परमपुरुषस्योपदेशं स्मृत्वा विरचय्य शतिति निवेशितमावश्यकटिप्पनकानिधानं सद्भावनामजूपायां नूतनकालकम्, तनो-
ऽपरमपि शतकविवरणनामकम्, अन्यदप्यनुयोगद्वारवृत्तिसंज्ञितम्, तनोऽपरमप्युपदेशमात्रान्यान्यानिधानम्, अयं तु नू-
वृत्तिनामकम्, अन्यत्र जीवसमासविवरणनामधेयम्, अन्यत्तु भवभावनामूत्रसंज्ञितम्, अयं तु तद्विवरणनामकम्, अन्यत्र
शतिति विरचय्य तरयाः सद्भावनामजूपाया अङ्गभूतं निवेशितं नन्दिटिप्पनकनामधेयं नूतनं दृढकालकम् । एतैश्च नूतनकालकै-
निवेशितैर्वैजमर्याद सद्भावनाऽसौ मजूपा तेषां पापानामगत्या । तत्रस्तैर्तावच्छलातिनया मजूर्मयिभुजाग्नं तद्वारकाल-
समुष्टम् । तनो मया समगम्येण निपुणं तदप्रनिविधानोपायं चिन्तयित्वा दिग्बन्धुमान्त्रं तद्वारकालकवदेतोः विनोपावयक-
विवरणाभिधानं वज्रमयमिदं नूतनकालकमुष्टम् । तत्राभयकुमानागणि-धनदेवगणि-जिनभद्रगणि-लक्ष्मणगणि-दिव्य-
चन्द्रादिशुनिहय-श्रीमहानन्द-श्रीभारतरात्रीरमतीगणिकादिमाहात्म्यपद-नेने नित्तिनिहाती इत्यादि यदेतद-विषयकं

ततो धावत धावत, गृहीत गृहीत, लगत लगत' इत्यादि पृक्पूर्वतां सर्वात्मशक्त्या युगपत् प्रहरतां हाहारवं कुर्वतां च मोहादि-
चरटानां चिरात् कथं कथमपि विरचय्य तद्द्वारे निवेशितमेतदिति । ततः शिरो हृदयं च हस्ताभ्यां कुड्यन् विपण्णो मोहमहाचरटः,
समस्तमपि विलक्ष्मीभूतं तत्सैन्यम्, निलीनं च सनायकमेव । ततः क्षेमेण शिवरत्नदीपं प्रति गन्तुं प्रवृत्तं तद् यानपात्रमिति ॥

—मलधारीयश्रीहेमचन्द्रसूरिकृतविशेषावश्यकवृत्तिप्रान्ते ।

इस उल्लेखको पढनेसे प्रतीत होता है कि आपने आवश्यकहारिभद्रीवृत्तिटिप्पनककी तरह नन्दिहारिभद्रीवृत्तिटिप्पनककी भी
रचना की थी । यद्यपि श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराज इस टिप्पनकरचनाका उल्लेख आप करते ही हैं, फिर भी आश्चर्यकी बात
यह है कि— इनके ही शिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरि महाराजने प्राकृत मुनिमुव्रतस्वामिचरित्रकी प्रशस्तिमें अपने दादागुरु और
गुरुके, संक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वके चरित्रका वर्णन करते हुए श्रीहेमचन्द्राचार्य की ग्रन्थकृतियोंका उल्लेख किया है, उसमें
सभी कृतियोंके नाम दृष्टिगोचर होते हैं, सिर्फ इस नन्दिटिप्पनकका नाम उसमें नहीं पाया जाता है । वह उल्लेख
इस प्रकार है—

जे तेण सयं रइया गंथा ते संपद् कहेमि ॥

सुत्तमुव्रएसमाला-भवभावणपगरणाण काळण । गंथसहस्सा चउदस तेरस वित्ती कया जेण ॥

अणुओगद्वाराणं जीवसमासस्स तह य सयगस्स । जेणं छ सत्त चउरो गंथसहस्सा कया वित्ती ॥

मूलावस्सयवित्तीए उवरि रइयं च टिप्पणं जेणं । पंचसहस्सपमाणं विसमट्टाणाववोहरं ॥

जेण विसेसावस्सयसुत्तस्सुवरिं सक्खिथरा वित्ती । रइया परिणुड्ढथा अडवीससहस्सपरिमाणा ॥

मुनिमुव्रतस्वामिचरित्रप्रशस्ति ।

इस उल्लेखमें श्री श्रीचन्द्रसूरिने अपने गुरुकी सब कृतियोंके नाम दिये हैं । सिर्फ नन्दिटिप्पनकका नाम इसमें नहीं
है, जिसका नामोल्लेख खुद मलधारी श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराजने विशेषावश्यकवृत्तिके प्रान्तभागमें किया है । यद्यपि मुनि-
मुव्रतस्वामिचरित्रके इस उल्लेखको प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे मीलाया गया है, तथापि सम्भव है कि प्राचीन कालसे ही
नन्दिटिप्पनकके नामको निर्देश करनेवाली गाथा छूट गई हो । अस्तु, कुछ भी हो, फिर भी जब विशेषावश्यकवृत्तिके
अंतमें खुद श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराज आप ही नन्दिटिप्पनकरचनाका निर्देश करते हैं तो यह निर्विवाद ही है कि आपने
नन्दिटिप्पनककी रचना अवश्यमेव की थी, जो आज नहीं पाई जाती है ।

नन्दीविपमपदटिप्पनक

इस ग्रन्थकमें पृ. १८२ से १८६में नन्दीसूत्रवृत्तिविपमपदटिप्पनक मुद्रित है । इस टिप्पनकको श्री चन्द्र-
कीर्त्तिसूरिकी कृति बतलाया है, किन्तु यह रचना वास्तवमें उनकी रचना नहीं है । इस टिप्पनकके मुद्रण समय खंभातकी
वि. सं. १२१२में लिखित ताडपत्रीय प्रतिको ध्यानमें रख कर, एवं पाटनके भंडारोंकी कुछ प्रतियों के अन्त भागमें निरया-
वलिकादिपंचोपाङ्गपर्याय और नन्दीवृत्तिविपमपदपर्यायको इसी टिप्पनकके साथ देख कर 'श्रीचन्द्रकीर्त्तिसूरिकृत'
ऐसा लिख तो दिया है, किन्तु खंभातके भंडारकी और जैसलमेरके भंडारकी प्राचीन ताडपत्रीय निःशेषसिद्धान्त-
पर्याय और सर्वसिद्धान्तविपमपदपर्याय की प्रतियोंको गौरसे देखी तब यह समझ भ्रान्त प्रतीत हुई है । खंभातके भंडा-
रकी प्रतियों और जैसलमेरभंडारकी प्रतियोंमें अलग अलग सिद्धान्तके पर्याय होनेसे दोनों प्रतियाँ जुदी जुदी है । अतः इतना
निश्चित होता है कि—खंभातकी निःशेषसिद्धान्तपर्याय की प्रति, जो जिस वर्षमें ग्रन्थरचना हुई उसी वर्षमें लिखी हुई है—
उसमें जितने सिद्धान्तके पर्याय हैं, उतनी ही श्रीचन्द्रकीर्त्तिसूरिकी रचना है । शेष सिद्धान्तपर्यायोंकी रचना किसी अन्य गीतार्थ
की रचना है, जिसका नाम ज्ञात नहीं है । खंभात भंडारकी प्रतियोंमें नन्दीविपमपदपर्याय नहीं है, तब जैसलमेर भंडारकी

प्रतिका प्रारम्भ नन्दीविषमपदपर्यायसे ही होता है। अतः यह निर्विवाद ही है कि इस मुद्रित नन्दीविषमपदटिप्पणककी रचना श्रीचन्द्रकीर्त्तिसूरीकी न हो कर किसी अन्य गीतार्थकी रचना है।

नन्दीविषमपदपर्याय प्रायशः नन्दीवृत्तिदुर्गपदव्याख्यासे उद्धृत होनेके कारण, अज्ञातकर्तृक अन्य सर्वसिद्धान्त-विषमपदपर्याय ग्रन्थ अगर एककर्तृक ही है तो, यह रचना निर्विवादरूपसे श्री श्रीचन्द्राचार्यके वाद की ही है।

यहाँ पर विद्वानोंकी जानकारीके लिये उपयुक्त समझ कर खंभातकी प्रतिका पूर्ण परिचय दिया जाता है—

क्रमाङ्क ८७ (१) निःशेषसिद्धान्तविचार (व्यवहार सप्तमोद्देशपर्यन्त) पत्र १२९वाँ + १ - २१०

(२) निःशेषसिद्धान्तविचार (व्यवहार अष्टमोद्देशसे आगे) पत्र १ - २०

अन्तिम प्रशस्ति—

शिष्याम्भोजदिवाकरस्य पुरतः श्रीधर्मग्रोपप्रभोः, सिद्धान्तं विमलाख्यसूरिगणभृच्छिष्येण संश्रूयता ।
स्मृत्यर्थं गणिचन्द्रकीर्त्तिश्रुतिनो केचिद् विचारा वराः, सन्त्येते परिपिण्डिताः परिलसत्सिद्धान्तरत्नाकरात् ॥

(३) प्रतिष्ठाविधि पत्र २१-२२

(४) प्रायश्चित्तविचार पत्र २३ वाँ

(५) निःशेषसिद्धान्तपर्याय पत्र २४-१११

दृढगालियोयपोत्ती सदसवथं ति भणियं होइ ५ । रालग कंगू ॥छा॥ संवत् १२१२ आषाढ वदि १२ गुरो लिखितेयं
सिद्धान्तोद्धारपुस्तिका लेखक देवप्रसादेनेति ॥छा॥ ग्रन्थाग्रम् १६७०॥ द्वितीयखण्डम् ॥छा॥

शिष्याम्भोजवनप्रबोधनरवेः श्रीधर्मग्रोपप्रभोः वक्त्राम्भोजविनिर्गताः कतिपयाः सिद्धान्तसत्का अमी ।

पर्याया गणिचन्द्रकीर्त्तिश्रुतिना सन्निवस्य सम्पिण्डिताः स्वस्य श्रीविमलाख्यसूरिगणभृच्छिष्येण चिन्ताकृते ॥छा॥

भारते श्रीमदखर्वपर्वततिभिः सर्वोदयः क्षमातले छायाछन्नदिगन्तरः परिलसत्पत्रावशीसङ्कुटः ।

सेवाकारिवृणां नवीनफलदोऽप्यश्रान्तसान्द्रद्युतिः निश्चिद्रः सरलवक्रौतुककरः प्राग्व्याटवंशः सताम् ॥

मौक्तिकहारसङ्काशः समासीन् तत्र धीद्विलः । श्रावको गुणसंयोगान्नगणां हृदये रिधतः ॥

समजनि धनदेवः श्रावकस्तस्य मनुः, प्रथितगुणसमुद्री मञ्जुवाणीविलामः ।

गगनवलयरद्वर्त्तकीर्त्तिचन्द्रोदयेऽस्मिन्, लगति न च कलङ्काः म्वज्जनं यस्य मत्काः ॥

तस्य च भार्या यशोमती, तयोश्च पुत्रो गुणरत्नैकगोहणाचलो धर्मचन्दनदृममलयः कौर्मिमुधाधवलिनसमस्तविश्वत्रयो
यशोदेवश्रेष्ठी । तस्य च—

आंवीति नाम्ना जनकसत्वाऽभूद्, भार्या यशोदेवगृहाधिपस्य । अरयाः सतीनां गुणवर्जनायामादैव रेखा क्रियते मुनीन्द्रैः ॥

तयोश्च पुत्रा उद्धरण-आम्बिग-वीरदेवाख्या बभूवुः । सोली-लोली-सोस्वीलानामश्च पुत्रिकाः मङ्गलिनः । अन्यदा च
सिद्धान्तलेखनबद्धादेशेण जिनशासनानुगजिनचित्तेन यशोदेवश्रावकेण सिद्धान्तविचार-पर्यायपुस्तिका लेखयामास ।

पूय श्री विमलाख्यसूरिगणभृच्छिष्यस्य चारित्रिणो योग्याऽनौ गणिचन्द्रकीर्त्तिविदुषो विद्वज्जाननन्दिनी ।

शारगार्थस्मृतिहेतवे परिलसत्ज्ञानप्रपा पुस्तिका भक्तिप्राप्तियन्त्रुषामक्यशोदेवेन निर्माणि ॥

यावत्तन्त्र-भवा नभरतलजुषी यावत् देवाचलो यावत् नरसमुद्रमुद्रितमङ्गी यावत्कर्ममण्डलम् ।

यावत् स्वर्गदिमानसवतिरिषे यावत् दिग्दन्तिननायव् पुस्तकमेतदस्तु मुदिनां व्याख्यावसानं मुडे ॥

॥ इति प्रशस्तिः समाप्ता ॥ इ ॥

(६) कतिचित् सिद्धान्त विचार तथा पर्याय पत्र ११

यहाँ पर खंभातके श्रीशान्तिनाथ ताडपत्रीय जैन ज्ञानभंडारकी क्रमांक ८७ पुस्तिकाका जो विवरण और प्रशस्तियाँ दी गई हैं इससे ज्ञात होता है कि— यह प्रति दो खंडमें विभक्त है। प्रथम खंडके प्रारंभके १२८ पत्र इस समय प्राप्त नहीं हैं, जिनमें संभव है कि— आचार्य श्री चन्द्रकीर्त्तिसूरि की ही कोई कृति होगी। १२९ वाँ + १-२२० + १-२० पत्रोंमें अंग-उपांग-छेद-आगमगत उपयुक्त विचारोंका संग्रह है, जो आचार्य श्री चन्द्रकीर्त्तिने अपने विद्यागुरु श्री धर्मघोषसूरिके पास जैन सिद्धान्तोंका श्रवण अध्ययन करते करते किया है, जिसका निर्देश आपने प्रशस्तिपद्यमें किया है। २१ से २३ पत्रोंमें प्रतिष्ठाविधि एवं प्रायश्चित्ताधिकारका संग्रह है।

पत्र २४ से १११ में निःशेषसिद्धान्तपर्याय हैं। जिनमें आचार्य श्रीचन्द्रकीर्त्तिने पञ्चवस्तुक, आचाराङ्ग, सूत्र-कृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवतीसूत्र, प्रश्नन्याकरण, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, निशोथचूर्णि, कल्प, व्यवहार, पञ्चकल्प, दशा, जीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, इन सोलह शास्त्रोंके पर्याय अर्थात् विषमपदके अर्थ दिये हैं।

पाटन, जैसलमेर आदिके ज्ञानभंडारकी प्रतियोंमें नन्दीसूत्रवृत्ति, आवश्यकवृत्ति, दशवैकालिकवृत्ति, ओषनिर्युक्ति, पिण्ड-निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्तिगाथा, उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति, आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवतीसूत्र, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, प्रज्ञापनाविवरण, जीतकल्प, इन सोलह शास्त्रोंके पर्याय हैं। यद्यपि इस सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय ग्रन्थमें आचाराङ्गादि शास्त्रोंके पर्याय अवश्यमेव शामिल हैं, तथापि दोनों पर्याय अलग अलग हैं। कितनेक शास्त्रों के पर्याय श्रीचन्द्रकीर्त्तिसूरिकी रचनामें विस्तृत हैं, तो कितनेक शास्त्रोंके पर्याय दूसरी रचनामें विस्तृत हैं। इसी तरह कितनेक शास्त्रोंके पर्याय परस्पर एक दूसरेमें नहीं भी हैं। यह दोनों विषमपदपर्यायकी दी हुई सूचीयोंको देखनेसे प्रतीत होगा। अतः दोनों विषमपदपर्यायकारोंका प्रयत्न अलग अलग है, ग्रन्थ भिन्न हैं, ग्रन्थकार भी भिन्न हैं। पाटनके भंडार आदिमें ऐसी प्रतियाँ भी नजर आती हैं, जिनमें दोनों विषमपदपर्याय ग्रन्थ साथमें लिखे हैं। किन्तु आचार्य चन्द्रकीर्त्तिसूरिकी ग्रन्थरचनाप्रशस्ति खंभातकी प्रतिके सिवा और कोई-प्रतिमें नजर नहीं आती है, जो अनेक दृष्टिसे महत्त्वकी है।

इस प्रशस्तिको देखनेसे पता चलता है कि— यह प्रति श्रावक यशोदेवने वि. सं. १२१२ आषाढमासमें खुद ग्रन्थकार श्रीचन्द्रकीर्त्तिसूरिके लिये लिखवाई है। साथमें इस प्रशस्तिको देखते हुए ग्रन्थरचनाका समय भी वि. सं. १२१२ संभावित किया जा सकता है। यह पुस्तिका खुद ग्रन्थकारके लिये लिखवाई होनेके कारण इस प्रतिको प्रथम प्रति कह सकते हैं, इस दृष्टिसे इस प्रतिका और भी महत्त्व बढ़ जाता है। इन आचार्यकी अन्य कोई कृति अभी तक देखनेमें नहीं आई है।

इस पुस्तिकाके साथ कतिचित्सिद्धान्तविचार तथा पर्यायके जो ग्यारह पत्र जुड़े हुए हैं, इनका इस ग्रन्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये विप्रकीर्ण पत्र हैं।

यहाँ पर गीतार्थ मुनिगण एवं विद्वद्गणसे निवेदन है कि इस ग्रन्थमें मेरे अनवधानसे नन्दीवृत्तिदुर्गपदव्याख्याके शीर्षकोमें श्री श्रीचन्द्राचार्यनामके साथ जो मलधारि विशेषण छपा है उन सभी स्थानोंमें चन्द्रकुलीन ऐसा सुधार लिया जाय। और नन्दीवृत्तिसंक्षिप्तटिप्पणके साथ 'श्री चन्द्रकीर्त्तिसूरिप्रणीत' छपा है उसको मिटा दिया जाय।

यहाँ पर ग्रन्थकारोंके विषयमें जो वक्तव्य था, वह समाप्त हो जाता है।

संशोधन और सम्पादन

प्रस्तुत नन्दिसूत्र, हरिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या और विषमपदटिप्पणके संशोधन एवं सम्पादनके लिये मात्र उनकी प्रतियोंका ही आधार लिया गया है, ऐसा नहीं है किन्तु मूलसूत्र, और हरिभद्रीवृत्ति के उद्धरण जो मलधारी आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरि, आचार्य श्रीमण्डयगिरि आदिने अपने अपने ग्रन्थोंमें दिये हैं, उनका भी इस संशोधनमें उपयोग किया गया है।

हारिभद्रावृत्ति के संशोधनमें इसकी प्रतियोंके अतिरिक्त इसकी श्रीचन्द्रीयदुर्गपदव्याख्याको भी लक्ष्यमें रक्खी है, इतना ही नहीं किन्तु आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिजीने अपनी वृत्तिमें जो जो उद्धरण दिये हैं, उन सबको, हो सका वहाँ तक,—मूल स्थानों के साथ तुलना कर, प्राचीन कालसे चली आती अशुद्धियोंका परिमार्जन करनेका प्रयत्न किया है। दुर्गपदव्याख्याका परिमार्जन प्रतियोंके अलावा विशेषावश्यककी मलधारी वृत्तिके आधारसे किया गया है। आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने विशेषावश्यक-महाभाष्य आदिके जो उद्धरण दिये हैं, उनके पाठोंकी ओर दुर्गपदव्याख्याकारने कोई खास ध्यान दिया प्रतीत नहीं होता है। यही कारण है कि आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके उद्धरण और दुर्गपदव्याख्याकारने दी हुई गाथाओंमें पाठभेद पाये जाते हैं। दुर्गपदव्याख्याकारने हारिभद्रावृत्तिमें उद्धृत विशेषावश्यकमहाभाष्यकी गाथाओंके उपर कोई स्वतंत्र व्याख्या नहीं की है, किन्तु उन गाथाओंकी मलधारी आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिने जो व्याख्या की है उसीका अक्षरशः उतारा ही कर लिया है। अतः ऐसे पाठोंको तत्तत् स्थानके पाठोंके साथ मिलाया गया है।

नन्दिमूलसूत्र के उपर आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने जिस पाठको लक्ष्यमें रख कर व्याख्या की है, वही सूत्रपाठ मैने वृत्तिके आधारसे मूलमें दिया है। ऐसे स्थानोंमें आचार्य श्रीहरिभद्रको इष्ट सूत्रपाठ प्रतियोंमें कहीं पाया गया है और कहीं नहीं भी पाया गया है। फिर भी आचार्यकी व्याख्याकी संगतिको लक्ष्यमें रख कर यह परिवर्तन मैने उचित माना है। आज अपने सामने नन्दिमूलसूत्रकी जो प्राचीन—अर्वाचीन प्रतियाँ विद्यमान हैं, उनमेंसे एक भी प्रति ऐसी नहीं है जो श्रीचूर्णिकार, श्रीहरिभद्रसूरि या श्रीमलयगिरिकी व्याख्याके साथ पूर्णतया सहमत हो। इस दशामें तत्तद् वृत्तिके साथ तत्तद् सूत्रपाठोंका स्थापन या परावर्तन करना असंगत नहीं है। फिर भी मैने नन्दिमूलसूत्रकी प्रतियोंमें पाये गये महत्त्वके कोई भी पाठभेद की उपेक्षा नहीं की है, इतना ही नहीं ग्रन्थान्तरोंमें नन्दिमूलसूत्रके उद्धृत उद्धरणोंसे उपलब्ध पाठभेद भी मैने दिये हैं। साथमें चूर्णिकार, हरिभद्रसूरि और श्रीमलयगिरि, ये तीन व्याख्याकार महर्षियोंमेंसे, किसकी कौनसा या कैसा सूत्रपाठ अभिमत हैं ?—इसका भी सर्वत्र विवेक किया गया है। इन पाठभेदोंके जिज्ञानुओंसे विज्ञप्ति है कि— इस संस्थाकी ओरसे प्रकाशित चूर्णिसहित नन्दिमूलसूत्रकी पादटिप्पणीओंकी ध्यानसे देखें।

परिशिष्ट

इस ग्रन्थके साथ पांच परिशिष्ट एवं शुद्धिपत्र दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्टमें मूलनन्दोमूलकी गाथाओंका क्रम दिया है। दूसरे परिशिष्टमें नन्दिहारिभद्रावृत्ति, दुर्गपदव्याख्या और अनुज्ञानन्दी या लघुनन्दीकी वृत्तिमें दिये उद्धरणोंका क्रम दिया है। तीसरे परिशिष्टमें नन्दिमूल, हारिभद्रावृत्ति, दुर्गपदव्याख्या, विषयपदटिप्पणक, अनुज्ञानन्दी और योगनन्दोंमें स्थित विशेषनामोंका क्रम दिया है। चतुर्थ परिशिष्टमें नन्दिहारिभद्रावृत्तिगत पाठान्तर-मनान्तर-व्याख्यानान्तरेके स्थान दिये हैं। पांचवें परिशिष्टमें नन्दिमूल और व्याख्याओंमें स्थित व्याख्यात, अव्याख्यात एवं विषययोनक शब्दोंका अनुक्रम दिया है। और अन्तमें मुनिवर श्रीजम्बूविजयजी, भाई श्रीदत्तमुखर्भाई मालवगिया और पंडित श्रीचन्द्रराम दोमन नेयार किया शुद्धिपत्रक है। विद्वानोंसे प्रार्थना है कि— इस ग्रन्थके पढ़नेके पूर्व शुद्धिपत्रकका उपयोग करें।

उपसंहार

प्रस्तावनाके प्रारम्भमें उल्लिखित प्रतियोंके आधारसे प्रस्तुत ग्रन्थका संशोधन किया गया है। इस सुट्टके प्रकाशकी निरीक्षण एवं परिशिष्ट भी पं. भाई अमृतलाल मोहनलाल भोजक ने किया है। भाई श्रीदत्तमुखर्भाई मालवगिया जीका सहाय्य भी आदिसे अन्त तकमें रहा है। इतना होते हुए भी अगर इस संशोधनमें कोई क्षति प्रतीत हो तो विद्वानोंसे प्रार्थना है कि— ऐसी क्षतियोंकी सूचना देनेकी कृपा करें। जिनका उपयोग कथावस्तु अद्वय ही किया जायगा।

सं. २०२२ माघ शुक्ल पूर्णिमा
अहमदाबाद

श्रीनि शुभदित्य

हारिभद्रि वृत्ति सहित नन्दीसूत्रका विषयानुक्रम ।

सूत्र	विषय	पत्र	सूत्र	विषय	पत्र
	वृत्तिकारका मंगल और उपक्रम नन्दिशब्दकी व्युत्पत्ति, अर्थ और निक्षेप	१		कुट्ट, चालनी, परिपूर्ण, षग आदिके साक्षयिक उदाहरण और ज्ञापपत्, अज्ञापपत् एवं दुर्विदग्भपपत्का निरूपण	
१	गाथा १-३ मंगलसूत्र गाथा १ सामान्यतः जिनस्तुति गा. २-३ महावीर परमात्माकी स्तुति	१-२ २-५	८	ज्ञानसूत्र मत्यादि पांच ज्ञानके नाम, उनकी व्युत्पत्ति और क्रमसाफल्य आदिका निरूपण	१७-२०
२	गाथा ४-१७ संघस्तुतिसूत्र रथ, चक्र, नगर, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र और मंदरगिरिके रूपकों द्वारा श्रीसङ्घकी स्तुति	५-९	९	मत्यादिज्ञानोका प्रत्यक्ष परोक्ष रूपमें विभाजन	२०
३	गाथा १८-१९ तीर्थकरावलीसूत्र चोवीस तीर्थकरोंकी स्तुति	१०	१०	प्रत्यक्षज्ञानके इन्द्रियप्रत्यक्ष नोइन्द्रिय- प्रत्यक्ष दो भेद	२०
४	गाथा २०-२१ गणधरावलीसूत्र भगवान् श्रीमहावीरके ग्यारह गणधरोंकी स्तुति	१०	११	इन्द्रियप्रत्यक्षके पांच भेद	२०-२१
५	गाथा २२ वीरशासनस्तुतिसूत्र भगवान् महावीरके शासनको-प्रवचनकी स्तुति	१०	१२	नोइन्द्रियप्रत्यक्षके तीन भेद	२१
६	गाथा २३-४३ स्थविरावलीसूत्र श्रुतस्थविरोकी स्तुति-गा. २३ सुधर्मा, जम्बूस्वामी, प्रभवस्वामी, शश्वम्भव- स्वामी; गा. २४ यशोगद, सम्भूतार्थ, भद्रबाहु, स्थूलभद्र; गा. २५ महागिरि, सुहस्ती, बहुल, वलिस्सह; गा. २६ स्नाति, श्यामार्य, शाण्डिल्य, जीवधर; गा. २७ आर्यसमुद्र; गा. २८ आर्य- पहु; गा. २९ आर्यनन्दिल; गा. ३० आर्यनागहस्ती वाचक; गा. ३१ रेवति- मित्र वाचक; गा. ३२ सिंह वाचक; गा. ३३ स्कन्दिलाचार्य; गा. ३४ हिमवन्त; गा. ३५-३६ नागाजुनवाचक; गा. ३७-३९ भूतदिक्षाचार्य; गा. ४० लौहिम्भ; गा. ४१-४२ दुष्यगणी; गा. ४३ सामान्यरूपमें सर्वस्थविरोकी स्तुति	१०-१५	१३	अवधिज्ञानके दो भेद— क्षायोपशमिक और मवप्रत्ययिक	२१-२२
७	गाथा ४४ परपत्सूत्र श्रुतज्ञानके-साक्षके अधिकारि-अनधि- कारी सिद्धोंकी परीक्षाके लिये सेलपन,	१५-१७	१४	क्षायोपशमिक तथा गुणप्रत्ययिक अवधि- ज्ञानका स्वरूप	२२
			१५	अवधिज्ञानके आनुगामिकादि छ भेद	२२-२३
			१६-२२	१, आनुगामिक अवधिज्ञानका स्वरूप, उनके अन्तगत और मध्यगत भेद तथा पुरतोअन्तगत, मार्गतोअन्तगत, पार्श्वतो- अन्तगतादि प्रभेदोंका स्वरूप, उनके प्रतिविशेषका-स्वरूपभेदका निरूपण	२३-२४
			२३	२ अनानुगामिक अवधिज्ञान	२४-२५
			२४	३. वर्धमानक अवधिज्ञान गा. ४५-४६ अवधिज्ञानका जघन्य और उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र. गा. ४७-५० द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे अवधि- ज्ञानके विषयभूत द्रव्यादिकी वृद्धिका स्वरूप. गा. ५१-५२ द्रव्य-क्षेत्र-काल- भावकी पारस्परिक वृद्धिका स्वरूप आदि	२५-२८
			२५	४. हीयमानक अवधिज्ञान	२९
			२६	५. प्रतिपाति अवधिज्ञान	२९
			२७	६. अप्रतिपाति अवधिज्ञान	२९-३०
			२८	द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अवधिज्ञानका स्वरूप	३०
			२९	गा. ५३-५४ अवधिज्ञानके अभ्यन्तरा- वधि और वाह्यावधि भेद और अवधि- ज्ञानका उपसंहार	३०-३१

सूत्र	विषय	पत्र	सूत्र	विषय	पत्र
३०	मनःपर्यवज्ञानका अधिकारी	३१-३४		कर्मजा बुद्धिका स्वरूप और उदाहरण;	
३१	मनःपर्यवज्ञानके ऋजुमति विपुलमति दो भेद	३४		६८-७१ पारिणामिकी बुद्धिका स्वरूप और उदाहरण	
३२	द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आध्री मनःपर्यवज्ञानका स्वरूप	३४-३६	४८	श्रुतनिश्चित मतिज्ञानके अवग्रह ईहा आदि चार भेद	४९
३३	गा. ५५ मनःपर्यवज्ञानका स्वरूप और उपसंहार	३६-३७	४९	अवग्रहके अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रह दो भेद	४९
३४	केवलज्ञानके भवस्थकेवलज्ञान और सिद्ध-केवलज्ञान दो भेद	३७	५०	व्यञ्जनावग्रहके भेद और स्वरूप	४९-५०
३५-३७	भवस्थकेवलज्ञानके सयोगिभवस्थकेवल-ज्ञान और अयोगिभवस्थकेवलज्ञान दो भेद ओर उचका स्वरूप	३७-३८	५१	अर्थावग्रहके भेद, स्वरूप और एकार्थिक	५०
३८-४०	सिद्धकेवलज्ञानके अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान और परम्परसिद्धकेवलज्ञान दो भेद और उचका स्वरूप	३८-४०	५२	ईहाके भेद, स्वरूप और एकार्थिक	५०-५१
४१	द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आध्री केवलज्ञानका स्वरूप	४०	५३	अपायके भेद, स्वरूप और एकार्थिक	५१
	वृत्तिमें—केवलज्ञान-केवलदर्शनविषयक युगपदुपयोग-एकोपयोग-क्रमोपयोगमान्यताओंकी चर्चा	४०-४३	५४	धारणाके भेद, स्वरूप और एकार्थिक	५१-५२
४२	गा. ५६-५७ केवलज्ञानका स्वरूप और उपसंहार	४३-४४	५५	अवग्रह आदिका कालप्रमाण	५२
४३	परोक्षज्ञानके आभिनिबोधिक और श्रुतज्ञान दो भेद	४४	५६	अवग्रह आदि भेदोंसे २८ प्रकारके मतिज्ञानका स्वरूप कथन करनेके लिये प्रतिबोधक और मद्दकके दृष्टान्त	५२
४४	आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञानकी सदैव सद्यभाविता	४४-४५	५७	प्रतिबोधक दृष्टान्त द्वारा व्यञ्जनावग्रहके स्वरूपका निरूपण	५२-५३
	वृत्तिमें—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका पृथक्करण—विवेक	४५-४५	५८	मद्दक दृष्टान्त द्वारा अवग्रह-ईहा-अपाय-धारणाके स्वरूपका निरूपण	५३-५५
४५	मतिज्ञान और मतिअज्ञान तथा श्रुतज्ञान और श्रुतअज्ञानका या सम्यग्मतिज्ञान और मिथ्यामतिज्ञानका एवं सम्यक्श्रुतज्ञान और मिथ्याश्रुतज्ञानका विवेक	४५-४५	५९	द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आध्री आभिनिबोधिक ज्ञानका स्वरूप	५५-५६
४६	आभिनिबोधिकज्ञानके श्रुतनिश्चित अश्रुतनिश्चित दो भेद	४६	६०	गा. ७२-७७ आभिनिबोधिक ज्ञानके भेद अर्थ, कालप्रमाण शब्दश्रवणका स्वप्न, एकार्थिक नाम-शब्द और उपसंहार	५६-५८
४७	अश्रुतनिश्चित आभिनिबोधिकज्ञानके भेद, स्वरूप और उदाहरण	४६-४९	६१	श्रुतज्ञानके चोदह भेद	५८-५९
	गा. ५८ अश्रुतनिश्चित मतिज्ञानके औत्सार्थकी बुद्धि आदि चार भेद; गा. ५९-६९ औत्सार्थकी बुद्धिवत् स्वरूप और उदाहरण; गा. ६३-६५ ऐकविकी बुद्धिका स्वरूप और उदाहरण; ६६-६७		६१-६५	१ अक्षरश्रवणे सेवग्रह, उपलनाशर और लक्षणशर दोन भेद और इनका उदाहरण	५९-६०
			६६	गा. ७८ २ अक्षरश्रुतज्ञान स्वरूप	६०
			६७-७०	३ सेविश्रुते कश्चित्पुरुदेस, हेतुदेस और हतिसादेतदेस तीन प्रकार, स्वरूप और उदाहरण	६०-६२
			७१	५ सम्बन्धश्रुत-उदाहरणके नाम	६२-६४
			७२	६ मिथ्याश्रुत-उदाहरण, उदाहरण, इती, कान्तरुज्ज आदि प्रकारके उदाहरण	
			७	नाम और सम्बन्धश्रुत-उदाहरणके लक्षणके विवेक	६४-६५
			७३-७५	७-८ मति-उदाहरण श्रुतज्ञान, ९-१० स्वरूपके उदाहरणके श्रुतज्ञान और उदाहरण	
				उदाहरण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आध्री स्वरूप	६५-६७

सूत्र	विषय	पत्र	सूत्र	विषय	पत्र
७६-७७	पर्यवसायप्रकारका निरूपण और अतिगाढ ज्ञानावरणीयकर्मावृत्त दशमो भी जीवको अक्षरके अनन्तवे भाग जितने ज्ञानका शाश्वतिक सद्भाव	६७-६९	११४	दृष्टिवादका परिमाण और विषय	९२-९३
७८	११-१२ गमिक अगमिक श्रुतज्ञान	६९	११५	द्वादशांशिका विषय	९३
७९	१३-१४ अज्ञप्रविष्ट और अज्ञवाह्य श्रुतज्ञान	७०	११६-१७	द्वादशांशिके विराधकोको हानि और आराधकोको लाभ	९३-९४
८०	अज्ञवाह्य श्रुतज्ञानके दो भेद	७०	११८	द्वादशांशिकी शाश्वतिकता	९४-९५
८१	आवश्यक श्रुत	७०	११९	द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आश्री श्रुतज्ञानका स्वरूप	९५
८२	आवश्यकव्यतिरिक्तश्रुतके कालिक उत्कालिक दो प्रकार	७०	१२०	गा. ८३ श्रुतज्ञानके चौदह भेद, गा. ८४ श्रुतज्ञानका लाभ, गा. ८५ बुद्धिके आठ गुण, गा. ८६ सूत्रार्थप्रवणविधि, गा. ८७ सूत्रव्याख्यानविधि और नन्दी-सूत्रकी समाप्ति	९५-९७
८३	उत्कालिकश्रुतके २९ नाम वृत्तिमें-२९ उत्कालिकसूत्रके नामोंका व्युत्पत्त्यर्थविवरण	७०-७२		चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीश्रीचन्द्र-सुरिप्रणीत नन्दीसूत्रहारिभद्री-वृत्तिकी दुर्गपदव्याख्या	९९-१६९
८४	कालिकश्रुतके ३१ नाम वृत्तिमें-कालिकसूत्रके ३१ नामोंका व्युत्पत्त्यर्थविवरण	७२-७३		चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीश्रीचन्द्र-सुरिचरितटीकासहित लघु-नन्दी-अनुकानन्दी	१७०-१७८
८५	आवश्यकव्यतिरिक्त श्रुतज्ञानका उपसंहार	७३-७४		जोगणंदी	१७९-१८१
८६	अज्ञप्रविष्ट श्रुतज्ञानके १२ नाम	७४		नन्दीसूत्रहारिभद्रीवृत्तिके विषय-पदपर्याय-विषयपदटिप्पणक	१८२-१८६
८७	१ आचारान्नसूत्रका स्वरूप	७४-७७		१. प्रथम परिशिष्ट	१८७-१८८
८८	२ सूत्रकृतान्नसूत्रका स्वरूप	७७-७९		नन्दीसूत्रान्तर्गत सूत्रगाथाओंकी अकारा-दिक्रमसे अनुक्रमणिका	
८९	३ स्थानान्नसूत्रका स्वरूप	७९		२. द्वितीय परिशिष्ट	१८९-१९४
९०	४ समवायान्नसूत्रका स्वरूप	७९-८०		नन्दीहारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या और लघुनन्द्यन्तर्गत उद्धरणोंकी अकारादि-क्रमसे अनुक्रमणिका	
९१	५ व्याख्या[प्रज्ञप्ति]सूत्रका स्वरूप	८०		३. तृतीय परिशिष्ट	१९५-२०३
९२	६ ज्ञाताधर्मकथासूत्रका स्वरूप	८०-८२		नन्दीसूत्रमूल, हारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपद-व्याख्या, लघुनन्दीमूल और उसकी वृत्ति, नन्दीहारिभद्रीवृत्तिविषयपदपर्यायके अन्तर्गत विशेषनामोंकी अनुक्रमणिका	
९३	७ उपासकदशासूत्रका स्वरूप	८२		४ चतुर्थ परिशिष्ट	२०३
९४	८ अन्तकृद्दशासूत्रका स्वरूप	८२-८३		नन्दीसूत्रवृत्ति आदिमें स्थित पाठान्तर, मतान्तर और व्याख्यानान्तरके स्थान	
९५	९ अनुत्तरोपपातिकदशासूत्रका स्वरूप	८३-८४		५. पञ्चम परिशिष्ट	२०४-२१६
९६	१० पञ्चव्याकरणदशासूत्रका स्वरूप	८४		नन्दीसूत्र, हारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या आदिमें स्थित शब्दोंका अनुक्रम	
९७	११ विपाकदशासूत्रके दुःखविपाक सुख-विपाक दो प्रकार और उनका स्वरूप	८४-८५		शुद्धिपत्र	२१७-२१८
९८	१२ दृष्टिवादसंगके पांच भेद	८५			
९९-१००	१ परिकर्मदृष्टिवादके सात प्रकार और भेद	८५-८७			
१००	२ सूत्रदृष्टिवादके २२ प्रकार	८७			
१०१	३ पूर्वगतदृष्टिवाद-चौदह पूर्व	८८-८९			
११०-१२	४ अनुयोगदृष्टिवादके मूलप्रथमानुयोग और गंडिका-नुयोग दो भेद और इनका स्वरूप	८९-९२			
११३	वृत्तिमें-निर्दोषदृष्टिवाद	९२			

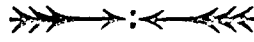
॥ णमो त्थु णं समणस्स भगवओ मङ्ग-महावीर-वद्धमाणसामिस्स ॥

णमो अणुओगधराणं थेराणं ।

श्रीदेववाचकविरचितं

नन्दिसूत्रम् ।

याकिनीमहत्तराधर्मसूनुना आचार्यश्रीहरिभद्रसूरिणा
सूत्रितया वृत्त्या समलङ्कृतम् ।



॥ श्रीसर्वज्ञाय नमः ॥

जयति श्रुवनैकमानुः सर्वत्राविहितकेवलालोकः ।

नित्योदितः स्थिरस्तापवर्जितो वर्द्धमानजिनः ॥ १ ॥

इह सर्वेणैव संसारिणा सत्त्वेन नारक-तिर्यङ्-नरा-ऽमरगतिनिवन्धनानेकशारीर-मानसातितीव्रतरदुःखौघसङ्घात-
पीडितेन जाति-जरा-भरण-शोक-रोगाद्युपद्रवत्रातरद्वित-निरतिशयालोकमुखास्वभावापवर्गगतिसम्भवे सति पीडानिर्वे- 5
दात् तत्परित्यागाय, निरतिशयालोकमुखामिच्छापात्र तद्व्याप्तये, आत्म-परतुल्यचित्तेन सर्वथा स्व-परोपकाराय प्रव-
र्त्तितव्यमिति । तत्रान्यपरिरक्षणदिना परोपकारपूर्वक एवाऽऽत्मोपकार इति विशेषतस्तेत्र । स पुनः परोपकारो
द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो भोजनादिविचित्रविभवप्रदानजनितः, अयं चानेकान्तिकोऽनात्यन्तिकश्च ।
भावतन्तु सद्र्मप्रदानजनितः, अयं चैकान्तिकस्तथाऽऽत्यन्तिकश्च । सद्र्मश्च श्रुतधर्म-चारित्रधर्मभेदाद् द्विभेदः ।
तत्र श्रुतधर्मो जिनवचनस्वाध्यायः, चारित्रधर्मस्तु तदुक्तः श्रमणधर्म इति । उक्तं च— 10

श्रुतधम्मो सज्झओ चरित्तधम्मो समणधम्मो । [.]

तत्र श्रुतधर्मसम्पत्समन्विता एव प्रायश्चारित्रधर्मप्रवृत्त-परिपालनसमर्था भवन्तीति तत्प्रदानमेवाऽऽदौ न्याय-
मिति । तत्रापि श्रुतप्रदाने सत्यपि नाविज्ञानार्थादेव तस्मादभिव्यक्तितार्थाच्चाभिः प्राणिनाभिनयनः प्रारभ्यतेऽर्द्ध-
चनानुयोगः । अयं च परमपदप्राप्तिहेतुस्वाच्छ्रेयोभूतो दर्शने । श्रेयांसि बहुविधानि भवन्ति । यथोक्तम्—

श्रेयांसि बहुविधानि भवन्ति मरतामपि । अश्रेयांसि प्रवृत्तानां ह्यपि यानि विनायकाः ॥ १ ॥ 15

[.] इति ।

अतोऽन्य प्रारम्भ एव विघ्नदिनायकोपशान्तये मङ्गलाधिकारे नन्दिरित्ययः ।

अथ नन्दिरिति कः शब्दार्थः ? उच्यते—“हृणादि सङ्ख्ये” [पा. पा. पा. ६. ७] इत्यस्य धातोः “ इदितो ऋम्
धातोः ” [पा. ७. १. ५८] इति ऋमि विहितेऽनुबन्धलोपे च कृते औपादिकः इत् प्रत्ययो विधीयते, “ सर्वत्रान्य
इत् ” [पा. ३. ५६. ७] इति वचनात्, अनुबन्धलोपे च कृते सति नन्दिः सो कर्त्तुं विमर्शनीयश्चेति नन्दिः । नन्दर्मे 20
नन्दिः । नन्दन्त्यनेनेति वा नन्दन्त्यस्मिन्निति वा नन्दन्तीति वा तदभेदोच्चारणाद् नन्दिः हर्षः प्रसोद इत्यनयो-
न्तरम्, “ ताभ्यामन्यत्रोणादयः ” [पा. ३. ४. ७५] इति वचनात् ताभ्यामिति सम्प्रदाना-प्रसादानान्यासस्य
उणादयः प्रत्यया भवन्ति । अथे तु “ कर्त्तुं ” इत्यभिदधति, तत्रापि नन्दिरिति मित्ये “ इत् कृष्णादिभ्यः ” [पा.
पा. ३. ३. १०८] इति इत् प्रत्ययः, स च “ कृन्त्युटो बहुलम् ” [पा. ३. ३. ११३] इति वचनात् भावे धातो

१. एतद् इति परोपकारे, वी. कर्त्तुं इति रूपः ॥ २. इत्ये इति नन्दर्मे इति वचनात् ।

वाऽवगन्तव्य इति, ततः “कृदिकारादक्तिनः” [पा. वार्त्तिकम् ४. १. ४५] “सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके” [पा. वा. ४. १. ४५] इति स्त्रीप्रत्ययः; अस्य भावार्थः—कृदिकारान्तो यः शब्दः क्तिन्वर्जितस्तस्मात् स्त्रीप्रत्ययो भवति, अपरे तु सर्वतः अक्तिन्नर्थादिकारान्तात् स्त्रीप्रत्ययो भवतीति मन्यन्ते; अनुबन्धलोपे च कृते “यस्य” [पा. ६. ४. १४८] इतीकारलोपे च नन्दी इति रूपं भवति । नन्दनं नन्दी । नन्दन्त्यनयेति वा भव्याः प्राणिन इति
5 नन्दी इत्यलमप्रस्तुतातिप्रसङ्गेनेति ।

अयं च नन्दिश्चतुर्विधः, तद्यथा—नामनन्दिः १ स्थापनानन्दिः २ द्रव्यनन्दिः ३ भावनन्दि ४ श्रेति । तत्र नाम-स्थापने प्रकटार्थे । द्रव्यनन्दिर्द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो नन्दिपदार्थज्ञः तत्र चाऽनुपयुक्तः, “अनुपयोगो द्रव्यम्” [अनुयोग. सू. १३] इति वचनात् । नोआगमतस्तु ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तश्च द्रव्यनन्दिः । तत्र ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः नन्दिपदार्थज्ञस्य शरीरं जीवविप्रमुक्तम्, अनु-
10 भूतनन्दिभावत्वात्, पश्चात्कृतभावस्य द्रव्यत्वात् । यथोक्तम्—

भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यलोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतना-ऽचेतनं कथितम् ॥ १ ॥
[]

भव्यशरीरद्रव्यनन्दिश्च नन्दिपदार्थपरिज्ञानभावयोग्यं वालादिशरीरम्, पुरस्कृतभावत्वादस्य । व्यतिरिक्तश्च पुनः क्रियाविष्टो द्वादशविधस्तूर्याङ्गसङ्घातः । अयं तद्यथा—

15 भंभा १ मउदं २ मदल ३ कडंब ४ झल्लरि ५ हुडुक ६ कंसाला ७ ।

काहल ८ तलिमा ९ वंसो १० संखो ११ पणवो १२ य वारसमो ॥ १ ॥ []

भावनन्दिपरि द्विविधैव—आगमतो नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो भावनन्दिः नन्दिपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, उपयोगो भाव इति कृत्वा । नोआगमतस्तु भावनन्दिः पञ्चप्रकारज्ञानसमुदायः, नोशब्दो देशवचनः । अथवा पञ्चप्रकारज्ञानस्वरूपप्रतिपादकोऽध्ययनविशेषः, नोशब्दो देशवचन एव, अयं चाध्ययनविशेषः श्रुतांशेन सर्वश्रुता-
20 भ्यन्तरभूतो वर्त्तते । अत एव सर्वश्रुतारम्भेऽप्येव विन्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमभिधीयत इति ।

अस्य च मङ्गलस्थानावसरप्राप्तस्य सत आचार्यां विनेयानां सूत्रा-ऽर्थगौरवोत्पादनार्थमविच्छेदेन सन्तानागत-सूत्रा-ऽर्थपददर्शनार्थं चाऽऽदावेवाऽऽवलिकामभिधाय व्याख्यानाय यतन्ते । सर्वे श्रुतार्थाश्च यतस्तीर्थकरप्रभवा अतः प्रज्ञापक-श्रावक-पाठकाः अभिलषितार्थसिद्धये प्रवर्त्तमानाः प्रधानोपायत्वाद् भगवत एव नमस्कारपूर्वकं प्रवर्त्तन्त इत्यत आह ग्रन्थकारः—

25

[सुत्तं १]

जयइ जगजीवजोणीवियाणओ जगगुरू जगाणंदो ।

जगणाहो जगवंधू जयइ जगपियामहो भयवं ॥ १ ॥

१. जयन्ति० गाथा । व्याख्या—इन्द्रिय-विषय-कषाय-वातिकर्म-भवोपप्रादिकर्मशत्रुगणजयाजयतीत्युच्यते । किंविशिष्टो जयति ? ‘जगजीवयोनिविज्ञायकः’ इह जगच्छब्देन सकलधर्मा-ऽधर्मा-ऽऽकाश-पुद्गलास्तिकायपरिग्रहः;
3) जीवन्वदेन तु सकलजीवास्तिकायपरिग्रहः । उक्तं च—

जगन्नि नद्भमान्याहृर्जागद् ज्ञेयं चराचरम् । []

योनयः सच्चिदाद्याः । उक्तं च—“सच्चित्त-शीत-संश्रुतेतर-मिश्रास्तद्योनयः” [तद्धा. २. ३३] जीवोत्पत्ति-स्थानानीत्यर्थः । “यु मिश्रेणे” [पा. धा. पा. १०३३] युञ्जन्ति-तैजस-कार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकादि-शरीरेण मिश्रीभवन्त्यस्यामिति योनिः । उक्तं च—

जोएण कम्मएणं आहारेई अणंतरं जीवो । तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निष्फत्ती ॥ १ ॥

[सूत्रक. नि. गा. १७७]

ततश्च जगच्च जीवाश्च योनयश्च जगज्जीव-योनयः, त्रिविधम्—अनेकधा उत्पादाद्यनन्तधर्मात्मकं जानातीति विज्ञायकः, जगज्जीव-योनीनां विज्ञायको जगज्जीव-योनिविज्ञायक इति समासः, अनेन केवलज्ञानप्रतिपादनात् स्वार्थसम्पदमाह । तथा जगद् गृणातीति जगद्गुरुः, यथोपलब्धजगद्वक्तेति भावना, अनेनापि स्वार्थसम्पदमेवाह । तथा ‘जगदानन्दः’ इह जगच्छब्देन संज्ञिपञ्चेन्द्रियपरिग्रहः, तेषां सद्भ्रमदेशनाद्वारेणाऽऽनन्दहेतुत्वाद्वैहिका-ऽऽमुष्मिक-प्रमोदकारणत्वाज्जगदानन्द इति, अनेन परार्थसम्पदमाह । तथा ‘जगन्नाथः’ इह जगच्छब्देन सकलचराचरपरिग्रहः, तस्य यथावस्थितस्वरूपप्ररूपणद्वारेण वितथप्ररूपणापायेभ्यः पालनाद् नाथवद् नाथ इति, अनेनापि परार्थसम्पदमिति । तथा ‘जगद्गन्धुः’ इह जगच्छब्देन सकलप्राणिपरिग्रहः, तदव्यापादनोपदेशप्रणयनेन सुखस्थापकत्वाद् वन्धुवद् वन्धुः । तथा चोक्तम्—“सर्वे पाणा सर्वे भूया सर्वे जीवा सर्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा [ण परि-वेत्तव्वा] ण परितावेयव्वा ण उव्ववेयव्वा, एस धम्मो धुवे णितिए सासते, समेच्च लोयं खेदण्णेहिं पवेदिते” [आत्ता. ध्रु. १ अ. ४ उ. १ सू. १-२] इत्यादि, अनेनापि परार्थसम्पदमिति । तथा ‘जयति जगत्पितामहः’ इति, इह जगच्छब्देन सकलसत्त्वपरिग्रह एव, तेषां च कुगतिगमनभयापायरक्षणान् पिना धर्मो वर्तते, तथोक्तम्—

दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् यस्माद् धारयते ततः । धने चैतान् शुभे स्थाने तस्माद् धर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥

[]

तस्यापि चार्थप्रणेतृत्वेन भगवान् पिता वर्तते, अतो जगन्पितामह इति । नन्वाथिशासक पुनः क्रियाभिधानमदुष्टम् । उक्तं च—

सज्झाय-ज्ञाण-तव-ओसहेसु उवएस-धुइ-पयाणेसु । संतगुणचिन्तेसु च न टंति पृणन्तदीमा उ ॥ १ ॥

[आत्ता. नि. गा. १५०४ पत्र ७८२-१]

अनेनापि परार्थसम्पदमाह । ‘भगवान्’ इति भगः—समग्रैश्वर्यादित्यर्थः । तथा चोक्तम्—

पैश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य सत्तां भग इतीदृशा ॥ १ ॥

[विशुद्धि. ६. ५. ७४]

भगोऽग्न्यास्ताति भगवानिति । अनेन चोभयसम्पदमाह. स्व-परोपकारिन्नादैश्वर्यादेगित्यर्थे समंतेति गारायः ॥ १ ॥

व्याख्यानयन्ति केचित् स्तुतिमेनामन्वधाऽपि चिह्नोः ।

तत्राप्यपानस्यत्यं तद्व्यधिया चिन्तनीयमिति ॥ १ ॥

एवं वाच्यं ‘अनादिमन्तो भवान्तीर्थवन्तः’ इति वाच्यार्थं जानात्वेन नमस्कारमन्त्रिणां मारमन्त्रसंज्ञो-पकारित्वात् सकलदुःखपरमोपभूतप्रयत्नप्रणेतृत्वाद् वर्तमानतीर्थधिराहोः नमस्कारं प्रतिपादयन्माह—

१ * विष्णोऽभिमते च” इति. पाठनिष्पादने ॥ २ * विष्णोऽभिमते च” इति. विशुद्धि. ६. ५. ७४. ३ * अत्र केचित्. तस्यैव पूर्णवासाधोः जिणवत्सभोः सकलियवन्तभक्तिवत्सगती जगदीने इति इति. इत्यन्तर्गतस्योः अन्तर्गतस्य. पुनोऽन्तो ॥ ४

जयइ सुयाणं पभवो तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।

जयइ गुरू लोगाणं जयइ महप्पा महावीरो ॥ २ ॥

जयति सु० गाहा । व्याख्या—‘जयति’ इति पूर्ववत् । ‘श्रुतानां’ आचारादिभेदभिन्नानां ‘प्रभवः’ प्रभवन्त्य-
स्मादिति प्रभवः, तदर्थाभिधायकत्वात् कारणमित्यर्थः । ऋपभादयोऽप्येवम्भूता एव अत आह—‘तीर्थकराणाम-
5 पश्चिमो जयति’ तत्र तीर्थकरणशीलास्तीर्थकरास्तेषां तीर्थकराणाम्, भरतेऽधिकृतावसर्पिण्यां पश्चिम एव अनिष्ट-
शब्दपरिहारार्थमपश्चिम इत्युच्यते, पश्चानुपूर्व्या वाऽपश्चिम इति । ‘जयति गुरुलोकानां’ गृणाति शास्त्रार्थमिति
गुरुः, ‘लोकानां’ इति सत्त्वानाम् । ‘जयति महात्मा’ अनन्तज्ञान-वीर्ययुक्तत्वाद् महान् आत्मा यस्य स महात्मा ।
‘महावीरः’ इति “शूर वीर विक्रान्तौ” [पा. धा. पा. १९०३] इति, कपायादिशत्रुजयाद् महाविक्रान्तो महावीरः ।
ईर् गति-भ्रैरणयोः” इत्यस्य वा विपूर्वस्य विशेषेण ईरयति—कर्म गमयति, याति वा इह शिवमिति वीरः, महांश्रासौ
10 वीरश्च महावीर इति गाथार्थः ॥ २ ॥

पुनरस्यैवातिशयप्रदर्शनद्वारेण स्तुतिमभिधित्सुराह—

भदं सव्वजगुज्जोयगस्स भदं जिणस्स वीरस्स ।

भदं सुरा-ऽसुरणमंसियस्स भदं धुयस्यस्स ॥ ३ ॥

भदं० गाहा । व्याख्या—‘भदं’ कल्याणं भवतु । कस्य? ‘सर्वजगदुद्योतकस्य’ इति, अनेन ज्ञानातिशयमाह ।
15 इह च “चतुर्थी चाऽऽशिष्यायुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुखा-ऽर्थ-हितैः” [पा. २. ३. ७३] इति वचनात् पृष्ठ्यपि भवत्येव,
यथा—आयुष्यं देवदत्ताय आयुष्यं देवदत्तस्येति, एवं मद्रादिष्वपि वक्तव्यमिति । ‘भदं जिणस्य’ “जि जये” अस्य
औणादिकनक्षत्रप्रत्ययान्तस्य जिन इति भवति, रागादिजयाद् जिन इति, अनेनापायातिशयमाह । अपायः—विश्लेषः,
रागादिभिः सार्द्धमात्यन्तिकवियोग इत्यर्थः । आह—अपायातिशये सति ज्ञानातिशयभावाद् व्यतिक्रमः किमर्थम्?,
“फलप्रधानाः समारम्भाः” इति ज्ञापनार्थम् । ‘भदं सुरा-ऽसुरणमस्कृतस्य’ इति, अनेन पूजातिशयमाह, न हि
20 विभवानुरूपां पूजामकृत्वैव सुरा-ऽसुरा नमस्कारक्रियायां प्रवर्तन्त इति । उक्तं च—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥ १ ॥

[

] इति ।

पूजातिशयान्यथानुपपत्त्यैव वागतिशयो गम्यते । ‘भदं धुतरजसः’ इति, अनेन सकलसंसारकेशविनिर्मुक्तां
25 सिद्धावस्थामेवाऽऽह, यतो वध्यमानकं कर्म रजो भण्यते, तदभावस्त्वयोगिसिद्धानामेव, न पुनरन्येषाम् । यत आह—
“जात्र णं एस जीवे एयइ वेदति चलइ फंदइ० ताव णं अट्टविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एग-
विहबंधए वा” [भग. श. उ. सू. पत्र] इत्यादि । तत्थ—

सत्तविहबंधगा होति पाणिणो आउवज्जगाणं तु । तह सुहुमसंपराया छव्विहबंधा विणिद्धि ॥ १ ॥

मोहा-ऽऽउगवज्जाणं पगडीणं ते उ चंधगा भणिया । उवसंत-खीणमोहां केवलिणो एगविहबंधा ॥ २ ॥

30 ते उण दुसमयट्ठित्तस्स बंधगा ण उण संपरायस्स । सेलेसिं पडिवन्ना अवंधगा होति विन्नेया ॥ ३ ॥”

[पञ्चा. १६ गा. ४०-४२]

आह-भगवतः संसारातीतत्वात् परमकल्याणरूपत्वात् किमेवमुच्यते 'भद्रं भवतु'? न च स्तोत्रा भणितं सर्वमेव भवतीति, अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, तथापि कुशलमनो-त्राक-कायप्रवृत्तिकारणत्वात् दोष इत्यलं प्रसङ्गेनेति गार्थार्थः ॥ ३ ॥ एवं तावत् तीर्थकरनमस्काराः प्रतिपादिताः । साम्प्रतं तीर्थकरानन्तरः सङ्घ इति कृत्वा तीर्थान्तर-ग्रामव्युदासेन नगररूपकेण तत्संस्तवं कुर्वन्नाह—

[सुत्तं २]

गुणभवनगहण ! सुयरयणभरिय ! दंसणविसुद्धरच्छागा ! ।
संघणगर ! भदं ते अक्खंडचरितपागारा ! ॥ ४ ॥

२. गुण० गाढा । व्याख्या-‘गुणभवनगहण !’ इह गुणाः-पिण्डविशुद्ध्यादय उत्तरगुणा अभिवृद्ध्यन्ते । यथोक्तम्—

पिण्डस्स जा विसोढी समितीओ भावणा तत्रो दुविहो । पडिमा अभिग्गहा वि य उत्तरगुणमो वियाणाहि ॥ १ ॥ 10

[व्यव. भा. पी. गा. २८९]

एत एव भवनानि एभिर्गहनं-प्रचुरत्वादुत्तरगुणानाम् एभिः सङ्कुलं सङ्घनगरमभिवृद्ध्यते, तस्याऽऽमन्त्रणं हे गुणभवनगहन ! । तथा 'श्रुतरत्नभृत !' श्रुतान्येव-आचारादीनि निरूपमनुगृह्णन्तुत्वाद् रत्नानि तैर्भृतं-पूरितमित्यर्थः तस्याऽऽमन्त्रणम् । तथा 'दर्शनविशुद्धरश्याक !' इह दर्शनं-प्रथम-संवेग-निर्वेदा-ऽनुकम्पा-ऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनं गृह्यते । तच्चोपशमिकादिभेदात् पञ्चविधम् । तथा चोक्तम्—“तं च पंचधा सम्मं । ओवसमं ? सासायण खयोवसमिय ३ वेदयं ४ खइयं ५ ॥” [विशेष. गा. ५२८] ति । दर्शनमेव असारमिथ्यात्वादिकचवररहिता विशुद्धा रश्या यस्य तत् तथाविधं तस्याऽऽमन्त्रणम् । 'सङ्घनगर !' सङ्घः-चतुर्वर्णः श्रमणादिमह्यातः न नगरमिव सङ्घ-नगरं तस्याऽऽमन्त्रणम्, यथा पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । उक्तं च—“ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ” [पा. २. १. ५६] । 'भद्रं' कल्याणं तत्र भवतु । 'अक्खण्डचारित्रमाकार !' चारित्रं-मन्त्रगुणाः, अक्खण्डं-अविराहितं चारित्रमेव प्राकारो यस्य तत् तथाविधं तस्याऽऽमन्त्रणमिति गार्थार्थः ॥ ४ ॥ 20

संसारोच्छेदित्वात् सङ्घयग्यैव चकारूपकेण स्तवं कुर्वन्नाह—

संजम-तवतुंवा-ऽरयस्स णमो सम्मत्तपारियत्तम्म ।

अप्पडिचक्कस्स जओ हौउ सया संघचक्कम्म ॥ ५ ॥

संजम० गाढा । व्याख्या-‘संजम-तपन्तुत्वा-ऽरकाय नमः’ संजमश्च तस्यैव च संजम-वर्तामि, नृम्यं च अरकाय तुम्हा-ऽरयाः, तत्र यथासहायं संजम-तपान्पेद तुम्हा-ऽरका यस्य तत् तथाविधं तस्मै नमः । तत्र संजमः— 25

पश्चात्तत्राद् विस्मरणं पश्चेन्द्रियनिग्रहः कषायक्षयः । दण्डवद्विरतिश्चेति संजमः समदृग्भेदः ॥ १ ॥

[अमर. भा. १. ३२]

सपो णादशमवारं दाहमभ्यन्तरं च । तत्र दाहं षड्विधम् । यथोक्तम्—

अनसतमूनोदरता हत्तेः नःश्लेषणं रसत्यागः । कायकरोसः संतीनतेति दाहं षडः सोक्तम् ॥ १ ॥

[अमर. भा. १. ३२]

अभ्यन्तरमपि पङ्क्तिविधम् । उक्तं च— “ प्रायश्चित्तं विनयो वैयाघ्रतयं स्वाध्यायो ध्यानं व्युत्सर्गश्च ” [] इति । “ सम्मत्तपारियल्लस ” च्चि पारियल्लं—वाह्यपुष्टकस्य वाह्या भ्रमिरुच्यते, ततश्च सम्यक्तपवाणभ्रमिणे नमः । व्याख्यातं गाथार्थम् । चरकादिभिरतुल्यत्वाद् नास्य प्रतिचक्रं विद्यते इत्यप्रतिचक्रम्, तस्य जयो भवतु इति सुप्रणिधानमेतत् । ‘ सदा ’ सर्वकालम् । सङ्घश्चक्रमिव सत्तचक्रं तस्येति गाथार्थः ॥ ५ ॥

5 इदानीं सङ्घस्यैव मार्गगामित्वतो रथरूपकेण स्तवं कुर्वन्नाह—

भद्रं सीलपडागूसियस्स तव-णियमतुरगजुत्तस्स ।

संघरहस्स भगवओ सज्झायसुणंदिघोसस्स ॥ ६ ॥

भद्रं० गाथा । व्याख्या— ‘ भद्रं ’ कल्याणं भवतु । कस्य ? सत्तरथस्य भगवत इति योगः । किंविशिष्टस्य ? शीलोच्छ्रितपताकस्य, प्राकृतशैल्याऽन्यथोपन्यासः, शीलग्रहणाद् अष्टादशशीलाङ्गसहस्रपरिग्रहः । तथा ‘ तपो-नियम-
10 तुरगयुक्तस्य ’ तपः-संयमाश्चयुक्तस्येत्यर्थः । स्वाध्यायः—वाचनादिः, यथोक्तम्—“ वाचना प्रच्छना परावर्तना अनुपेक्षा धर्मकथा च ” [] इति, तत्र स्वाध्याय एव शोभनो नन्दिघोपः—तूर्यरवः “ सुनेमिघोसस्स ” च्चि नेमिनिघोपो वा यस्य स तथाविधस्तस्य । इह च शीलाङ्गनिरूपणे सत्यपि तपो-नियमनिरूपणं प्रधानपरलोकाङ्गत्वख्यापनार्थम् । अस्ति चायं न्यायो यदुत—“ सामान्योक्तावपि प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषाभिधानम् ” इति, यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्टोऽप्यायात इति, एवमन्यत्रापि योजनीयमित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ६ ॥

15 सङ्घस्यैव लोकासंश्लिष्टत्वतः पद्मरूपकेण स्तवं प्रतिपादयन्नाह—

कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स सुयस्यणदीहणालस्स ।

पंचमहव्वयथिरकणियस्स गुणकेसरालस्स ॥ ७ ॥

सावगजणमहुयसिपसिवुडस्स जिणसूरतेयबुद्धस्स ।

संघपउमस्स भद्रं समणगणसहस्सपत्तस्स ॥ ८ ॥ [जुम्मं]

20 कम्मरय० गाथा । सावय० गाथा । व्याख्या—सङ्घपद्मस्य ‘ भद्रं ’ मङ्गलं भवत्विति क्रिया । किम्भूतस्य ? ‘ कर्मरजोजलौघविनिर्गतस्य ’ इह ज्ञानावरणादिलक्षणं कर्म, तदेव अनेकधा जीवगुण्डनाद् रजो भण्यते, तदेव भवकारणत्वाद् जलौघवद् जलौघः, तस्माद् विनिर्गत इव विनिर्गतः, तथा चाविरतसम्यग्दृष्टेरप्युपाद्धिपुद्गलपरावर्तः परः संसार उक्त इत्यतो विनिर्गतस्तस्य । श्रुतरत्नमेव दीर्घनालं यस्य सः, तद्ब्रलादेव निर्गत इति भावनीयम् । पञ्च महाप्रतानि—प्राणातिपातादिविनिर्गच्छिलक्षणानि तान्येव स्थिरा—दृढा कर्णिका—मध्यगण्डिका यस्य । गुणाः—उत्तर-
25 गुणाः त एव तत्परिकरत्वात् केसराणि यस्य विद्यन्ते इति गुणकेसरवत् तस्य गुणकेसरवतः ॥ ७ ॥

‘ श्रावकजनमधुक्करीपरिष्टस्य ’ इति प्रकटार्थम् । नवरमभ्युपेत्य सम्यक्तत्वं प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात् साधूनामगारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः । उक्तं च—

यो ह्यभ्युपेतसम्यक्तवो यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम् । शृणोति धर्मसम्बद्धामसौ श्रावक उच्यते ॥ १ ॥

30 ‘ जिनसूर्यने जोबुद्धस्य ’ केवलज्ञानभास्करविशिष्टसंवेदनप्रभवधर्मदेशनावुद्धस्येति भावार्थः । ‘ श्रमणगणसहस्र-पत्रम् ’ इति प्रकटार्थमेव । नवरं श्राम्यतीति श्रमणः, “ कृत्यल्युटो बहुलम् ” [पा. ३. ३. ११३.] इति वचनात्

कर्त्तरि ल्युट्, श्राम्यतीति—तपस्यति, एतदुक्तं भवति—प्रब्रज्यादिव्रसादारभ्य सकलसाधययोगविरतो गुरुपदेशादन-
शनादि यथाशक्ति आ प्राणोपरमात् तपश्चरतीति श्रमणः । उक्तं च—

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु च । तपश्चरति शुद्धात्मा श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

[]

इति गाथाद्वयार्थः ॥ ८ ॥ इदानीं सङ्ख्यस्यैव सौम्यतया चन्द्ररूपकेण स्तवमाह—

तव-संजममयलंछण ! अक्रियाराहुमुहदुद्धरिस ! णिञ्चं ।
जय संघचंद ! णिम्मलसम्मत्तविसुद्धजुणहागा ! ॥ ९ ॥

तवसंजम० गाथा । व्याख्या—‘तपः-संयममृगालाञ्छन !’ तपः-संयममृगचिद् ! । ‘अक्रियाराहुमुख-
दुष्प्रधृष्य !’ इह अक्रियाशब्देन नास्तिका गृह्यन्ते, अतभ्युपगमाद् अविद्यमानपरलोकक्रियाः अक्रियाः, त एव राहु-
मुखं तेन दुष्प्रधृष्यः—अनभिभवनीयः तस्याऽऽमन्त्रणम् । ‘नित्यम्’ इति सदा जय सहचन्द्र ! । ‘निर्मलसम्यक्तव- 10
विशुद्धज्योत्स्नाक !’ इह मिथ्यात्वभावमलरहितं निर्मलं सम्यक्तवमुच्यते, तदेव विशुद्धा-निर्मला ज्योत्स्ना—चन्द्रिका
यस्य स तथाविधः तस्याऽऽमन्त्रणमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥ अधुना सङ्ख्यस्यैव प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण स्तवमाह—

परतिस्थियगहृपहणासगस्स तवतेयदित्तलेसस्स ।
पाणुज्जोयस्स जए भइं दममंघसूरस्स ॥ १० ॥

परतिस्थिय० गाथा । व्याख्या—‘परतीर्थिकग्रहप्रमानाशकस्य’ इह परतीर्थिकाः—कपिल-कगभग-ऽश- 15
पादादिमतावलम्बिनः त एव ग्रहास्तेषां प्रभा—एकदृर्णयज्ञानलक्षणा नां नान्यनि—अनन्तनयमकुलप्रवचनसमुत्थ-
ज्ञानालोकेन अपनयतीति समासस्तस्य । ‘तपस्तेजोदीपलेशकस्य’ तपस्तेज एव दीपाः—उज्ज्वला लेश्याः—दीधि-
तयो यस्य । ‘ज्ञानोद्योतस्य’ इति गतार्थम् । ‘जगति’ लोके ‘भद्रं’ महत्त्वं भवतु । कस्य ? ‘दममहृवस्यस्य’
दमः—उपशमो भण्यते, तत्प्रधानः सङ्ख्यस्यैव दमसदस्यैवत्वमेति गाथार्थः ॥ १० ॥

साम्प्रतं सङ्ख्यस्यैव महत्तया समुद्ररूपकेण स्तवमाह—

भइं धिइवेलापरिगयस्स सज्झायजोगमगरम्म ।
अक्खोभस्स भगवओ संघममुट्ठम्म रंद्धम्म ॥ ११ ॥

भइं० गाथा । व्याख्या—सर्वभूतस्य भद्रं भवन्तििति श्रिया । किञ्चदस्य ? ‘धिइवेलापरिगयस्य’ ध्रतिः—
आत्मपरिणामः सैव वेला—वेदिका-जलान्तररमणलक्षणा भर्षादा ज तथा परिगयस्य । ‘सज्झायजोगमगरम्म’
परमविदारणसहाशक्तिसुक्तत्वात् सदाश्रयाय एव सङ्गो जगिन्निवत् । ‘अजोन्मत्त’ परितोपसर्गस्य भवे दिग्प- 20
कम्पस्य । ‘भगवतः’ समग्रैर्धर्मादियुक्तस्य । ‘रंद्धम्म’ इति चिन्तापूर्णमेति गाथार्थः ॥ ११ ॥

इदानीं सङ्ख्यस्यैव स्थिरतयाऽऽनेकरूपकेण स्तवमाह—

सुसमंरुणदइरददरुदनात्तवगाहपेदन्स ।
धम्मवररणमंठियत्तामीयरसेहलानन्स ॥ १२ ॥

णियमूसियकणयसिलायलुज्जलजलंतचितकूडस्स ।

णंदणवणमणहरसुरभिसीलगंधद्धमायस्स ॥ १३ ॥

जीवदयासुंदरकंदरुद्धरियमुणिवरमइंदइण्णस्स ।

हेउसयधाउपगलंतरत्तदित्तोसहिगुहस्स ॥ १४ ॥

संवरवरजलपगलियउज्जरपविरायमाणहारस्स ।

सावगजणपउरखंतमोरणच्चंतकुहरस्स ॥ १५ ॥

विणयणयपवरमुणिवरफुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स ।

विविहगुणकप्परुक्खगफलभरकुसुमाउलवणस्स ॥ १६ ॥

णाणवररयणदिपंतकंतवेरुलियविमलचूलस्स ।

वंदामि विणयणओ संघमहामंदरगिरिस्स ॥ १७ ॥ [छद्दि कुलयं]

10

सम्महंसण० गाहा । व्याख्या—सम्यग्—अविपरीतं दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, तदेव प्रथममोक्षाङ्गत्वात् सार-
त्वाद् वज्रं सम्यग्दर्शनवज्रम्, तदेव दृढं रूढं गाढं अत्रगाढं पीठं यस्य सद्ब्रह्ममहामन्दरगिरेः स सम्यग्दर्शनवज्रदृढ-
रूढगाढावगाढपीठस्तस्य वन्दे इति, द्वितीयार्थे पट्टी प्राकृतशैल्या आर्पत्वाच्च, तं वन्दे इत्यर्थः । तत् सम्यग्दर्शन-
वज्रपीठं दृढमिति—निष्कम्पम्, शङ्कादिशूल्यरहितत्वात्; रूढमिति—वृद्धिमुपगतम्, प्रतिसमयं विशुध्यमानत्वात्
15 प्रशस्ताध्यवसायस्थानेषु वर्तनात्, गाढमिति—निषिद्धम्, तीव्रतत्त्वरुचिरूपत्वात् सुष्ठुश्रद्धानरूपत्वादित्यर्थः, अत्रगाढ-
मिति—निमग्नम्, जीवादिपदार्थेषु सम्यग्ब्रह्मोद्धरणतया प्रविष्टमित्यर्थः । “ धम्मवरे ”त्यादि धारयतीति धर्मः, धर्म
एव वररत्नमण्डिता—प्रधानरत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य स धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः । क्रियायोजना
पूर्ववदेवावसेया । इह धर्मो द्विविधः मूलगुणोत्तरगुणरूपः, तत्रोत्तरगुणधर्मो रत्नानि, मूलगुणधर्मस्तु चामीकरमेख-
लेति । तथा च न राजते मूलगुणधर्मचामीकरमेखला उत्तरगुणधर्मरत्नभूषणविकलेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

20

नियमूसिय० गाहा । व्याख्या—इहोत्सृत्तशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः, ततश्चैवं भवति—नियम एव
कनकशिलातलानि नियमकनकशिलातलानि, तेषूच्छ्रितानि उज्ज्वलानि ज्वलन्ति चिचान्येव प्राकृतशैल्या कूटानि
यस्मिन् स तथाविधः । इह च नियमः इन्द्रिय-नोइन्द्रियनियमः परिगृह्यते । उत्सृत्तानि अशुभाध्यवसायपरित्या-
गात् । उज्ज्वलानि प्रतिसमयं कर्ममलविगमात् । ज्वलन्ति सदा सूत्रार्थानुस्मरणरूपत्वात् । चित्यते यैस्तानि
चित्तानि । उक्तं च—

25

चित्तरत्नमसंक्रिष्टमान्तरं धनमुच्यते । यस्य तन्मुपितं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तयः ॥ १ ॥

[इति ।]

वनं—वृक्षसमुदायः, नन्दनं च तद् वनं च नन्दनवनम्, तत्र नन्दन्ति यत्र सुर-सिद्ध-दैत्य-विद्याधरादयस्तद्
नन्दनम्, धनमिति—अशोक-सहकारादिजात्यम्, मनो हरतीति मनोहरम्, लतावितान-विधियुष्प-फल-प्रचालाद्युप-
पेतत्वात्, नन्दनवनं च तद् मनोहरं चेति “ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ” [पा. २. १. ५७] इति समासः,
30 तस्य सुरभिधामो गीत्यन्यथ सुरभिर्गीत्यन्यः तेनाऽऽश्नातः—व्याप्तो यः स तथाविधस्तस्य । क्रिया पूर्ववत् ।

इह च सहस्रमन्दरगिरिः सन्तोष एव नन्दनवनम्, तथाहि-नन्दन्ति तत्र साधव इति, तदेव विविधामर्षोपध्यादिलब्धु-
पपेतत्वान्मनोहरं तस्य सुरभिशीलगन्ध एवेति, अथवा मनोहरत्वं सुरभिशीलगन्धविशेषणमिति गाथार्थः ॥ १३ ॥

जीवदया० गाथा । व्याख्या-जीवदयं च सुन्दराणि स्व-परनिर्घृतिहेतुत्वात् कन्दराणि वस्तुतस्तपस्विनिल-
यत्वात्, तथाहि-“अहिंसाव्यवस्थितः तपस्वी” [] इति, मुनिवरा एव शाक्यादिमृगपराजया-
न्मृगेन्द्राः मुनिवरमृगेन्द्राः, उत्-प्रावलयेन दर्पिताः उद्वर्षिताः कर्मशत्रुजयं प्रति, उद्वर्षिताश्च ते मुनिवरमृगेन्द्राश्चेति 5
विशेषणसमासः, जीवदयासुन्दरकन्दरेषु उद्वर्षितमुनिवरमृगेन्द्रास्तैः आकीर्णः-व्याप्तो यस्तस्येति । ‘हेतुशत’ इत्यादि,
प्रगल्बन्ति च तानि रत्नानि च प्रगल्बन्तानि, निस्यन्दन्ति चन्द्रकान्तादीनि परिगृह्यन्ते, धातवः-कनकादिधातवो
गृह्यन्ते, धातवश्च प्रगल्बन्तानि च धातु-प्रगल्बन्तानि, दीप्ताश्च ता औपधयश्च दीप्तोपधयः, धातुप्रगल्बन्तानि च
दीप्तोपधयश्च धातु-प्रगल्बन्त-दीप्तोपधयः, ताः गुहासु यस्य स तथोच्यते । इह च सहस्रमन्दरगिरौ हेतुशतान्येव
धातवः, अन्वय-व्यतिरेकलक्षणाश्च हेतवो गृह्यन्ते, प्रगल्बन्तानि तु क्षायोपशमिकभावनिस्स्यन्दन्ति श्रुतरत्नानि 10
गृह्यन्ते, दीप्तोपधयस्तु विशुद्धा आमर्षोपध्यादयो गृह्यन्ते, गुहास्तु समवायाः प्ररूपणगुहा वा गृह्यन्त इति
गाथार्थः ॥ १४ ॥

संवर० गाथा । व्याख्या-संवरश्चासौ वरश्च संवरवरः, संवरः-प्रत्याख्यानरूपः, सर्वप्राणातिपातादिविनि-
वृत्तिरूपत्वाद् वरः, असावेव कर्ममलक्षालनाद् जलमिव जलं संवरवरजलम्, तस्मात् प्रगल्बितं च तदुज्जरं च संवर-
वरजलप्रगल्बितो ज्जरम्, तथा च संवरवरजलादुपचारतः प्रगल्बति श्रुतज्ञानाद्युज्जरमिति, तदेव प्रविराजमानः हारो 15
यस्य स तथाविधः । “सावगजणे”त्यादि, रत्नन्तश्च ते मयूराश्च रत्नमयूराः, प्रचुराश्च ते रत्नमयूराश्च प्रचुररत्न-
मयूराः, श्रावका एव जनास्त एव प्रचुररत्नमयूरास्तैर्वृत्त्यन्तीव कुहराणि यन्त्येति समासः । इह च स्तुति-स्तोत्र-
गन्धर्वादि रवणम्, कुहराणि शास्त्रमण्डपादीनि [इति] गाथार्थः ॥ १५ ॥

विणय० गाथा । व्याख्या-स्फुरन्त्यश्च ता विद्युतश्च स्फुरद्विद्युतः, चिन्त्येन नताः चिन्त्यनताः, चिन्त्यनताश्च
ते प्रवरमुनिवराश्चेति, त एव स्फुरद्विद्युज्ज्वलन्ति शिखराणि यन्त्येति समासः । इह च चिन्त्यन्याऽऽन्तरागर्षोभेद- 20
त्वात् तर्षास्येव स्फुरन्ति, प्रावचनिकाश्च विशिष्टाचार्यादयः शिखराणि । “विश्विभृते”त्यादि, विविधा गुणा येषां ते
विविधगुणाः, विशेषणान्यथानुपपत्त्या साधयो गृह्यन्ते, त एव विशिष्टकुल्योन्वयत्वाद् मन्त्रमृगदेवधर्मकल्पदानाद्य
कल्पवृक्षकाः विविधगुणकल्पवृक्षकाः, फलभरश्च कुमुमानि च फलभर-कुमुमानि, विश्विभृतेन्दुमृगनामां फलभर
कुमुमानि विविधगुणकल्पवृक्षकफलभर-कुमुमानि तैराकुल्यानि वनानि यन्त्येति समासः । इह च फलभरो धर्मकल्पभरो
गृह्यन्ते, कुमुमानि ऋद्धयः, वनानि गच्छा इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

पाण० गाथा । व्याख्या-ज्ञानं च तद् वरं च ज्ञानवरम्, परमनिर्घृतिहेतुत्वात् तदेव वरम्, [चिन्ते] दीपमाना
पान्ता विमला वैदूर्यचूडा यस्य स तथाविधः । अत्र दीप्पमानेति चत्वारिंशद्विंशतिवर्षाद्यर्थस्य दीपमानात्,
पान्ता भव्यजनमनोहारित्वाद्, विमला तदावराणाभावाद् । वन्दे इति चिन्त्यन्तः सन्तुष्टान्तरागर्षोभेद-
मिति, कर्मणि वा पूर्णाति गाथार्थः ॥ १७ ॥

[सुत्तं ३]

वंदे उसभं अजिअं संभवमभिणंदणं सुमति सुप्पभ सुपासं ।
ससि पुफ्फदंत सीयल सिज्जंसं वासुपुज्जं च ॥ १८ ॥

विमलमणंतइ धम्मं संति कुंथुं अरं च मल्लिं च ।

सुणिसुव्वय णमि णेमी पासं तह वद्धमाणं च ॥ १९ ॥ [जुम्मं]

३. वंदे० गाहा । विमल० गाहा । गाथाद्वयमपि निगदसिद्धम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ गणधरावल्किा तु या
स्य तीर्थकृतः सा प्रथमानुयोगानुसारेण द्रष्टव्येति । महावीरवर्द्धमानस्य पुनरियम्—

[सुत्तं ४]

पढमेत्थ इंदभूई वीओ पुण होइ अग्गिभूइ त्ति ।

तइए य वाउभूई तओ वियत्ते सुहम्मै य ॥ २० ॥

मंडिय-मोरियपुत्ते अकंपिए चैव अयलभाया य ।

मेयज्जे य पभासे य गणहरा हुंति वीरस्स ॥ २१ ॥ [जुम्मं]

॥ २० ॥ २१ ॥ साम्प्रतं वर्त्तमानतीर्थाधिपतेः स्थविरावल्किां प्रतिपादयन्नतिशयभक्त्या सामान्यतस्तच्छा-
सनस्तवं प्रतिपादयन्नाह—

[सुत्तं ५]

णेव्वुइपहसासणयं जयइ सया सव्वभावदेसणयं ।

कुसमयमयणासणयं जिण्णिदवरवीरसासणयं ॥ २२ ॥

५. निव्वुइपह० रूपकम् । अस्य व्याख्या—निर्दृतिपथशासनकमिति, अत्र यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि
निर्वाणमार्गस्तथाप्यनेन दर्शन-चरणपरिग्रहः, यत आह—जयति सदा 'सर्वभावदेशनकं' सर्वभावप्ररूपकमित्यर्थः,
अनेन तु ज्ञानपरिग्रहः । अथवा 'निर्दृतिपथशासनकम्' इत्यनेन सम्पूर्णनिर्वाणमार्गकथनमेवेति गृह्यते, 'जयति
सदा सर्वभावदेशनकम्' इत्यनेन तु विधि-प्रतिषेधद्वारेण 'न निर्दृतिमार्गव्यतिरेकेण किञ्चिदस्ति' इति ख्याप्यते ।
यत णवम्भूतमत एव 'कुसमयमदनाशनकं' कुसिद्धान्तावलेपनाशनकमित्यर्थः । 'जिनेन्द्रवरवीरशासनकं' चरमतीर्थ-
करप्रवचनमिति हृदयम् । अयं रूपकार्थः ॥ २२ ॥

अधुना यैरिच्छेदेन स्थविरैः क्रमेणैदंयुगीनानामानीतं तदावल्किां प्रतिपादयन्नाह—

[सुत्तं ६]

सुहम्मं अग्गिवेसाणं जंवूणामं च कासवं ।

पभवं कञ्जायणं वंदे वच्छं सेज्जंभवं तथा ॥ २३ ॥

६. सुधम्मं० गाढा । व्याख्या—इह स्थविरात्रलिका सुधर्मस्वामिनः प्रवृत्ता । उक्तं च—“ तित्थं च सुधम्माओ गिरवच्चा गणहरा सेसा । ” [] इति । अतस्तमेव पुरस्कृत्येयं प्रतिपाद्यते—सुधर्मं भगवद्गणधरं ‘अग्निवैशायनं’ इति अग्निवैशायनसगोत्रम् । तथा तच्छिष्यं जन्वनामानं च ‘काश्यपं’ काश्यपसगोत्रम् । तस्मात् ‘प्रभवं’ तच्छिष्यं प्रभवनामानं ‘कात्यायनं’ इति कात्यायनसगोत्रम् । वन्दे इति क्रिया प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तथा तच्छिष्यं “ वच्छं ” इति वत्ससगोत्रं शय्यम्भवं तथेति गाथार्थः ॥ २३ ॥

जसभदं तुंगियं वंदे संभूयं चैव मादरं ।

भद्रवाहुं च पाङ्णं थूलभदं च गोयमं ॥ २४ ॥

जसभदं० गाढा । व्याख्या—‘शय्यम्भवशिष्यं यशोभदं तुङ्गिकं’ इति तुङ्गिकगणं—व्याघ्रापत्यसगोत्रं वन्दे । अयं च द्वौ प्रधानशिष्यो बभूवतुः, तद्यथा—सम्भूतविजयो मादरसगोत्रः, भद्रवाहुश्च प्राचीनसगोत्र इति । तथा चाह—सम्भूतं चैव मादरं भद्रवाहुं च प्राचीनमिति । तत्र सम्भूतस्य विनेयः थूलभद्रो गौतमसगोत्र आसीत् । आह च—थूलभदं च गौतम- 10 मिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

एलावच्चसगोतं वंदामि महागिरिं सुहृत्थि च ।

ततो कौसियगोतं बहुलस्स सरिच्चयं वंदे ॥ २५ ॥

एलावच्चस० गाढा । व्याख्या—थूलभद्रस्यापि द्वावेव प्रधानशिष्यौ । तद्यथा—एलावच्चसगोत्रो महागिरिः वशिष्ठसगोत्रः सुहृत्ती च । यत आह—एलावच्चसगोत्रं वन्दे महागिरिं सुहृत्थिनं च । तत्र सुहृत्थिनः सुहृत्थन-सुप्रतिबुद्धः 15 दिग्रमेणाऽऽवल्लिका यथा वसानु [अ० ८ सू० २१०] तथैव द्रष्टव्या, न तथेहाभिरागः, महागिरिोवन्निकयेहाभिरागः । तत्र महागिरिर्बहुल-वलिस्सही कौशिकसगोत्रो चमलभ्रातरौ द्वौ प्रधानशिष्यौ बभूवतुः । तयोर्गौ वशिष्ठसः प्रायश्चनीय आसीत्, अत आह—ततः कौशियसगोत्रं बहुलस्य सहजवयसं चमलभद्र, वन्दे इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

हारियगोतं साईं च वंदिमो हारियं च नामज्जं ।

वंदे कौसियगोतं मंडिलं अज्जजीयधरं ॥ २६ ॥

हारिय० गाढा । व्याख्या—वशिष्ठसशिष्यं तारीनसगोत्रं वन्दे । तस्य सार्वभौमस्योऽपि चोऽप्येव सगोत्रमेव व्यापार्यम् । [ध्यामार्य] शिष्यं च वन्दे कौशिकसगोत्रं चमलभद्रम् । विसृज्यते आर्षवैश्वदेवं आगतं यानं सर्वदेवधर्मभ्य इत्यर्थम्, जीतमिति—सुवम्, जीतं सर्वांश्च उपसर्गान् विजितः क्वच इति वन्देऽपि, सर्वदेवार्थं सगोत्रं च वन्दमिति भावनीयम्, भाष्यतीति धन, आर्षवैश्वदेवः धनः आर्षवैश्वदेवः क्वच । अनेन चमलभद्रोऽपि विसृज्य शिष्यः आर्षवैश्वदेवो वीरभक्त्या हारिगोत्रमिति वानार्थः ॥ २६ ॥

समुद्रेषु गृहीतप्रमाणं' अतिशयेन द्वीपसागरप्रज्ञप्तिविज्ञायकमिति भावः । अक्षुभितसमुद्रवद् गम्भीरो अशुभितसमुद्र-
गम्भीरः अतस्तमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

भणगं करगं झरगं पभावगं णाण-दंसणगुणाणं ।

वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥ २८ ॥

5 भणगं० गाहा । व्याख्या-आर्यसमुद्रशिष्यं वन्दे आर्यमङ्गुमिति योगः । किम्भूतम् ?-'भणकं' कालिकादि-
सूत्रार्थं भणतीति भणः, स एव प्राकृतशैल्या भणकस्तम् । 'कारकं' कालिकादिसूत्रोक्तमेवोपधिप्रत्युपेक्षणादिक्रिया-
कलापं करोतीति कारकस्तम् । 'ध्यातारं' धर्मध्यानं ध्यायतीति ध्याता तम् । इहोद्यतः कारकमित्युक्ते प्रधानपर-
लोकाङ्गताख्यापनार्थं ध्यानस्य ध्यातारमिति विशेषाभिधानम् । यत इत्थम्भूतोऽत आह-प्रभावकं 'ज्ञान-दर्शन-
गुणानां' यथावस्थितपदार्थावबोधादीनाम्, एकग्रहणात् तज्जातीयग्रहणात् चरणपरिग्रहः । श्रुतसागरपारगं धीर-
10 मिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

णाणस्मि दंसणस्मि य तव विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं ।

अज्जाणंदिलखमणं सिरसा वंदे पसणमणं ॥ २९ ॥

णाणस्मि० गाहा । व्याख्या- आर्यमङ्गुशिष्यं आर्यनन्दिलक्षणं सिरसा वन्दे प्रसन्नमनसम् । किम्भूतम् ?-
ज्ञाने दर्शने च तपसि विनये च, अनेन चरणमाह । नित्यकालं 'उद्युक्तं' अप्रमादिनमिति गाथार्थः ॥ २९ ॥

15 वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं ।

वागरण-करण-भंगिय-कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥ ३० ॥

वड्ढउ० गाहा । व्याख्या-'वर्द्धतां' वृद्धिसुपयातु । कोऽसौ ? 'वाचकवंशः' तत्र विनेयेभ्यः पूर्वगतं सूत्र-
मन्यच्च वाचयन्तीति वाचकाः तेषां वंशः-भाविपुरुषपर्वप्रवाहः । किम्भूतः ? यशोवंशः, अनेन विपक्षव्यवच्छेदमाह ।
तथाहि-अलमयशःप्रधानस्य संसारहेतोः परममुनिविश्रुतलिङ्गविडम्बकस्य वृद्धयेति । केषां सम्बन्धिसम्भूतः ? आर्य-
20 नन्दिलक्षणशिष्याणां आर्यनागहस्तिनाम् । किम्भूतानाम् ? 'व्याकरण-करण-भङ्गिक-कर्मप्रकृतिप्रधानानां' तत्र व्या-
करणं-प्रश्नव्याकरणं शब्दग्राभृतं वा, करणं-पिण्डविशुद्ध्यादि, उक्तं च-

पिण्डविसोदी ४ समिती ५ भावण १२ पडिमा १२ य इंदियणिरोहो ५ ।

पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३ अभिग्गहा ४ चेव करणं तु ॥ १ ॥ [ओधनि. गा. ३]

भङ्गिकाः-चतुर्भङ्गिकाद्यास्तच्छ्रुतं वा, कर्मप्रकृतिः प्रतीता, एतेषु प्ररूपणामधिकृत्य प्रधानानामिति
25 गाथार्थः ॥ ३० ॥

जच्चंजणधाउसमप्पहाण मुद्दीय-कुवल्यनिहाणं ।

वड्ढउ वायगवंसो रेवइणक्खत्तणामाणं ॥ ३१ ॥

जच्चंजणधाउसमप्पहाण० गाहा । व्याख्या- जात्यश्वासावज्जनधातुश्चेति समासः, तत्समा प्रभा-देहच्छाया
येषां ते तथाविधास्तेषाम् । सा भृदन्त्यन्तकृष्णामम्प्रत्ययस्तत आह-'मुद्रिका-कुवल्यनिभानां' पक्षरसद्राक्षा-नीलोत्पल-

निभानामित्यर्थः । रत्नविशेषः कुवलयमित्यन्वये, तथाऽप्यविरोधः । वर्द्धतां वाचकवंशः । केषाम् ? आर्यनागहस्ति-
शिष्याणां 'स्वतिनक्षत्रनाम्नां' स्वतिवाचकानामिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अयलपुरा णिक्खंते कालियसुयआणुओगिए धीरे ।
वंमदीवग सीहे वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥ ३२ ॥

अयलपुरा० गाथा । व्याख्या—अचलपुरा इति निष्क्रान्तान् । कालिकश्रुतानुयोगेन नियुक्ताः कालिकश्रुतानु-
योगिकास्तान्, यद्वा कालिकश्रुतानुयोग एषां विद्यत इति समासस्तान् कालिकश्रुतानुयोगिनः । 'धीरान्' स्थि-
रान् । 'ब्रह्मद्रोपिकाश्च सिद्धान्' ब्रह्मद्रोपिकाशास्त्रोपलक्षितान् सिद्धाचार्यान् स्वनिवाचकशिष्यान् । वाचकपदं तत्कालोपेक्षया
'उत्तमं' प्रधानं प्राप्नोति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

जेसि इमो अणुओगो पयइ अज्जा वि अड्ढभरहम्मि ।
बहुनगरनिरगयजसे ते वंदे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥

जेसि० गाथा । व्याख्या—येषामयमनुयोगः प्रचरति अद्याप्यर्द्धभरते वैतादद्यादारतः । बहुनगरेषु निर्गतं-
प्रसिद्धं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः तान् वन्दे सिद्धवाचकशिष्यान् कन्दिलाचार्यान् ।

कहं पुण तेमिं अणुओगो ?, उच्यते, वारससंचच्छरिए महन्ते वृद्धिभक्त्वे काले भक्ताद्या
फिडिय्याणं महण-गुणण-ऽणुप्पेहाऽभावतो मुत्ते चिप्पणट्टं पुणो वृद्धिभक्त्वे काले जाते महुगण महन्ते
ममुद्दण खंदिलायरियप्पमुद्दसंघेण 'जो जं संभरह' ति एवं संवदितं कालियसुयं । जम्हा एयं महुगणे
करं नम्हा माहुग वायणा भन्नति । सा य खंदिलायरियमममन ति काठं नम्मंतिओ अणुओगो भण्णति ।

अत्रे भणंति जहा—सुयं णो णट्टं, तम्मि वृद्धिभक्त्वात्ते जे अन्ने पहाणा अणुओगभरा ते
चिणट्टा । एगे खंदिलायरिए संघरे । तेण महुगण पुणो अणुओगो पयनिओ ति माहुग वायणा भन्नह ।
नम्मंतिओ य अणुओगो भण्णह ति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

ततो हिमवंतमहंतविक्रमं धीपरकममणंतं ।
सज्झायमणंतधरं हिमवंतं वंदिमो मिरमा ॥ ३४ ॥

ततो० गाथा । व्याख्या—ततः खंदिलाचार्यशिष्ये विक्रमे वन्दे विरमेति शिष्या । मिरमाय ? 'दिसरमदा-
विक्रमे' हिमवत इय महाविक्रमः—वितारण्यापवादिक्खणो मम्म न् कम्मविममम् । "धीपरकममणंति" ति अन्-
न्तर्गतपराक्रमम् । प्राकृतशैल्या न् अन्यथोपग्यासः, अन्तः प्रतिप्रधानः पराक्रमः—मर्मदृश्यो मम्म म् दधः-
विभक्तम् । "सज्झायमणंतधरं" ति 'अनन्तराध्यायधरं' धरतीति धरः, अन्तःप्रधानं परीक्षयादन्त्ये—शुभम्, तदि-
परः स्वाध्यायस्तस्य धर इति समासः तमिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालियसुयअणुओगस्स धान्णं धान्णं य पुव्वानं ।
हिमवंतखमासणे वंदे णामज्जुजायग्गि ॥ ३५ ॥

कालिय० गाथा । व्याख्या—कालिकश्रुतानुयोगस्य धान्णम् । धान्णं हिमवंतं वंदिमो मिरमा ।
धान्णं धान्णं य पुव्वानं । हिमवंतखमासणे वंदे णामज्जुजायग्गि गाथार्थः ॥ ३५ ॥

षिउ-मह्वसंपण्णे अणुपुण्वि वायगत्तणं पत्ते ।

ओहसुयसमायरए णागज्जुणवायए वंदे ॥ ३६ ॥

सिउ० गाहा । व्याख्या - मृदु-मार्दवसम्पन्नान्, उपलक्षणत्वान्मृदुत्वस्य कान् [सम्पन्नान्]? क्षमा-मार्दवा-ऽऽ-
र्जव-सन्तोपसम्पन्नानित्यर्थः । 'आनुपूर्व्या' वयः-पर्यायकालगोचरया वाचकत्वं प्राप्तान् ।

5 ऐदंयुगीनानामपि सामाचारीप्रदर्शनपरमेतत्, न चापुष्टं द्वितीयपदमाश्रित्यैदंयुगीनाना-
मपि युज्यते कालोचितानुपूर्वीं विहाय क्वचिदप्याचार्यत्वाद्यारोपणम्, महापुरुषाणां गौतमादीनामा-
शातनाप्रसङ्गात्, कृतं प्रसङ्गेन, संसार एव दण्डो भगवदाज्ञावितथकारिणामिति ।

'ओघश्रुतसमाचरकान्' ओघश्रुतं-उत्सर्गश्रुतं तत् समाचरन्ति ये ते तथाविधास्तान् नागार्जुनवाचकान्
वन्दे इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

10

वरकणगतविय-चंपयविमउलवरकमलगव्भसखिण्णे ।

भवियजणहिययदइए दयागुणविसारए धीरे ॥ ३७ ॥

अड्ढभरहण्णहाणे बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे ।

अणुओइयवरवसहे णाइलकुलवंसणंदिकरे ॥ ३८ ॥

भूअहिययप्पगव्भे वंदे हं भूयदिण्णमायरिए ।

15

भवभयवोच्छेयकरे सीसे णागज्जुणरिसीणं ॥ ३९ ॥ [विसेसयं]

वरकणग० गाहा । अड्ढ० गाहा । भूअहियय० गाहा । व्याख्या-इदं गाथात्रयमपि प्रायो निगदसि-
द्धमेव । नवरम्-'भव्यजनहृदयदयितान्' भव्यजनहृदयवल्लभान् ॥ तथा सुविज्ञातवहुविधस्वाध्यायप्रधानान्,
वहुविध आचारादिभेदात् स्वाध्यायः । अनुयोजिता यथोचिते वैयावृत्यादौ वरवृषभाः-सुसाधवो यैस्तान् । नागेन्द्र-
कुलवंशनन्दिकरानिति, प्रमोदकरानित्यर्थः ॥ 'भूतहितप्रगल्भान्' अनेकधा सत्त्वहितनिपुणानिति भावः ।
20 वन्देऽहं भूतदिनाचार्यानि, अत्रानुस्वारोऽलाक्षणिकः । 'भवभयव्यवच्छेदकरान्' इति सदुपदेशादिना संसार-
भयव्यवच्छेदकरणशीलान् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

सुमुणियणिञ्चा-ऽणिञ्चं सुमुणियसुत्त-ऽत्थधारयं णिञ्चं ।

वंदे हं लोहिञ्चं सव्भावुवभावणात्तच्चं ॥ ४० ॥

सुमुणिय० गाहा । व्याख्या-भूतदिनाचार्यशिष्यं "वंदे हं लोहिञ्चं" इति क्रिया । किम्भूतम् ? सुष्ठु विज्ञातं
25 नित्या-ऽनित्यं येन स तथाविधस्तम् । किं विज्ञातम् ?, विशेषणान्यथाऽनुपपत्तेः वस्तु इति गम्यते, यथा 'सवत्सा
धेनुः' इत्युक्ते गौः, वड्याया विशेषणयोगादिति । तच्च वस्तु सचेतना-ऽचेतनम् । तत्र सचेतनमात्मा, चेतनत्वा-
द्यपेक्षया नित्यः, नारक-तिर्यङ्-नरा-ऽमरपर्यायापेक्षया चानित्यः । एवमचेतनमप्यण्वादि विज्ञातव्यम्, तथाहि-
परमाणुरजीवत्त-मूर्षलादिभिरनित्यः, वर्णादिभिर्द्वर्चणुकादिभिस्त्वनित्य इति । उक्तं च—

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । सत्योश्चित्यपचित्योराकृति-जातिव्यवस्थानात् ॥ १ ॥

33

[इति ।]

अत्र बहु वक्तव्यम्, तच्च नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात्, गमनिकामात्रप्रधानोऽयमारम्भ इति । अनेन न्याय-
वेदित्वमाह । 'सुविज्ञातसूत्रा-ऽर्थधारकम्' इत्यनेन त्वोद्यत एव स्वभ्यस्तसूत्रा-ऽर्थधारकमिति । 'सद्भावोद्भावनातथ्यम्'
इत्यनेन सम्यक्प्ररूपकत्वमाहेति गाथार्थः ॥ ४० ॥

अत्यमहत्थक्खाणी सुसमणवक्खाणकहणणेव्वाणी ।

पयतीए महुरखाणी पयओ पणमामि डूसगणी ॥ ४१ ॥

अत्यमहत्थक्खाणी० गाथा । व्याख्या-ओहित्यक्षिप्यं 'प्रयतः' सन् अनुत्सृष्टप्रयत्नपरः सन्नित्यर्थः,
प्रणमामि दुष्यगणिमिति क्रिया । किम्भूतम् ? 'अर्थ-महार्थखाणि' खानिरिव खानिः, अर्थ-महार्थानां खानिः अर्थ-
महार्थखाणिः तम् । तत्र भाषामिथेया अर्थाः, विभाषा-वार्तिकगोचरा महार्था इति । सुश्रमणव्याख्यानकथने निवृ-
त्तिर्यस्य स तथाविधस्तम् । तत्र व्याख्यानं-प्रतीतम्, कथनं-संज्ञये सति विनेयप्रश्नोत्तरकालभावि व्याकरणम्,
अथवा व्याख्यानम्-अनुयोगः, कथनं-ओद्यतो धर्मस्य, धर्मकथेत्यर्थः । 'प्रकृत्या' स्वभावेन 'मधुरवाचं' 10
मधुरगिरमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

सुकुमाल-कोमलतले तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।

पादे पावयणीणं पाडिच्छगसएहि पणिवइए ॥ ४२ ॥

सुकुमालकोमल० गाथा । निगदसिद्धा ॥ ४२ ॥ एवमावलिक्काक्रमेण महापुरुषाणां स्तवमभिधाय साम्प्रतं
सामान्येनैव श्रुतधरनमस्कारं प्रतिपिपादयिपुराह —

जे अण्णे भगवंते कालियसुयआणुओगिण् धीरे ।

ते पणमिऊण सिरसा णाणस्त परुवणं वोच्छे ॥ ४३ ॥

॥ श्रेयवलिक्का नमन्ता ॥

जे अन्ने भगवंते० गाथा । व्याख्या-'ये चान्ने' अतीता भाविनश्च 'नान्तः' भूतान्तोत्प्रेतान्
गमग्रैश्वर्यादिमन्त इत्यर्थः । कालिकश्रुतानुयोगिनः 'धीराः' सत्कल्पन्त्यात् साधुः 'सिरसा' उभयार्थेन 'नामग' 20
आभिनिवोधिकादेः परुवणं वक्ष्ये । क एवमाह ? कृष्णगण्डिकायो देवस्यैव इति साधुः ॥ ४३ ॥

इदं च पञ्चमकारं ज्ञानम्, एतत्प्रतिपादकं चाध्ययने योग्येभ्य एव विनेयेभ्यो योग्ये, न्याययोग्ये इत्ययो
योग्या-ऽयोग्यविभागोपदर्शनार्थमेव तावद्विदमाह —

[सुत्तं ७]

सेलधण १ कुडग २ चालणि ३ परिपूणग ४ हंस ५ महिम ६ जेने ७ य ।

ममग ८ जण्डग ९ विराली १० जाहग ११ गो १२ नेरि १३ आनीगि ॥ ४४ ॥

ना समामओ तिविहा पणत्ता, तं जहा-जाणिता १ अजाणिता २ दुक्खियदहा ३ ।

६. सेलधण० गाथा । व्याख्या-आ-श्रुतान्तवन्तानुतिकर्तुं सत्कल्पन्त्यात् साधुः 'सिरसा' उभयार्थेन 'नामग'
विद्वान्तां महापुरुषाणामर्ण योग्या-ऽयोग्यविभागनिर्वाहनेन, तं वि-परिविहा-विहितं महापुरुषाणां अर्थान्

सोऽर्थिशुणमपेक्ष्य प्रदानक्रियायां प्रवर्तन्ते दयालव इति, अत्रोच्यते, ननु यत् एव शुभाध्ययनप्रदानाधिकारे समभावव्यवस्थिताः सर्वसत्त्वहितायोद्यता महापुरुषाश्च गुरवः अत एव योग्या-ऽयोग्यविभागोपदर्शनं न्याय्यम्, सा भूदयोग्यप्रदाने तत्सम्यग्प्रयोगाक्षमार्थिजनानर्थ इति, “ न खलु तत्त्वतोऽनुचितप्रदानेनाऽऽयासहेतुनाऽ-
 5 चिवेकिनमर्थिजनमनुयोजयन्तोऽप्यनवगतपरार्थसम्पादनोपाया भवन्ति दयालवः ” इत्यवधूय मिथ्या-
 भिमानमालोच्यतामेतदिति । आह—क इवायोग्यप्रदाने दोषः ? इति, उच्यते, स हाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पमनेकम-
 वशतसहस्रोपात्तानिष्टदुष्टाष्टकर्मराशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमपीदमयोग्यत्वाद्वाप्य न विधिवदासेवते, लाघवं चास्य
 समापादयति, ततो विधिसमासेवकः कल्याणमिव महदकल्याणमासादयति । उक्तं च —

आमे धडे निहितं जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्सं अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥

[] इत्यादि ।

- 10 अतोऽयोग्यदाने दातृकृतमेव वस्तुतस्तस्य तदकल्याणमित्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः—तत्राधिकृतगाथां
 प्रपञ्चत आवश्यकानुयोगे व्याख्यास्यामः । इह पुनः स्थानाशून्यार्थं भाष्यगाथाभिर्व्याख्यायत इति —
 ‘उल्लेखण न सको’ गज्जइ इय मुग्गसेलओ रन्ने । तं संवट्टममेहो सोउं तस्सोवरिं पडइ ॥ १ ॥
 ‘रविओ’ त्ति ठिओ मेहो ‘उल्लो मि ? ण व ?’ त्ति गज्जइ य सेलो । ‘सेलसमं गाहेस्सं’ निव्विज्जइ गाहगो एवं ॥ २ ॥
 आयरिए सुत्तम्मि य परिवाओ, सुत्त-अत्थपल्लिमंथो । अन्नेसिं पि य हाणी, पुट्टा वि न दुद्धया वंझा ॥ ३ ॥
 15 वुट्टे वि दोणमेहे ण कण्हभोमाउ लोहए उदगं । गहण-धरणासमत्थे इय देयमल्लित्तिकारिम्मि ॥ ४ ॥
 भाविय इयरे य कुडा, अपसत्थ-पसत्थभाविया दुविहा । पुप्फाईहि पसत्था, सुर-तेल्लार्इहि अपसत्था ॥ ५ ॥
 वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थ वम्मा य होति अग्गेज्झा । अपसत्थ अवम्मा वि य, तप्पडिवक्खा भवे गेज्झा ॥ ६ ॥
 कुप्पवयण-ओसन्नेहिं भाविया एवमेव भावकुडा । संविग्गेहिं पसत्था वम्माऽवम्मा य तह चेव ॥ ७ ॥
 जे पुण अभाविया खलु ते चतुथा, अधविमो गमो अन्नो । छिद्धकुड भिन्न खंडे सगले य परूवणा तेसिं ॥ ८ ॥
 20 सेले य छिद्ध चालिणि मिहो क्हा सोउमुट्टियाणं तु । छिद्धाऽऽइ ‘तत्थ विट्ठो सुमरिंसु, सरामि णेदाणि’ ॥ ९ ॥
 ‘एणेण विसइ वीएण णीइ कणणेण’ चालणी आह । ‘धन्न त्थ’ आह सेलो ‘जं पविसति नीति वा तुज्झं’ ॥ १० ॥
 तावसखउरकट्ठियं चालिणपडिवक्खि ण सवइ दवं पि । परिपूणगम्मि य गुणा गलंति, दोसा य चिट्ठंति ॥ ११ ॥
 सव्वन्नुप्पामन्ना दोसा हु न संति जिणमते केई । जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा ॥ १२ ॥
 अंवत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीरमुदगम्मि । हंसो मोत्तूण जलं आवियइ पयं, तह सुसीसो ॥ १३ ॥
 25 सयमवि न पियइ महिसो, ण य जूहं पियइ लोलियं उदगं । विग्गह-विकहाहि तहा अथकपुच्छाहि य कुसीसो ॥ १४ ॥
 अवि गोपयम्मि वि पिए सुदिओ तणुयत्तणेण तोंडस्स । न करेइ कल्लसतोयं मेसो, एवं सुसीसो वि ॥ १५ ॥
 मसउव्व तुदं जचादिएहिं निच्छुम्भए कुसीसो उ । जल्लगा व अदूमितो पियइ सुसीसो वि सुयणाणं ॥ १६ ॥
 छट्ठेउं भूमीए खीरं जह पियइ दुट्टमज्जारी । परिमुट्टियाण पासे सिक्खइ एवं विणयभंसी ॥ १७ ॥
 पाउं थोवं थोवं खीरं पासाइं जाहओ ल्हइ । एमेव जियं काउं पुच्छइ मइमं, न खिज्जेइ ॥ १८ ॥
 30 अयो दोज्झिहि कळं, णित्थयं किं व्हामि से चारिं ? । चउचरणगवी उ मता, अवन्न हाणी य वडुगाणं ॥ १९ ॥

मा मे होज्ज अण्णो, गोवज्जा, मा पुणो व न दल्लिज्जा । वयमवि दोज्जामो पुणो, अणुग्गहो अन्नदूढे वि ॥ २० ॥
 सीसा पडिच्छगाणं भरो त्ति, ते वि य हु सीसगभरो त्ति । ण करेति सुत्तहाणी, अन्नत्य वि दुल्लभं तेसिं ॥ २१ ॥
 कोमुदिया १ संगामिय २ उच्छ्रुतियगा ३ उ त्तिन्नि भेरीओ । कण्हस्साऽऽसी उ तया, असिन्नोत्तसमी चउत्थी उ ॥ २२ ॥
 सकपसंसा, गुणगाहि केसवा, पेमिंदं, सुणदंता । आसरयणस्स ऋणं, कुमारभंणे य, पुयजुज्जं ॥ २३ ॥
 पेहि जिओ मि त्ति अहं, असिन्नोत्तसमीइ संपयाणं च । छम्मामिययोसणया पसमइ, ण य जायए अणो ॥ २४ ॥ 5
 आगंतु वाधिसोभे, महिद्धि मोल्लेण, कंथ, दंडणता । अट्टम आराहण, अन्न भेरि, अन्नस्स ठवणं च ॥ २५ ॥
 मुक्कं तया अगाहिते, दुपरिग्गाहियं कयं तया, कलहो । पिट्टण, अइचिर, विक्रिय गतेसु चोरा य, ऊणग्वं ॥ २६ ॥
 मा णिण्हव इय दातुं, उवजुंजिय देहि, किं विचितेसि ? । विच्चाभेलियदाणे किलम्मसी तं, चऽहं चेव ॥ २७ ॥
 भणिया जोग्गा-ऽजोग्गा सीसा गुरवो य, तत्थ दोणं पि । वेयालियगुण-दोसो, जोगां जोगस्स भासेज्जा ॥ २८ ॥
 [विशेषा. गा. १४५५-८२, कल्पमा. गा. ३३५-६१] 10

एवं तावद् विभागतो योग्या-ऽयोग्यविनेयविभागोपदर्शनं कृत्वा साम्प्रतं सामान्येन पर्यदं प्ररूपयन्नाह—

सा समासओ तिविद्वा पन्नत्तेत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या—‘सा’ पर्यत् ‘समासतः’ संक्षेपेण ‘त्रिविधा’
 त्रिप्रकारा ‘पन्नप्ता’ प्ररूपिता । कैः ? तीर्थकर-गणधरैरिति गम्यते । ‘तद्यथा’ इत्युदाहरणोपन्यासायः । ‘त्रिका’
 इति, अत्र “जा अत्रवोधने” इत्यस्य “इगुपधनाप्रीकिरः कः” [पा. ३. १. १३५] इति कप्रत्ययः, “आनो लोप
 इटि च विङिति” [पा. ६. ४. ६४] इत्याकारलोपः; परगमनम्, टाप्, जानार्ताति जा, कप्रत्ययः, “प्रत्ययस्थान् 15
 कात् पूर्वस्थात् इदाप्यस्युपः” [पा. ७. ३. ४४] इति इत्त्वम्, ‘त्रिका’ परिज्ञानवती । न त्रिका ‘अत्रि सा’
 तद्विलक्षणा । ‘दुर्विदग्धा’ मिथ्यावलेपगर्भा । तत्स्थिता जाणिया —

गुण-दोसविसेसण्णु, अणभिन्नाट्टिया च कुसमुत्ति-मएसु । एमा जाणगपरिन्ना, गुणनत्तिट्टा अणुणवज्जा ॥ १ ॥

[कल्पमा. गा. ३६५]

इमा तु अयाणिया —

२१

पगर्तामुद्द अयाणिय, मिगल्लानय-सीह-कुकुडयभूया । रयणमिन्न अमंटाट्टिया, मुत्तमज्जस मुत्तममिडा ॥ २ ॥

[कल्पमा. गा. ३७७]

इमा पुण दृग्धियद्धियया —

विचियम्मत्तगार्ही १ पट्टवगार्ही २ य नुरियचाही ३ य । दृविचडिट्ठा उ एसा भणिया तिविद्वा भवे परिन्ना । ३ ॥

[कल्पमा. गा. ३७७]

साम्प्रतमिण्णदेवतास्तदादिसम्पादितसकलसौविहितो देवकचनेऽद्विगुताश्चकारविसकभूतास्य आनन्त्य एते गार्ही
 वर्गभिन्नाह —

८. णाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा—आभिणिन्नोत्तिदण्णं १ सुसण्णं २ अंठियण्णं ३
 मणपउजवण्णं ४ वेदलण्णं ५ ।

८. गाणं पञ्चविहं पण्णत्तं इत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या-ज्ञातिः ज्ञानम्, “कृत्यल्लुटो बहुलम्” [पा. ३. ३. ११३] इतिवचनाद् भावसाधनः, संविदित्यर्थः । ज्ञायते वाऽनेनेति ज्ञानम्, तदावरणक्षयोपशमादेव । ज्ञायतेऽस्मिन्निति क्षयोपशमे सति ज्ञानम् । आत्मैव विशिष्टक्षयोपशमयुक्तः जानातीति वा ज्ञानं तदेव, स्वविषयसंवेदनरूपत्वात् तस्य । ‘पञ्चविध’मित्यत्र पञ्चेति सङ्ख्यात्राचक्रः, विधानं विधेति, अत्र “दुधाञ् धारणपोषणयोः” [पा. धातु. १०९२] इत्यस्यानुबन्धलोपे कृते विपूर्वस्य स्त्रियां वर्त्तमानायां “पिङ्गिदादिभ्योऽङ्” [पा. ३. ३. १०४] इति वर्त्तमाने “आतश्चोपसर्गे” [पा. ३. १. १३६] इत्यनेन अङ्प्रत्ययः, अनुबन्धलोपे कृते “आतो लोप इति च विङ्गति” [पा. ६. ४. ६४] इत्यनेन चाकारलोपे कृते परगमने च “अजाद्यतष्टाप्” [पा. ४. १. ४] इति टाप् प्रत्ययः, अनुबन्धलोपः, परगमनं विधा, पञ्च विधा अस्येति समासः “ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य” [पा. १. २. ४७] इति वर्त्तमाने “गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य” [पा. १. २. ४८] इत्यनेन ह्रस्वत्वम्, सुअम्भावः ‘पञ्चविधं’ पञ्च-
10 प्रकारमिति, एतदेवमनवद्यम्, कुव्याख्याव्यपोहार्थं चैतदेवं निदर्शितमित्यलं प्रसङ्गेन । ‘प्रज्ञप्तं’ परूपितम् । कैः?— अर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतो गणधरैरिति । उक्तं च—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं । सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पत्रचइ ॥१॥

[आव. नि. गा. ९२] इति ।

अनेन स्वमनीषिकाव्यपोहमाह । अथवा ‘प्राज्ञाप्तं’ प्राज्ञात्-तीर्थकरादाप्तमिति-प्राप्तं गौतमादिभिः । अथवा
15 प्राज्ञैराप्तं प्राज्ञाप्तं गौतमादिभिः । प्रज्ञया वाऽऽप्तं प्रज्ञाद्वाऽऽप्तं प्रज्ञाप्तम्, सर्वैरेव संसारिभिरिति । तथाहि-न प्रज्ञा-
विकलैरिदमवाप्यत इति भावनीयम् । ‘तद्यथा’ इति उदाहरणोपन्यासार्थः । आभिनिवोधिकज्ञानं १ श्रुतज्ञानं २
अवधिज्ञानं ३ मनःपर्यायज्ञानं ४ केवलज्ञानं ५ चेति ।

तत्राऽर्थाभिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः, स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकम् । अभिनिबोधे
वा भवं तेन वा निर्वृत्तं तन्मयं तत्प्रयोजनं वेत्याभिनिबोधिकम् । अभिनिबुध्यते वा तदित्याभिनिबोधिकं-अवग्रहादि-
20 रूपं मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितरूपत्वाद् अभेदोपचारादित्यर्थः । अभिनिबुध्यते [वा]ऽनेनेत्याभिनिबोधिकम्,
तदावरणक्षयोपशम इति भावार्थः । अभिनिबुध्यतेऽस्मादिति वा आभिनिबोधिकम्, तदावरणकर्मक्षयोपशम एव ।
अभिनिबुध्यतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशमे सति आभिनिबोधिकम् । आत्मैव वा अभिनिबोधोपयोगपरिणामानन्यत्वा-
दभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम् । आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम् १ ।

तथा श्रूयते इति श्रुतं-शब्द एव, भावश्रुतकारणत्वात्, कारणे कार्योपचारादिति भावार्थः । श्रूयते वा
25 अनेनेति श्रुतम्, तदावरणक्षयोपशम इति हृदयम् । श्रूयतेऽस्मादिति वा श्रुतम्, तदावरणक्षयोपशम एव । श्रूयतेऽ-
स्मिन्निति वा क्षयोपशमे सति श्रुतम् । आत्मैव श्रुतोपयोगपरिणामानन्यत्वाच्छृणोतीति श्रुतम् । श्रुतं च तद् ज्ञानं
च श्रुतज्ञानम् २ ।

तथाऽवधीयतेऽनेनेत्यवधिः । अवधीयत इति-अधोऽधो विस्तृतं परिच्छिद्यते मर्यादया वेति अवधिः, अवधि-
ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम एव, तदुपयोगहेतुत्वादित्यर्थः । अवधीयतेऽस्मादित्यवधिः, तदावरणकर्मक्षयोपशम एव ।
30 अवधीयतेऽस्मिन्निति वेत्यवधिः, भावार्थः पूर्ववदेव । अवधानं वा अवधिः, विषयपरिच्छेदनमित्यर्थः । अवधिश्चासौ
ज्ञानं च अवधिज्ञानम् ३ ।

तथा मनःपर्यायज्ञानमित्यत्र परि-सर्वतोभावे, अयनं अयः गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अयः पर्ययः,

पर्ययनं पर्यय इत्यर्थः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, स एव ज्ञानं मनःपर्यय-
ज्ञानम् । अथवा मनसः पर्याया मनःपर्यायाः, [पर्यायाः-] धर्मा वाङ्मवस्वालोचनादिप्रकारा इत्यनर्थान्तरम्, तेषु
ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, इदं चार्द्धवृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगत-
द्रव्यालम्बनमेवेति भावार्थः ४ ।

तथा केवलम्-असहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम् । शुद्धं वा केवलम्, आवरणमलकलङ्काङ्कुरहितम् । सकलं वा 5
केवलम्, तत्प्रथमतयैवाशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशमिति हृदयम् ।
ज्ञेयानन्तत्वादनन्तं वा केवलम्, यथावस्थिताशेषभूत-भवद्-भाविभावस्वभावावभासीति भावना । केवलं च तद्
ज्ञानं च केवलज्ञानम् ५ ॥

आह-एषां ज्ञानानामित्थमुपन्यासे किं प्रयोजनम् ? इति, उच्यते, इह स्वामि-काल-कारण-विषय-परोक्षत्व-
साधर्म्यात् तद्भावे च शेषज्ञानभावादादावेव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोरुपन्यास इति । तथाहि-य एव मतिज्ञानस्य स्वामी 10
स एव श्रुतज्ञानस्य, “जत्थ मतिणाणं तत्थ सुयणाणं” [सुत्तं ४४] इति वचनान् । तथा यावान् मतिज्ञानस्य स्थिति-
कालस्तावानेवेतरस्य, प्रवाहापेक्षया अतीता-ऽनागत-वर्तमानः सर्व एव, अप्रतिपत्तिनैर्कर्जावापेक्षया च पट्टपट्टिसाग-
रोपमाण्यधिकानीति । उक्तं च भाष्यकारेण—

दो वारे विजयाइसु गयस्स, तिन्नऽच्चुते अहव ताइं । अहरेणं नरभच्चियं, पाणाजीवाण मव्वइं ॥१॥

[विशेष. गा. ७३६] 15

यथा मतिज्ञानं क्षयोपशमहेतुकं तथा श्रुतज्ञानमपि । यथा च मतिज्ञानमादेजनः सर्वंश्रव्यादिविषयमेतं
श्रुतज्ञानमपि । यथा मतिज्ञानं परोक्षं एवं श्रुतज्ञानमपीति । तथा मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोरैव अत्रव्यादिज्ञानभावादिनि ।
आह-एवमपि मतिज्ञानमादौ किमर्थम् ? इति, उच्यते, मतिपूर्वकत्वाद् विमिष्टोपयोग्यत्वात्ता श्रुतग्याऽऽदौ मति
ज्ञानमिति । उक्तं च—

मतिपुब्बं जेण सुयं तेणाऽऽदीए मती, विमिट्टो वा । मतिमेथो सेव सुयं, तो मतिममनेवं मतिथं ॥२॥ 20

[विशेष. गा. ६१]

इति पर्याप्तं विस्तरं ।

तथा काल-विपर्यय-ग्यामि-त्याभसाधर्म्यान्मति-श्रुतज्ञानानामपि मति-श्रुतज्ञानयोरेवभावः । एतदिति-यातने ।
मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोः स्थितिकालः प्रवाहापेक्षयाऽप्रतिपत्तिनैरस्यत्वात्परोक्षत्वात् । एतदिति-यातने । एतदिति-यातने ।
स्थितिसाधर्म्यम् । तथा यथैव मतिज्ञान-श्रुतज्ञाने विपर्ययज्ञाने भवति एतदिति-यातने । एतदिति-यातने ।
पर्ययसाधर्म्यम् । तथा य एव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोः स्वामी स एव मतिज्ञानमपि श्रुतज्ञानमपि । यथा
विभक्तज्ञानिनश्चिदसादेः सम्यग्दर्शनायाप्तौ सुगणदेव ज्ञानजनयः सम्यग्दर्शनं ज्ञानसाधर्म्यम् ।

तथा तदर्थ-विषय-भारा-ऽभ्यक्षताधर्म्यादेवमति-श्रुतज्ञानयोरेवभावः । एतदिति-यातने ।
ऽऽभिज्ञाने तदर्थस्य भवति एवं मनःपर्यायज्ञानमपि तदर्थस्यैवेति तदर्थसाधर्म्यम् । तथा तदर्थ-ऽऽभिज्ञान-
ऽऽभिज्ञानविषयमेवं मनःपर्यायज्ञानमपि सासान्तेनेति विषयसाधर्म्यम् । तथा तदर्थ-ऽऽभिज्ञान-
मनःपर्यायज्ञानमपि भावसाधर्म्यम् । तथा यथाऽऽभिज्ञाने प्रत्यक्षमेवं मनःपर्यायज्ञानमपि तदर्थसाधर्म्यम् ।

तथा मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानयोरेवभावः, तस्य मदनज्ञानोपलक्षणं । तथाऽऽभिज्ञान-
विषयसाधर्म्यम् ।

धर्म्यात्, तथाहि—यथा मनःपर्यायज्ञानमप्रमत्तयतेरेव भवति एवं केवलज्ञानमप्यप्रमत्तभावयतेरेवेति साधर्म्यम् । तथाऽवसानलाभाच्च, यो हि सर्वज्ञानानि समासादयति स खल्वन्त एवेदमाप्नोतीति भावना । विपर्ययाभावसाधर्म्याच्च, तथाहि—यथा मनःपर्यायज्ञानं विपर्ययज्ञानं न भवति एवं केवलज्ञानमपीति साधर्म्यम् । अलं विस्तरेणेति सूत्रार्थः ॥

5 ९. तं समासओ द्विविहं पण्णत्तं, तं जहा—पञ्चकखं च परोकखं च ।

९. तं समासतो द्विविहं पन्नत्तमित्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या—‘तत्’ पञ्चप्रकारं ज्ञानं ‘समासतः’ सङ्क्षेपेण ‘द्विविधम्’ इति द्वे विधे अस्येति ‘द्विविधं’ द्विप्रकारं ‘प्रज्ञप्तं’ प्ररूपितम् । ‘तद्यथा’ इति उदाहरणोपन्यासार्थम् । प्रत्यक्षं च परोक्षं च । तत्र प्रत्यक्षमित्यत्र जीवोऽक्षः । कथम् ? “अशू व्योप्तो” [पा. धातु. १२६५] इत्यस्य ज्ञानात्मनाऽश्नुतेऽर्थानित्यक्षः, व्याप्नोतीत्यर्थः, “अश भोजने” [पा. धातु. १५२४] इत्यस्य वाऽश्नाति 10 सर्वार्थानिति अक्षः, पालयति भुङ्क्ते चेत्यर्थः, तमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्, आत्मनोऽपरनिमित्तमव्याघतीन्द्रियमिति भावार्थः । ‘चशब्दः’ स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपरः । विचित्रतां चास्योत्तरत्र वक्ष्यामः । ‘परोक्षं च’ इत्यत्र अक्षस्य—आत्मनः द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्तन्ते, पृथगित्यर्थः, तेभ्योऽक्षस्य यद् ज्ञानमुत्पद्यते तत् परोक्षम्, परनिमित्तत्वात्, धूमादग्निज्ञानवत् । अथवा परैः उक्षा—सम्बन्धनं विषय-विषयिभाव-लक्षणमस्येति परोक्षम् । चशब्दः पूर्ववत् । एवमन्यत्राप्युत्प्रेक्ष्य चशब्दार्थो वक्तव्य इति सूत्रार्थः ॥

15 एवं भेदद्वये उपन्यस्ते सति अनयोः सम्यक् स्वरूपमनवगच्छन्नाह चोदकः—

१०. से किं तं पञ्चकखं? पञ्चकखं द्विविहं पण्णत्तं, तं जहा—इंदियपञ्चकखं च णोइंदियपञ्चकखं च ।

१०. से किं तं पञ्चकखं? इत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या—सेशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातोऽथशब्दार्थे वर्तते, स च प्रक्रियादिवाचकः । यथोक्तम्—“अथ प्रक्रिया-प्रश्ना-ऽऽनन्तर्य-मङ्गलोपन्यास-प्रतिवचन-समुच्चयेषु” 20 इहोपन्यासार्थः । ‘किम्’ इति परिप्रश्ने । ‘तत्’ प्रागुपदिष्टं प्रत्यक्षमिति सूत्रार्थः ॥ एवं चोदकेन प्रश्ने कृते सति न्यायप्रदर्शनार्थमाचार्यश्वेदकोक्तानुवादद्वारेण निर्वचनमभिधातुकाम आह—

पञ्चकखं द्विविहं पन्नत्तमित्यादि सूत्रम् । एवमन्यत्रापि यथायोगं प्रश्न-निर्वचनसूत्राणां पातनिका कार्येति । प्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—इन्द्रियप्रत्यक्षं च नोइन्द्रियप्रत्यक्षं च । इन्द्रियाणां प्रत्यक्षं इन्द्रियप्रत्यक्षम् । इहेन्द्रः—स्वरूपतो ज्ञानाद्यैश्वर्ययुक्तत्वादात्मा, तस्येदमिन्द्रियम् । तच्च द्विधा—द्रव्येन्द्रियं च भावेन्द्रियं च । तत्र 25 पुद्गलैर्वायसंस्थाननिर्गच्छिः कदम्बपुष्पाद्याकृतिविशिष्टोपकरणं च द्रव्येन्द्रियम्, “निर्गच्छुपकरणे द्रव्येन्द्रियम्” [तत्त्वा. २. १७] इति वचनात् । श्रोत्रेन्द्रियादिविषया सर्वोत्तमप्रदेशानां तदावरणक्षयोपशमलब्धिरूपयोगश्च भावेन्द्रियम्, “लब्धुपयोगो भावेन्द्रियम्” [तत्त्वा. २. १८] इति वचनात् । इन्द्रियप्रत्यक्षं न भवतीति नोइन्द्रिय-प्रत्यक्षम्, नोशब्दः सर्वप्रतिषेधे ॥

११. से किं तं इंदियपञ्चकखं? इंदियपञ्चकखं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा—सोइंदिय- 30 पञ्चकखं १ चकिखदियपञ्चकखं २ घाणिंदियपञ्चकखं ३ रसणोदियपञ्चकखं ४ फासिंदियपञ्चकखं ५ ।

१ “म्यापो मदाने च” इति पाणिनिधामुपादे ॥

से तं इंदियपञ्चकम् ।

११. से किं तमित्यादि । अथ किं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ? इन्द्रियप्रत्यक्षं पञ्चविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमित्यादि । श्रोत्रेन्द्रियस्य श्रोत्रेन्द्रियप्रधानं वा प्रत्यक्षं श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षम्, श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तमित्यर्थः । एवं शेषेष्वपि वक्तव्यम् । एतच्चोपचारतः प्रत्यक्षम्, न परमार्थतः । कथं ज्ञायते ? इति चेत्, सूत्रप्रामाण्यात् । वक्ष्यति च-“परोक्षत्वं द्रुविहं पञ्चत्वं, तंजहा-आभिणिषोद्विषणाणपरोक्षत्वं च” [सूत्रं १३] । न च मति-श्रुताभ्यामिन्द्रिय-मनोनिमित्तमन्यदस्ति यत् प्रत्यक्षमज्ञाना भवेत्, भावे च पण्डितानप्रसङ्गाद् विरोध इति, तस्मात् परोक्षमेवेदं तच्चत इति ।

आह-इह लोके ‘ल्लिङ्गं परोक्षम्’ इति प्रतीतिमिति, उच्यते, इह यदिन्द्रिय-मनोभिर्वाद्यल्लिङ्गप्रत्यक्षमुत्पद्यते तदेकान्तनैवेन्द्रियाणामात्मनश्च परोक्षम्, परनिमित्तत्वात्, भ्रूमादभिज्ञानवदिति, अतः परोक्षमिति प्रतीतिः । यत् पुनः साक्षादिन्द्रिय-मनोनिमित्तं तत् तेषामेव प्रत्यक्षम्, अल्लिङ्गत्वात्, आत्मनोऽवध्यादिवत्, न त्वात्मनः, आत्मनस्तु तत् परोक्षमेव, परनिमित्तत्वात्, ल्लिङ्गकवत् । इन्द्रियाणामपि तदुपचारतः प्रत्यक्षम्, न परमार्थतः, कथम् ? अचेतनत्वादिति, अत्र बहु वक्तव्यं तच्चान्यत्र वक्ष्यामः, मा भूत् प्रथमग्रन्थ एव प्रतिपत्तिर्गौरवमित्यलं विस्तरेण ।

आह-स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणीन्द्रियाणीति क्रमः, अयमेव च ज्यायान्, पूर्वपूर्वव्याप्त एतोरुत्तर-व्याभात्, अतः किमर्थमुत्क्रमः ? उच्यते, पश्चानुपूर्व्यादिन्यायज्ञापनार्थं न्यष्टसंवेदनद्रोणे सुखप्रतिपत्त्यर्थं चेति ।

इह मनोज्ञानमपीन्द्रियज्ञानतुल्ययोग-अममेव द्रष्टव्यम्, तथा चाभिनिषोधिकज्ञानप्रत्यक्षतायां प्रवक्ष्याम इति ।
 “से चं इंदियपञ्चकम्” तदेतदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ॥

१२. से किं तं णोइंदियपञ्चकम् ? णोइंदियपञ्चकम् त्रिविधं पणसं, तं जहा-ओहि-णाणपञ्चकम् १ मणपज्जवणाणपञ्चकम् २ केवलणाणपञ्चकम् ३ ।

१२. से किं तं णोइंदियपञ्चकम् ? इत्यादि । अथ किं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ? । णोइंदियपञ्चकं त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-अवधिज्ञानप्रत्यक्षमित्यादि ॥

१३. से किं तं ओहिणाणपञ्चकम् ? ओहिणाणपञ्चकम् द्रुविहं पणसं, तं जहा-भवपञ्चतियं च खयोवसमियं च । दोन्हं भवपञ्चतियं, तं जहा-द्वेषं च पंगवियायं च । दोन्हं खयोवसमियं, तं जहा-मणुस्साणं च पंइंदियतिगिक्कपजोपियायं च ।

१३. से किं तं इत्यादि सूत्रम् । अथ किं तदवधिज्ञानप्रत्यक्षम् ? । अतिज्ञानप्रत्यक्षं त्रिविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-भवपञ्चतियं च १, क्षयोपशमिकं च २ । तत्र भवपञ्चतियं, पूर्वपूर्वव्याप्तः पराजितं द्रुविहं पणसं, जहा-भवपञ्चतियं, दोन्हं भवपञ्चतियं, तं जहा-द्वेषं च पंगवियायं च । दोन्हं खयोवसमियं, तं जहा-मणुस्साणं च पंइंदियतिगिक्कपजोपियायं च ।

दोषमित्यादि । ‘दोषोः’ जीवणस्ययोः भवपञ्चतियं । तदर्थ-दोषान्, जहा-द्वेषं च पंगवियायं च । दोन्हं खयोवसमियं, तं जहा-मणुस्साणं च पंइंदियतिगिक्कपजोपियायं च ।

भवा नारकास्तेषाम् । अत्राह-नन्वधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते, देव-नारकभवश्चौदयिकः, तत् कथं तद् भवप्रत्ययम् ? इति, उच्यते, क्षायोपशमिकमेव तत्, किन्तु स देव-नारकभवे अवश्यम्भावी, पक्षिणां गगनगमनलब्धि-निमित्तवदित्यतो भवप्रत्यय इति । उक्तं च—

उदय-वखय-वखयोवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया । द्दवं खेत्तं कालं भवं च भावं च संपप्प ॥१॥१॥

[विशेषा. गा. ५७५, धर्मसं. गा. ९४९]

तथा द्वयोः क्षायोपशमिकम्, तद्यथा-मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनीनां च । न चैषामवश्यन्तया भवती-त्यतः सत्यपि क्षायोपशमिकत्वे भवप्रत्ययाद् भिन्नमिदमिति २ । तत्रतस्तु सर्वमेव क्षायोपशमिकमिति ॥ अधुना क्षायोपशमस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

१४. को हेऊ खायोवसमियं ? खायोवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं
१० खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुपज्जति । अहवा गुणपडिवणस्स
अणगारस्स ओहिणाणं समुपज्जति ।

१४. को हेऊ इत्यादि । 'को हेतुः' किंनिमित्तं-किंविषयं क्षायोपशमिकम् ? यद्वा किंकारणं, क्षायोपश-मिकम् ? उच्यते इत्यध्याहारः । अत्र निर्वचनमभिधातुकाम आह-क्षायोपशमिकं 'तदावरणीयानाम्' अवधिज्ञानावर-णीयानां कर्मणां 'उदीर्णानां' उदयावल्लिकाप्राप्तानां 'क्षयेण' प्रलयेन 'अनुदीर्णानां च' आत्मनि व्यवस्थितानां
१५ 'उपशमेन' उदयनिरोधेन अवधिज्ञानमुत्पद्यत इति सम्बन्धः, यत् एवमतः कर्मोदयाऽनुदयविषयम् । अथवा येन तदावरणीयानां कर्मणां उदीर्णानां क्षयेणानुदीर्णानामुपशमेनावधिज्ञानमुत्पद्यते तेन क्षायोपशमिकमित्युच्यत इति ।

स च क्षायोपशमो विशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण १ तथा गुणप्रतिपत्तितश्च २ भवति । तत्रान्तरेण-यथाऽऽ-काशे घनघनपटलाच्छादितमूर्त्तैर्दिवसकरमण्डलस्य कथञ्चिदुपजातरन्ध्रेण विनिर्गतास्तिमिरनिचयप्रलयहेतवः किरणाः स्वावपातदेशास्पदं द्रव्यमुद्योतयन्ति तथा प्रकृतिभास्वरस्याऽऽत्मनो मिथ्यात्वादिजनितज्ञानावरणीयादिकर्ममल्प-
२० टलतिमिरतिरस्कृतस्वभावस्यानादौ संसारे परिभ्रमतो यथाप्रवृत्त्योपजातावधिज्ञानावरणक्षयोपशमविवरस्यावधिज्ञा-नालोकः प्रसाधयति स्वकार्यमिति १ । गुणप्रतिपत्तितस्तु मूलगुणादिप्रतिपत्तेर्भवति । यत् आह—

अथवा इत्यादि । 'अथवा' इति प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थम्, अन्तरेण प्रतिपत्तिमित्यस्मादिदं प्रकारान्तरमेव । गुणाः-मूलगुणादयस्तैः प्रतिपन्नः-गृहीतो गुणप्रतिपन्न इति, अनेन अतिशयपात्रतामाह, यतः पात्राश्रयिणो गुणाः । उक्तं च—

२५ नोद्वानर्थितामेति न चाम्भोभिर्न पूर्यते । आत्मा तु पात्रतां नेयः पात्रमायान्ति सम्पदः ॥१॥ []

अथवा प्राकृतशैल्या पूर्वापरनिपातकरणात् प्रतिपन्नगुणस्य 'अनगारस्य' न गच्छन्तीत्यगाः-वृक्षाः, तैः कृतमगारं-गृहम्, नास्यागारं विद्यत इत्यनगारः, परित्यक्तद्रव्य-भावगृह इत्यर्थः, तस्य प्रशस्ताध्यवसायस्य तदाव-रणकर्मक्षयोपशमे सत्यवधिज्ञानं समुत्पद्यते ॥ २ ॥

१५. तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा-आणुगामियं १ अणुगामियं २
२० वड्ढमाणयं ३ हायमाणयं ४ पडिवाति ५ अपडिवाति ६ ।

१५. तं समासतो इत्यादि । 'तद्' अवधिज्ञानं 'समासतः' सङ्क्षेपेण 'षड्विधं' षट्प्रकारं 'प्रज्ञप्तं' प्ररूपितम् । तद्यथा—'आनुगामिकं' अनुगमनशीलमानुगामिकम्, अवधिज्ञानिनं लोचनवद् गच्छन्तमनुगच्छतीति भावार्थः १ । अनानुगामिकं नावधिज्ञानिनं गच्छन्तमनुगच्छति, सङ्कलाप्रतिवद्धप्रदीपवदिति हृदयम् २ । वर्धते वर्द्धमानम्, तदेव वर्द्धमानकम्, संज्ञायां कन्, उत्पत्तिकालादारभ्य प्रवर्द्धमानम्, मह्येननिबन्धनोत्पद्यमानानलज्वालाकलापवदिति भावना ३ । 'हीयमानकं' हीयते हीयमानम्, तदेव हीयमानकम्, कुत्सायां कन्, उदयसमयसमनन्तरमेव हीयमानं दग्धेन्यनप्रायधूमध्वजार्चिर्वातवदित्यर्थः ४ । 'प्रतिपाति' प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, कथञ्चिदापादितजात्यमणिप्रभाजालवदिति गर्भार्थः ५ । 'अप्रतिपाति' न प्रतिपाति अप्रतिपाति, धार-मृत्पुटपाकाद्यापाद्यमानजात्यमणिकिरणनिकरवदित्यभिप्रायः । आह—आनुगामिका-ऽनानुगामिकभेदद्वय एव शेषभेदानां वर्द्धमानकार्दानामन्तर्भावान् किमर्थमुपन्यासः ? इति, उच्यते, सत्यप्यन्तर्भावे तद्विकल्पद्वयादेव तेषामपरिच्छिन्नेः, तथाहि—नाऽऽनुगामिकमनानुगामिकं चेत्सुक्ते वर्द्धमानकादयो गम्यन्त इति, अत्रातज्ञापनार्थं च शास्त्रमृत्तितिरित्यलं प्रसङ्गेन ॥

१६. से किं तं आणुगामियं ओहिणाणं ? आणुगामियं ओहिणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंतगयं च मज्झगयं च ।

१६. से किं तमाणुगामियमित्यादि । अथ किं तदानुगामिकमवधिज्ञानम् ? आनुगामिकमवधिज्ञानं त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अन्तगतं च १ मध्यगतं च २ । इहान्तः—पर्यन्तो भण्यते, वनान्तवनं. गतं स्थितमित्यनर्थान्तरम्, अन्ते गतं 'अन्तगतं' अन्ते स्थितम् । तत्र फट्टकावधित्वादात्मप्रदेशान्ते, सर्वान्मप्रदेशोपयोगभावतो ना औदारिकशरीरान्ते, एकदिगुपलम्भाद्वा तदुद्योत्तिक्षेत्रान्ते गतमन्तगतम् । इह चाऽऽन्मप्रदेशान्तगतमुच्यते. मत्तल्लजीवोपयोगे सत्यपि साक्षादेकदेशेनैव दर्शनात्; औदारिकशरीरान्तगतमपि. औदारिकशरीरैकदेशेनैव दर्शनात्; यथोक्तक्षेत्रान्तगतं तत्रधिमतरस्तदन्तवृत्तेरिति भावना १ । चशब्दः पूर्ववत् । 'मध्यगतं' इह मध्यः प्रसिद्ध एव दृष्टादिमध्यवत्, मध्ये गतं 'मध्यगतं' मध्ये स्थितम् । तत्र सर्वत्र फट्टकावधिदेगन्मध्ये सर्वान्मप्रदेशोपयोगे वा क्षयोपशमयोगाविशेषेऽपि औदारिकशरीरमध्येपल्लव्यैः तन्मध्ये. सर्वदिग्मन्मप्रदेशोपयोगे वा मध्ये मध्यगतम् । अत्र चात्ममध्यगतमभिधीयते, सर्वात्मोपयोगे सत्यपि मध्य एव फट्टकावधिदेगन्मध्ये सर्वान्मप्रदेशोपयोगे औदारिकशरीरमध्येगतमपि, औदारिकशरीरमध्येभागैर्नोपल्लव्यैः मन्मध्ये मध्यगतम् । अत्र चात्ममध्यगतमभिधीयते मध्ये भावादिति भावार्थः । चशब्दः पूर्ववत् ॥

१७. से किं तं अंतगयं ? अंतगयं त्रिविहं पण्णत्तं. तं जहा-पुरओ अंतगयं ? मग्गओ अंतगयं २ पासतो अंतगयं ३ ।

१८. से किं तं पुरतो अंतगयं ? पुरतो अंतगयं से जहानान्ण वेह पुरिसे उं वा चुडलिअं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पदीइं वा पुरओ काइं एणोहेमाणे एणोहेमाणे गन्तेज्जा । से तं पुरओ अंतगयं १ ।

१७-१८. से किं तमित्यादि प्रायः सुगमम् । नवरं इत्यादि विविधाः । चुडली-अन्तगतम् । अलायं-अन्तगतम् । मणिः-पद्मरागादिः । पदीइं-पद्मरागादिः । पुरओ-पुरतो अंतगयं । एणोहेमाणे-एणोहेमाणे गन्तेज्जा । 'पुरतो' अग्रतो एतदन्तगतं इति । 'एणोहेमाणे' एणोहेमाणे गन्तेज्जा ।

यायात् “से चं” तदेतत् पुरतोऽन्तगतम् । अयमत्र भावार्थः—स हि गच्छन् उत्कादिभ्यः सकाशात् पुरत एव पश्यति, नान्यत्र, एवं यतोऽवधिज्ञानाद् विविधक्षयोपशमनिमित्तत्वाद् देशपुरत एव पश्यति, नान्यत्र, तत् पुरतोऽन्तगतमभिधीयते इत्येतावतांऽंशेन दृष्टान्त इत्येवं सर्वत्र योज्यम् ? ॥

१९. से किं तं मग्गओ अंतगयं ? मग्गओ अंतगयं से जहाणामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे गच्छेज्जा । से चं मग्गओ अंतगयं २ ।

२०. से किं तं पासओ अंतगयं ? पासओ अंतगयं से जहाणामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छेज्जा । से चं पासओ अंतगयं ३ । से चं अंतगयं ।

१९-२०. से किं तमित्यादि निगदसिद्धम् । नवरं “अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे” त्ति अनुकर्पन् अनुकर्पन् २ । एवं “परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे” त्ति परिकर्पन् परिकर्पन् ३ ॥

२१. से किं तं मज्झगयं ? से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा मत्थए काउं गच्छेज्जा । से तं मज्झगयं ।

२१. अथ किं तन्मध्यगतमित्यादि निगदसिद्धमेव । नवरं ‘मस्तके’ शिरसि कृत्वा गच्छेत् तदेतन्मध्यगत-मिति । एतदुक्तं भवति—स तेन मस्तकस्थेन सर्वत्र तत्प्रकाशितमर्थं पश्यति, परमेवं यतोऽवधिज्ञानात् तदुद्योतितार्थावगमस्तन्मध्यगतमित्येतावतांऽंशेन दृष्टान्त इति ॥ इह व्याख्यानार्थं सम्यगनवगच्छन्नाह चोदकः—

२२. अंतगयस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो ? पुरओ अंतगएणं ओहिणाणेणं पुरओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, मग्गओ अंतगएणं ओहिणाणेणं मग्गओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, पासओ अंतगएणं ओहिणाणेणं पासओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणां जाणइ पासइ, मज्झगएणं ओहिणाणेणं सब्बओ समंता संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणां जाणइ पासइ । से तं आणुगामियं ओहिणाणं ।

२२. अंतगतस्स य इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत् “मज्झगतेण”मित्यादि । मध्यगतेनावधिज्ञानेन ‘सर्वतः’ सर्वासु दिग्भिदिक्षु ‘समन्तात्’ सर्वैरात्मप्रदेशैर्विशुद्धफट्टकैर्वा सद्दयेयानि वा असद्दयेयानि वा योजनानि जानाति पश्यति । अथवा ‘स मन्ता’ अवधिज्ञान्येव गृह्यते, सद्दयेयानि चेत्यत्र सद्दयायन्त इति सद्दयेयानि—एकादीनि शीर्षप्रदेशैःकापर्यन्तानि गृह्यन्ते, तत ऊर्ध्वमसद्दयेयानि, तदेतदानुगामुकमवधिज्ञानमिति ? ॥

२३. से किं तं अणाणुगामियं ओहिणाणं ? अणाणुगामियं ओहिणाणं से जहा-

गामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइडाणं काउं तस्सेव जोइडाणस्स परिपेरंतेहिं परिपेरंतेहिं
परिघोलेमाणे परिघोलेमाणे तमेव जोइडाणं पासइ, अण्णत्थ गए ण पासइ, एवमेव
अणाणुगामियं ओहिणाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा
संवद्दाणि वा असंवद्दाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, अण्णत्थ गए ण पासइ । से तं
अणाणुगामियं ओहिणाणं २ ।

5

२३. से किं तमित्यादि प्रकटार्थमेव । नवरं 'ज्योतिःस्थानं' अप्रिस्थानं कृत्वा तस्यैव ज्योतिःस्थानस्य
पर्यन्तेषु, किमेकदिग्गतेषु ? नेत्याह—परिः—वर्धतोभावे, तत्रश्च परिपर्यन्तेषु परिपर्यन्तेषु 'परिचूर्णं' परिभ्रमन्
इत्यर्थः; तदेव 'ज्योतिःस्थानं' ज्योतिःप्रकाशितं क्षेत्रमित्यर्थः पश्यति. अन्यत्र गतो न पश्यति, तदुपलम्भा-
भावात्, तदावरणक्षयोपशमस्य तत्क्षेत्रसम्बन्धसापेक्षत्वात्, एवमेव अनानुगामिकवधिज्ञानं यत्रैव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य
सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्यवस्थितः सन् सद्ध्येयानि वाऽसद्ध्येयानि वा योजनानि सम्बद्धानि वा असम्बद्धानि 10
वा जानाति पश्यति, नान्यत्र, तत्क्षेत्रसम्बन्धसापेक्षत्वात्तद्वधिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य । तदेतदनानुगामिकम् २ ॥

२४. से किं तं वड्डमाणयं ओहिणाणं ? वड्डमाणयं ओहिणाणं पसत्येसु अज्झ-
वसाणह्वाणेषु वट्टमाणस्स वट्टमाणवरित्तस्स विमुज्जमाणस्स विमुज्जमाणवरित्तस्स
सव्वओ समंता ओही वड्डइ ।

जावतिया तिसमयाहारगस्स मुहुमस्स पणगजीवस्स ।

15

ओगाहणा जहन्ना ओहीखेत्तं जहत्तं तु ॥ १५ ॥

सव्ववहुअगणिजीवा णिरंतं जत्थिं भरेज्जांत्तु ।

खेत्तं सव्वदिसागं परमोही खेत्तनिदिदो ॥ १६ ॥

अंगुलमावलियाणं भागसमंसंखेज्ज. दोत्तु संखेज्जा ।

अंगुलमावलियंतो. आवलिया अंगुलप्राणं ॥ १७ ॥

20

हत्थग्गि मुहुत्तंतो. दिवसंतो नाउपग्गि वेत्तव्वो ।

जोयण दिवसपुहत्तं. पक्खंतो पण्णदीमाओ ॥ १८ ॥

भरत्थग्गि अल्लसामी. जंहुदीवग्गि लत्थिओ सामी ।

वासं च भण्णत्थोण. वात्तपुहत्तं च सव्वग्गि ॥ १९ ॥

संसंखेज्जग्गि उ काले दीइ-सुहवा रि होत्ति संखेज्जा ।

25

कालग्गि असंसंखेज्जे दीव-सुहवा उ भण्णत्थो ॥ २० ॥

क्रियापरिसमाप्तिः । आत्मनः शरीरेन्द्रिय-प्राणापान-वाङ्-मनोयोग्यदलिकद्रव्याहरणक्रियापरिसमाप्तिराहार-
 पर्याप्तिः १। गृहीतस्य शरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्तिः शरीरपर्याप्तिः, संस्थानरचनाघटनमित्यर्थः २। त्वगा-
 दीन्द्रियनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः ३। प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्यग्रहणशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिः
 प्राणापानपर्याप्तिः ४। भापायोग्यद्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिः भापापर्याप्तिः ५। मनस्त्वयोग्य-
 5 द्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरित्येके । आसां युगपदारब्धानामपि क्रमेण परिसमाप्तिः,
 उत्तरोत्तरसूक्ष्मतरत्वात् । अत्र चाऽऽद्याश्चतस्र एकेन्द्रियाणाम्, पञ्च विकलेन्द्रियाणाम्, षट् संज्ञिनाम् । उक्तं च—
 आहार सरीरिंदिय पञ्जत्ती आणुपाण भास मणे । चत्तारि पंच छ प्पि य एगिंदिय-विगल-सन्नीणं ॥ १ ॥

[वृहत्सं. गा. ३४९]

तत्र पर्याप्तकनामकर्मोदयाद् निष्पद्यमाननिष्पन्नपर्याप्तिमन्तः पर्याप्ताः, “अर्शआदिभ्यः” [पा. ५-२-१२७]
 10 इत्यच् मत्वर्थीयः, त एव पर्याप्तकाः । एवमपर्याप्तकनामकर्मोदयादनिष्पन्नपर्याप्तियोगादपर्याप्ताः, त एवापर्याप्तका
 इति । सम्यग्-अविपरीता दृष्टिर्हेपां ते तथा । मिथ्या-विपरीता दृष्टिर्हेपां ते तथा । सम्यग्मिथ्यादृष्टयस्तु
 प्रतिपच्यभिमुखान्तर्मुहूर्तमात्रं भवन्ति, न तु परित्यागाभिमुखाः । यत् उक्तम्—

मिच्छत्ता संकंती अविरुद्धा होइ सम्म-मीसेसु । मीसाओ वा दोसु वि, सम्मा मिच्छं, न पुण मीसं ॥ १ ॥

[कल्पभा. गा. ११४].

15 संयताः—सकलचारित्रिणः । असंयताः—अविरतसम्यग्दृष्टयः । संयतासंयताः—देशविरतिमन्तः श्रावकाः ।
 प्रमत्तसंयताः—गच्छवासिनः, कचिदनुपयोगसम्भवात् । अप्रमत्तसंयतास्तु—जिनकल्पिकादयः, सततोपयोगात्; अथवा
 गच्छवासिनः तन्निर्गताश्च परिणामविशेषतः प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्चाद्गन्तव्या इति । आमर्षोपन्यादिलब्धिलक्षणा ऋद्धयः,
 तासामन्यतरप्राप्तियोगात् प्राप्त्यर्थः अत्रधिऋद्धिभावाद्वा । अन्ये त्ववधिऋद्धौ नियममभिदधति । इह च सर्वत्रैव
 मनुष्यादिषु विधाने सत्यर्थतो गम्यमानस्यापि विपक्षनिषेधस्याभिधानमव्युत्पन्नविनेयजनानुग्रहार्थमदुष्टमेवेति ।
 20 तथाहि—सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रम्, त्रिविधाश्च विनेया भवन्ति, तद्यथा—उद्वटितज्ञाः १ मध्यमनुद्धयः २ प्रपञ्चधिय-
 ३ श्वेत्यलं विस्तरेण । स्थितमेतत्—प्राप्त्यर्थप्रमत्तसंयतानामुत्पद्यते ॥

३१. तं च दुविहं उप्पज्जइ, तं जहा—उज्जुमती य विउलमती य ।

३१. एतच्चोत्पद्यमानं द्विधोत्पद्यते, तद्यथा—ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च । मननं मतिः, संवेदनमित्यर्थः,
 ऋज्वी—सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः, ‘घटोऽनेन चिन्तितः’ इत्यध्यवसायनिबन्धनमनोद्रव्यप्रतिपत्तिरित्यर्थः ।
 25 एवं विपुला—विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः, ‘घटोऽनेन चिन्तितः, स च सौवर्णः पाटलिपुत्रकोऽद्यतनो महान्’
 इत्याद्यध्यवसायहेतुभूतमनोद्रव्यविज्ञप्तिरिति भावार्थः । अस्यां व्युत्पत्तौ स्वतन्त्रं ज्ञानमेव गृह्यत इति । अथवा ऋज्वी-
 सामान्यग्राहिणी मतिरस्य सोऽयं ऋजुमतिः, तद्वानेव गृह्यते । एवं विपुला—विशेषग्राहिणी मतिरस्येति विपुलमतिः,
 तद्वानेव । भावार्थः प्राग्बद्, उत्तरत्र वा वक्ष्यामः ॥

३२. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—द्व्वओ खेत्तओ कालओ भावओ ।
 30 तत्तय द्व्वओ णं उज्जुमती अणंते अणंतपदेसिए खंधे जाणइ पासइ, ते चेव विउलमती

१ दोषिण वि, ण उ सम्मा परिणमे मीसं इति कल्पमाप्ये ॥

अव्यहियतराण् जाणति पासति । खेत्तओ णं उज्जुमती अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए
 पुढ्वीए उवरिमहेड्डिलाइं खुड्ढागपयराइं उड्ढं जाव जोतिसस्स उवरिमतले तिरियं जाव अंतोमणु-
 स्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु सण्णीणं पंचेदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगते भावे जाणइ
 पासइ, तं चेव विउलमती अड्ढाइज्जेहिं अंगुलेहिं अव्यहियतराणं विउलतराणं विसुद्धतराणं
 वितिमिरतराणं खेत्तं जाणति पासति । कालओ णं उज्जुमती जहण्णेणं पलिओ- 5
 वमस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं पि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं अतीयमणागयं वा
 कालं जाणति पासति, तं चेव विउलमती अव्यहियतराणं विउलतराणं विसुद्धतराणं विति-
 मिरतराणं जाणइ पासइ । भावओ णं उज्जुमती अणंते भावे जाणइ पासइ सव्वभा-
 वाणं अणंतभागं जाणइ पासइ, तं चेव विउलमती अव्यहियतराणं विउलतराणं विसुद्धत-
 राणं वितिमिरतराणं जाणइ पासइ । 10

३२. तं समास्ततो इत्यादि । तत् समास्ततश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—द्रव्यतः १ क्षेत्रतः २ कालतो ३ भावतः ४ ।
 तत्र द्रव्यतः “णं” इति पूर्ववत्, ऋजुमतिः ‘अनन्तान्’ अपरिमितान् ‘अनन्तप्रदेशकान्’ अनन्तपरमाण्वात्मकानित्यर्थः,
 ‘स्कथान्’ विशिष्टैकपरिणामपरिणतान् सञ्ज्ञाभिः पञ्चेन्द्रियैः पर्याप्तकैरुत्तृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्त्तिभिर्मनस्त्वेन परि-
 णामितानित्यर्थः, ‘जानीते’ इति मनःपर्यायज्ञानावरणक्षयोपशमस्य पटुत्वात् साक्षात्कारेण विशेषभूयिष्ठपरिच्छेदा-
 जानीत इत्युच्यते । तदालोचितं पुनरर्थं घटादिलक्षणमध्यक्षतो न जानाति, किन्तु तत्परिणामान्यथाऽनुपपत्त्या- 15
 ऽनुमानतः पश्यतीत्युच्यते । उक्तं च भाष्यकारेण—“जाणति वज्जेऽणुमाणाओ” [विशेषा. ना. ८१४] चि । इत्थं
 चेतदद्वीकर्त्तव्यम्, यतो सूक्ष्मद्रव्यालम्बनमेवेदम्, मन्तारस्त्वमूर्त्तमपि धर्माग्निकायादिकं मन्येरन्, न च तदनेन
 साक्षात्कर्तुं शक्यते । तथा चतुर्विधं च चक्षुर्दर्शनादि दर्शनयुक्तम्, अतो भिन्नालम्बनमेवेदमवशेषम्, तत्र च दर्शन-
 सम्भवात् पश्यतीत्यपि न दुष्टम्, एकप्रमात्रपेक्षया तदन्तरभादिद्वयोपन्यम्भमिति । शोचतो वा एकविधसयो-
 पशमलब्धौ विविधोपयोगसम्भवाद् विशेष-सामान्यार्थापेक्षया जानाति पश्यति चेन्नदृष्टमिन्यत् विन्नरेण । तानेव 20
 त्रिपुलमतिः अभ्यधिकतरान् स्कन्धान् द्रव्यार्थतया वर्णादिभिश्च जानाति पश्यति च ? । क्षेत्रतः ऋजुमतिः अयो
 यावदस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरिमाधस्त्यानि क्षुद्रकमतराणीति । अतः कालपरिणामार्थमिदं पश्यति जानति—

तिरियलोकस्स उड्ढा-ऽअमट्टारसजोयणत्ततियस्स दाणुमज्जे एणअसंखेदियंणुयकारेणो लोगाणागवतमा अयो-
 नेण संवेदिया सव्वखुड्ढातरा सुहागपतरा चि अणंति, ते च सव्वतो रज्जुपमाणा । तेमि [दि] यदुमज्जे दो पुट्टार-
 पतरा तेमि [पि] यदुमज्जे अंबुदीवे रयणप्पभापुढ्वीदत्तुमभूमिभागे संवेदस्स वदस्सत्ते एणउड्ढपत्तो रयणो उतो दिमि- 25
 चिदिसिदिभागां पवत्तो, एणं तिरियलोयमज्जे । एयातो तिरियलोयमज्जातो रज्जुपमाणापुट्टारपवत्तितो उरि
 तिरियं असंखेयंणुयमानुद्वी, उवरितुत्तो पि अंगुलअसंखेयमानुत्तो चेव, एवं तिरियमूर्त्तिं च अंगुलअसंखेयमानु-
 द्वीए ताव लोणमुद्वी पेय्या जाव उड्ढलोपमज्जे, ततो पुणो तेपेव कामेणं संवेदो कवत्तने जाव उरिण-
 लोणंते रज्जुपमाणा, ततो उड्ढलोपमज्जातो उरिं दिता च कामेण पुट्टानत्तमा अमित्तया जाव रज्जुपमाणा 30
 सुहागपतरा चि । तिरियलोयमज्जरज्जुपमाणसुहागपतरंतिवो दि वेदा अंगुलअसंखेयमानुद्वी तिरियं, अयो-

अवगाहेण वि अंगुलस्स असंखेयभागो चेव, एवमहोलोगो वड्ढेयव्वो जाव अहोलोगंतो सत्तरज्जूओ, सत्तरज्जू-
पतरेहिंतो वि उवरिं कमेण खुट्ठागपयरा भाणियव्वा जाव तिरियल्लोयमज्झा रज्जुप्पमाणा खुट्ठागपयर ति ।

एवं खुट्ठागपरुवणे कते इमं भन्नइ—“उवरिम” ति तिरियल्लोयमज्झाओ अहो जाव णव जोयणसयाणि
ताव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीते उवरिमखुट्ठागपतर ति भण्ति, तदधो अधोलोगे जाव अहोलोगिया गाम ति
5 एए हेट्ठिमखुट्ठागपयर ति भण्ति, रिजुमती अहो ताव पस्सति ति भणियं होइ । अहवा अहोलोगस्स उवरिमा
खुट्ठागपयरा तिरियल्लोयमज्झा य हेट्ठिमा खुट्ठागपयर ति ते जाव पश्यतीत्यर्थः । अत्रे भण्ति—“उवरिम” ति
अधोलोगोवरि जे ते उवरिमा, के य ते ?, उच्यते, सव्वतिरियल्लोयवत्तिणो तिरियल्लोयमज्झा वा अहो नवजोयण-
सतवत्तिणो, ताण चेव जे हेट्ठिमा ते जाव पश्यतीत्यर्थः, इमं च ण घटति, अहोलोइयगाममणपज्जवणाणसंभव-
वाहल्लत्तणओ (? संभवपाहणत्तणओ) । उक्तं च—

10 इहाधोलौकिका ग्रामा न तिर्यग्लोकवत्तिनः । मनोगतांस्त्वसौ भवान् वेत्ति तद्वर्त्तिनामपि ॥१॥

[]

अलं प्रसङ्गेन । एवमूर्ध्वं यावज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितलम्, तिर्यग् यावद् ‘अन्तोमनुष्यक्षेत्रे’ मनुष्यलोकान्त
इत्यर्थः । शेषं सुगमं यावत् “सण्णीणं पंचिंदियाणं” इत्यादि । तत्र संज्ञिनोऽपान्तरालगतावपि तदायुष्कसंवेदना-
दभिधीयन्त एव, न तैरिहाधिकार इत्यतः पञ्चेन्द्रियग्रहणम्, तेऽपि चोपपातक्षेत्रपाप्ता अपि मनःपर्याप्त्या अपर्याप्तका
15 अपि भण्यन्ते, न च तैरपीहाधिकार इत्यतः पर्याप्तग्रहणमिति । स्वरूपकथनं वा सञ्ज्ञानं पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्त-
कानामिति । अथवा संज्ञिनो हेतुवादोपदेशेन विकलेन्द्रिया अपि भण्यन्ते, तद्वच्यवच्छेदार्थं पञ्चेन्द्रियग्रहणम्, तेऽप्य-
पर्याप्तका अपि भवन्ति अतः पर्याप्तग्रहणमिति । “तं चेवे”त्यादि, इह क्षेत्राधिकारस्यैव प्राधान्यात् ‘तदेव’ मनो-
व्यिसमन्वितजीवाधारं क्षेत्रमभिमृह्यते । विपुलमतिः अर्द्धं तृतीयस्य येषु तान्यर्द्धतृतीयानि तैरभ्यधिकतरम्, प्रभूत-
तरमित्यर्थः, तदेव प्राकृतशैल्या अभ्यधिकतरकम्, एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम् । तत्रैकदिशमप्यधिकतरं भवत्यतः
20 सर्वतोऽभ्यधिकतरमिति प्रतिपादनार्थमाह—‘विपुलतरं’ विस्तीर्णतरम्, अथवाऽऽयाम-विष्कम्भावाश्रित्याभ्यधिकतरम्,
वाहल्यमाश्रित्य विपुलतरम् । तथा ‘विशुद्धतरं’ निर्मलतरमित्यर्थः, यथा चन्द्रकान्तादिप्रकाशकद्रव्यं विमलविमल-
तरविशेषाद् विमलप्रकाशितद्रष्टुः सकाशाद् विमलतरप्रकाशितद्रष्टा विशुद्धतरं पश्यति, एवं विष्कम्भितोदयमनः-
पर्यायज्ञानावरणस्य कारणभेदतो मन्दमन्दतरविशेषभावाद् ऋजुमतेः सकाशाद् विपुलमतिर्विशुद्धतरमिति, उप-
शान्तावरणविशेषादपि ज्ञानस्य विशेष इत्येतावतांशेन दृष्टान्तः । तथा तदावरणक्षयोपशमविशेषाच्च ‘वितिमिरतरं’
25 निर्मलतरम् । अथवा प्राग्वद्धतदावरणकर्मक्षयोपशमस्य प्रधानत्वाद् विशुद्धतरम्, वध्यमानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषाच्च
वितिमिरतरम्, वध्यमानाभावाच्च वितिमिरतरमित्यन्ये । अथवैकार्थिका एवैते शब्दाः नानादेशजानां विनेयानां
कस्यचित् कश्चित् प्रसिद्धो भवतीत्युपन्यस्ताः । क्षेत्रं “तात्स्थ्यात् तद्वच्यपदेशः” इति जानाति पश्यति । शेषं
निगदसिद्धं यावत्—

३३. मणपज्जवणाणं पुण जणमणपरिचित्तियत्थपायडणं ।

30

माणुसखेत्तणिवद्धं गुणपच्चइयं चरित्तवओ ॥ ५५ ॥

से तं मणपज्जवणाणं ।

३३. मणपज्जव० गाहा । व्याख्या—मनःपर्यायज्ञानं प्राणिरूपितशब्दार्थम् । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । इदं हि रूपनिवन्धन-क्षायोपशमिक-प्रत्यक्षादिसाम्येऽपि सत्यवधिज्ञानान् स्वाम्यादिभेदेन विशिष्टमिति स्वरूपतः प्रतिपादयन्नाह—जायन्त इति जनाः, तेषां मनांसि जनमनांसि, जनमनोभिः परिचिन्तितः जनमनःपरिचिन्तितः, जनमनःपरिचिन्तितश्चासावर्थश्चेति समासः, तं प्रकटयति—प्रकाशयति जनमनःपरिचिन्तितार्थप्रकटनम् । मानुष-क्षेत्रम्—अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रपरिमाणं तन्निवद्धम्, न तद्वहिव्यवस्थितप्राणिमनःपरिचिन्तितार्थत्रिपयं प्रवर्त्तत इत्यर्थः । गुणाः—क्षान्त्यादयः त एव प्रत्ययाः—कारणानि यस्य तद् गुणप्रत्ययम् । चारित्रमस्यास्तीति चारित्रवान् तस्य चारित्रवत् एवेदं भवति । एतदुक्तं भवति—अप्रमत्तसंयतस्य आमर्षोपध्यादिब्रह्मिप्राप्तस्य चेति गार्थार्थः ॥५५॥

“से तं मणपज्जवणाणं” तदेतन्मनःपर्यायज्ञानमिति ॥

३४. से किं तं केवलणाणं ? केवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवत्थकेवलणाणं च सिद्धकेवलणाणं च ।

३४. से किं तं केवलणाणं ? इत्यादि । अथ किं तत् केवलज्ञानम् ?, केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—भवत्थकेवलज्ञानं च सिद्धकेवलज्ञानं च । भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः, भवो गतिर्जन्मेति पर्यायाः, भवे तिष्ठतीति भवस्थः, तस्य केवलज्ञानं भवत्थकेवलज्ञानम् । “पिथो संराद्धो” [पा. धातु. ११९२] “राध साध संसिद्धो” [पा. धातु. १२६३-६४] “पिथू शास्त्रे माङ्गल्ये च” [पा. धातु. ४८] सिध्यति स्म सिद्धः, यो येन गुणेन निष्पन्नः—परिनिष्ठितः, न पुनः साधनीयः, सिद्धोऽनवत्, स सिद्धः । स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः । उक्तं च—

कम्मे सिप्पे य विज्जा य मंते जोगे य आगमे । अत्थ जत्ता अभिप्पाए तवे कम्मकखण्ण इ य ॥१॥

[आच. नि. गा. ५.२७]

इह कर्मक्षयसिद्धेनाधिकारः, स चाशेषकर्माशक्षयान् कर्मक्षयसिद्धः । मिनध्वंनिन्वादा सिद्धः, “सि वर्ण-वन्धनयोः” [] इति । सितं—वद्धमष्टप्रकारं कर्म तद् ध्वंसितुं शील्यमस्येति मिनध्वंणी सिद्धः, तस्य केवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानम् ॥

३५. से किं तं भवत्थकेवलणाणं ? भवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सजोगिभवत्थकेवलणाणं च अजोगिभवत्थकेवलणाणं च ।

३६. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् भवत्थकेवलज्ञानम् ? भवत्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—सयोगिभवत्थकेवलज्ञानं च अयोगिभवत्थकेवलज्ञानं च । इह सुञ्चन्त इति योग्याः कायादयः, उक्तं च—“काय-वाङ्मनःकर्म योगः” [तत्त्वा. ६.१] । तथोदारिकादिशरीरव्युत्पन्नस्याऽऽत्मनो वीर्यसिद्धिनिर्माणः काय-योगः । तथोदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरव्यापाराहताग्रव्यसमूहस्याचिञ्चार्जीव्यपासो वान्तयोगः । तथोदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरव्यापाराहताग्रव्यसमूहस्याचिञ्चार्जीव्यपासो मन्तोयोगः । तद् व्यसमन्तं योगोऽस्य विषय इति सयोगी. सयोगी चासौ भवत्थकेवलज्ञानं सयोगिभवत्थकेवलज्ञानम् । एतं न योगी अयोगी, स च भवत्थकेवलज्ञानं अयोगिभवत्थकेवलज्ञानम् । इत्येवमस्मात्तद्व्येक्यः ॥

३६. से किं तं सजोगिभवत्थकेवलणाणं ? सजोगिभवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं

तं जहा-पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च, अहवा चरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च । से त्तं सजोगिभवत्थकेवलणाणं ।

३६. अथ किं तत् सयोगिभवत्थकेवलज्ञानम् ?, सयोगिभवत्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-प्रथमस-
5 मयसयोगिभवत्थकेवलज्ञानं च अप्रथमसमयसयोगिभवत्थकेवलज्ञानं च । तत्र प्रथमसमयः-तत्प्रथमतयोत्पत्ति-
समय एव गृह्यते, न प्रथमोऽप्रथमः-द्वितीयादयः सर्व एव शैलेश्यवस्थाप्राप्तेरप्रथमसमया इति । अथचेत्वन्यथा
प्रतिपाद्यते-“चरमसमये” त्यादि, तत्र चरमः-सयोगिकालान्त्यसमयः, न चरमोऽचरमः, प्रश्नानुपूर्व्यां चरमादार-
भ्य सर्व एव केवलप्राप्तेरचरमा इति । “से त” मित्यादि निगमनम् ॥

३७. से किं तं अजोगिभवत्थकेवलणाणं ? अजोगिभवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं,
10 तं जहा-पढमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च अपढमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च, अहवा चरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च अचरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च । से त्तं अजोगिभवत्थकेवलणाणं ।

३७. से किं तमित्यादि । अत्रापि शैलेश्यवस्थाभावि केवलज्ञानमधिकृत्यैवमेव भावनीयम् । अलं विस्तर-
रेण । “से त”मित्यादि निगमनम्, तदेतद् भवत्थकेवलज्ञानम् ॥

३८. से किं तं सिद्धकेवलणाणं ? सिद्धकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अणंतरसिद्ध-
15 केवलणाणं च परंपरसिद्धकेवलणाणं च ।

३८. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् सिद्धकेवलज्ञानम् ?, सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-
अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं च परम्परसिद्धकेवलज्ञानं च । तत्र शैलेश्यवस्थापर्यन्तवर्त्तिसमयसमासादितसिद्धत्वस्य
तस्मिन्नेव समये यत् केवलज्ञानं तदनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम् । ततो द्वितीयादिसमयेष्वनन्तामप्यनागताद्धां परम्पर-
20 सिद्धकेवलज्ञानमिति ॥

३९. से किं तं अणंतरसिद्धकेवलणाणं ? अणंतरसिद्धकेवलणाणं पण्णरसविहं पण्णत्तं,
तं जहा-तित्थसिद्धा १ अतित्थसिद्धा २ तित्थगरसिद्धा ३ अतित्थगरसिद्धा ४ सयंबुद्ध-
सिद्धा ५ पत्तेयबुद्धसिद्धा ६ बुद्धवोहियसिद्धा ७ इत्थिलिंगसिद्धा ८ पुरिसलिंगसिद्धा ९
णपुंसगलिंगसिद्धा १० सलिंगसिद्धा ११ अण्णलिंगसिद्धा १२ गिहिलिंगसिद्धा १३ एगसिद्धा
25 १४ अणेगसिद्धा १५ । से त्तं अणंतरसिद्धकेवलणाणं ।

३९. से किं तमित्यादि प्रश्नसूत्रस्य निर्वाचनम्-अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं पञ्चदशविधं प्रज्ञप्तम्, सिद्धाना-
मेयानन्तरभयगतोपाधिभेदेन पञ्चदशभेदभिन्नत्वात् । पञ्चदशभेदभिन्नतामेव दर्शयन्नाह-‘तद्यथा-तीर्थसिद्धाः’
इत्यादि । तत्र येनेह जीवा जन्म-जरा-मरणमल्लिं मिथ्यादर्शना-ऽविरतिगम्भीरं विचित्रदुःखगणकरिमकरं राग-
द्वेषपवनप्रभाभितमनन्तसंसारमागारं तरन्ति तन् तीर्थमिति, तच्च यथावस्थितसकलजीवा-ऽजीवादिपदार्थप्ररूपकं

अत्यन्तानवद्या-ऽन्याविज्ञातचरण-करणक्रियाधारं अचिन्त्यशक्तिसमन्विताविसंवाद्युपकल्पं चतुर्विंशदतिशयसमन्वि-
तपरमगुरुप्रणीतं प्रवचनम्, एतच्च सङ्घः प्रथमगणधरो वा, तथा चोक्तम्—“तित्थं भंते तित्थं ? तित्थकरे तित्थं ?,
गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउव्वणो समणसंघो पहमगणहरो वा” [भग. द. २३. उ. ८
सू. ६८२] इत्यादि, ततश्च तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः १ । ‘अतीर्थसिद्धाः’ तीर्थान्तरसिद्धा इत्यर्थः,
श्रूयते च—“जिणंतरे साहुवोच्छेओ” [आव. नि. गा. ३६५] चि, तत्रापि जातिस्मरणादिनाऽत्राप्तापवर्गमार्गाः 5
सिध्यन्त्येव; नरुदेविप्रभृतयो वाऽतीर्थसिद्धाः, तदा तीर्थस्यानुत्पन्नत्वात् २ । ‘तीर्थकरसिद्धाः’ तीर्थकरा एव ३ ।
‘अतीर्थकरसिद्धाः’ अन्ये सामान्यकेवलिनः ४ । स्वयं बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वयम्बुद्धसिद्धाः ५ । प्रत्येकबुद्धाः
सन्तो ये सिद्धास्ते प्रत्येकबुद्धसिद्धा इति ६ ।

अथ स्वयम्बुद्ध-प्रत्येकबुद्धयोः कः प्रतिविशेषः ? इति, उच्यते, बोध्युपधि-श्रुत-च्छिद्रकृतो विशेषः । तथाहि—
स्वयम्बुद्धा वाद्यप्रत्ययमन्तरेणैव बुध्यन्ते, प्रत्येकबुद्धास्तु न तद्विरहेण । श्रूयते च वाद्यरूपमादिप्रत्ययसापेक्षा करक- 10
ण्डवादीनां प्रत्येकबुद्धानां बोधिरिति । उपधिस्तु स्वयम्बुद्धानां द्वादशविधः पात्रादिः, प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधः
प्रावरणवर्जः । स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतश्रुतेऽनियमः, प्रत्येकबुद्धानां तु नियमतो भवत्येव । छिद्रप्रतिपत्तिः स्वयम्बु-
द्धानामाचार्यसन्निधावपि भवति, प्रत्येकबुद्धानां तु देवता प्रयच्छतीत्यलं विस्तरण ।

‘बुद्धबोधितसिद्धाः’ बुद्धाः—आचार्यास्तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धास्त इह गृह्यन्ते ७ । एते च सर्वेऽपि
केचित् स्त्रीच्छिद्रसिद्धाः ८ केचित् पुष्टिज्ञसिद्धाः ९ केचिन्पुंसकच्छिद्रमिद्धा १० इति । आह—तीर्थकरा अपि स्त्रीलि- 15
ङ्गसिद्धा भवन्ति ?, भवन्तीत्याह, यत् उक्तं सिद्धप्राभृते—“सव्वत्थोवा तित्थगरीसिद्धा, तित्थगरितित्थे णोतित्थ-
सिद्धा संखेज्जगुणा, तित्थगरितित्थे णोतित्थगरिसिद्धाओ संखेज्जगुणाओ, तित्थगरितित्थे णोतित्थगरसिद्धा
संखेज्जगुणा” [गा. १०० वृत्तौ] इति, न तु नपुंसकच्छिद्राः । मन्येकबुद्धान् पुष्टिज्ञा एव । ‘मच्छिद्रमिद्धाः’ द्रव्यच्छिद्रं
प्रति रजोहरण-शोच्छकधारिणः ११ । ‘अन्यच्छिद्रमिद्धाः’ परिव्राजकादिच्छिद्रे मिद्धाः १२ । शुद्धिच्छिद्रमिद्धा मन्वेर्वा-
प्रभृतयः १३ । ‘एकसिद्धाः’ इति एकस्मिन् समये एक एव सिद्धः १४ । ‘अनेगमिद्धाः’ इति एकस्मिन् समये 20
यावद् अष्टशतं सिद्धम् । यत् उक्तम्—

वत्तीमा १ अडयाला २ सट्टी ३ वावत्तरी ४ च बोद्धया । बुद्धमाती ५ तत्तडः ६ द्दुत्तिय ७ अट्टद्वगमं ८ न ॥१॥

[वृ. सं. गा. ३२३]

अत्राऽऽह चादकाः—ननु सर्व एवैते भेदान्तीर्थमिद्धा-ऽतीर्थमिद्धभेदात्तत्तत्तद्विदः, तथाहि—तीर्थमिद्धा एव
तीर्थकरसिद्धाः, अतीर्थकरसिद्धा अपि तीर्थसिद्धा वा न्युः अतीर्थसिद्धा वेति, एवं तेषामपि भारतीयमिति, अतः 25
विशेषः ? इति, अत्रोच्यते, अन्तर्भावे सत्यपि पूर्वभेदव्यादेदोत्पत्तौ तदभेदविशेषः, अत्रात्प्राप्तार्थं च भेदानि-
धानमिति । “से न” मित्यादि निगमनम् ॥

४०. से किं तं परंपरसिद्धकेवलणाणं ? परंपरसिद्धकेवलानां अनेगविदं पग्गं, तं
जहा—अपदमसमयसिद्धा दुसमयसिद्धा तिसमयसिद्धा चउसमयसिद्धा जद्व दसममयसिद्धा
संखेज्जसमयसिद्धा असंखेज्जसमयसिद्धा अणंतसमयसिद्धा, से तं परंपरसिद्धकेवलणाणं । 30
से तं सिद्धवेवलणाणं ।

४०. से किं तं परंपर इत्यादि । न प्रथमसमयसिद्धाः अप्रथमसमयसिद्धाः, परम्परसिद्धविशेषणप्रथम-
समयवर्तिनः, सिद्धत्वद्वितीयसमयवर्तिन इत्यर्थः । व्यादिषु तु द्विसमयसिद्धादयः प्रोच्यन्ते । यद्वा सामान्येनाप्रथ-
मसमयसिद्धा अभिधानविशेषतो द्विसमयादिसिद्धाभिधानमिति । शेषं प्रकटार्थं यावत्—

४१. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ ।
5 तत्थ दव्वओ णं केवलणाणी सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ । खेत्तओ णं केवलणाणी
सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ । कालओ णं केवलणाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ ।
भावओ णं केवलणाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ ।

४१. तं सभासतो इत्यादि । तदिति सामान्येन केवलज्ञानमभिगृह्यते । द्रव्यतः केवलज्ञानी 'सर्वद्रव्याणि'
धर्मास्तिकायादीनि साक्षाज्जानाति पश्यति । क्षेत्रतः केवलज्ञानी 'सर्वं क्षेत्रं' लोकाऽलोकभेदभिन्नं साक्षाज्जानाति
10 पश्यति । [ग्रं. १०००] इह च धर्मास्तिकायादिसर्वद्रव्यग्रहणे सत्यप्याकाशास्तिकायस्य क्षेत्रत्वेन रूढत्वाद् भेदे-
नोपन्यासः । कालतः केवलज्ञानी 'सर्वं कालं' अतीताऽनागत-वर्तमानभेदभिन्नं साक्षाज्जानाति पश्यति । भावतः
केवलज्ञानी 'सर्वान्' जीवाऽजीवगतान् भावान् गति-रूपायाद्यगुरुलघुलक्षणादीन् साक्षाज्जानाति पश्यति ॥

इह च केवलज्ञान-दर्शनोपयोगचिन्तायां क्रमोपयोगादौ स्त्रीणामनेकविधा विप्रतिपत्तिः, अतः सङ्क्षेपतो
विनेयजनानुग्रहाय तत्प्रदर्शनं क्रियत इति । तत्र—

15 'केइ भणंति, जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा ।

अन्ने एगंतरियं इच्छंति सुओवदेसेणं ॥१॥

अन्ने ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स ।

जं चिय केवलनाणं तं चिय से दंसणं विंति ॥२॥

[विशेषणवती गा. १५३-५४]

गाथाद्वयम् । अस्य व्याख्या—'केचन' सिद्धसेनाचार्यादयः भणंति । किम् ? 'युगपद्' एकस्मिन्नेव काले
20 जानाति पश्यति च । कः ? केवली, न त्वन्यः, 'नियमाद्' नियमेन । 'अन्ये' जिनभद्रगणिकमाश्रमगप्रभृतयः एका-
न्तरितं जानाति पश्यति चेत्येवमिच्छन्ति 'श्रुतोपदेशेन' यथाश्रुतागमानुसारेणेत्यर्थः । 'अन्ये तु' वृद्धाचार्याः 'न'
नैव 'विष्वक्' पृथक् तद्दर्शनमिच्छन्ति 'जिनवरेन्द्रस्य' केवलिन इत्यर्थः । किं तर्हि ? यदेव केवलज्ञानं तदेव
"से" तस्य केवलिनो दर्शनं द्रुवते, क्षीणावरणस्य देशज्ञानाभावात्, केवलदर्शनाभावादिति भावना । अयं
गाथाद्वयार्थः ॥१॥२॥ साम्प्रतं युगपदुपयोगवादिमतप्रदर्शनायाह—

25 जं केवलाइं सादी-अपज्जवसियाइं दो वि भणियाइं ।

ता विंति केइ, जुगवं जाणइ पासइ य सव्वन्नु ॥३॥

[विशेषणवती गा. १९३]

यस्मात् केवलज्ञान-दर्शने साद्यपर्यवसिते द्वे अपि भणिते ततः द्रुवते 'केचन' सिद्धसेनाचार्यादयः । किम् ?
'युगपद्' एकस्मिन् काले जानाति पश्यति च । कः ? सर्वज्ञ इति गाथार्थः ॥३॥

इहराऽऽदी-णिधणत्तं मिच्छाऽऽवरणक्खयो ति व जिणस्स ।

30 इयरेतरावरणता अहवा निक्कारणावरणं ॥४॥

[विशेषणवती गा. १९४]

१ केवलज्ञान-केवलदर्शनयुगपदुपयोगादिवादसङ्गता एता एव चतुर्विंशतिगाथाः श्रीहरिभद्रसूरिपार्ष्ण्यसङ्ग्रहण्यां गा. १३३६
तः १३५९ गाथास्येनाऽऽहताः सन्ति ।

‘इतरथा’ अन्यथा ‘आदि-निधनत्वं’ सादि-पर्यवसानत्वम्, केवलज्ञान-दर्शनयोरुत्पत्त्यनन्तरमेव केवलज्ञानोपयोग-
काले केवलदर्शनाभावात्, एवं केवलदर्शनोपयोगकालेऽपि केवलज्ञानाभावात् । तथा मिथ्याऽऽवरणस्य इति वा
जिनस्य, न ह्यपनीतावरणो द्वौ प्रदीपो क्रमेण प्रकाशयन् प्रकाशयन् इत्यभिप्रायः । तथा इतरेतरावरणता, आवरणे
क्षीणेऽप्यन्यतमभावे अन्यतमाभावादिति भावना । अथवा ‘निष्कारणावरणम्’ इति अकारणमेव अन्यतरो-
पयोगकालेऽन्यतरस्याऽऽवरणम्, तथा च सति सर्वद्वैत भावा-ऽभावप्रसङ्गः । तथा चोक्तम्—

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं चाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥

[प्रमाणवार्तिके ३-३४] इति गार्थः ॥ ४ ॥

तद् य असत्त्वन्नुत्तं असत्त्वदरिसित्तगप्पसंगो य ।

एगंतरोवओगे जिणस्स दोसा बहुविहीया ॥ ५ ॥ [विशेषवृत्ती गा. १९५]

व्याख्या—तथा च सति असत्त्वत्वमसत्त्वदर्शित्वप्रसङ्गश्च । पाक्षिकं वा असत्त्वत्वम्—यदा सर्वज्ञो न तदा 10
सर्वदर्शी, दर्शनोपयोगाभावात्; एवं यदा सर्वदर्शी न तदा सर्वज्ञः, ज्ञानोपयोगाभावात् । एवमेकान्तरोपयोगेऽभ्युप-
गम्यमाने सति ‘जिनस्य’ केवलिनो दोषा बहुविधा इति गार्थः ॥ ५ ॥ एवं परेषोक्ते सत्यागमवाद्याह—

भण्णन्ति, भिन्नमुहुत्तोवयोगकाले वि तो तिणाणिस्स ।

मिच्छा छावट्ठी सागरोवमाइं न्नओवससो ॥ ६ ॥ [विशेषवृत्ती गा. २०२]

व्याख्या—यदुक्तम् ‘इतरथाऽऽदि-निधनत्वम् इति तद्गम्व’ इति दर्शयति—उपयोगा-ऽनुपयोगकालापेक्षयैव 15
साद्यपर्यवसितत्वात् केवलज्ञान-दर्शनयोरित्यभिप्रायः, न चानार्थमिदम्, कथम्? भयते—अन्यथा हि भिन्नमुहुत्तो-
पयोगकालेऽपि मत्यादीनां तत्स्त्रिज्ञानिनः मिथ्या पट्टपट्टिः सागरोपमाणि क्षयोपजम्, प्रतिपादितश्च द्रव्ये, न च
युगपदेव मत्याद्युपयोगः; एवं क्षायिकोपयोगेऽपि भविष्यति, जीवन्नामाव्यादिति गार्थाभिप्रायः ॥ ६ ॥

न च क्षयकार्येणावश्यमनवरतमेव भवितव्यमिति दर्शयन्नाह—

अह ण वि एवं ता सुण, जहेय ग्भीणंतगाहओ अग्गा ।

संते वि अंतरायक्खयम्मि पंचप्पगारम्मि ॥ ७ ॥

सततं न देति लहति य भुंजति उयभुंजर् य मव्वन्त् ।

कज्जम्मि देति लभति य भुंजति य त्हेय इत्तं पि ॥ ८ ॥

विश्व—दितस्स लभंतस्स य भुंजंतस्स य जिणस्स एस्स गुणो ।

ग्भीणंतराद्यत्ते जं से विण्यं न संभवत् ॥ ९ ॥

उयउत्तस्सेमेव य णाणम्मि व दंस्सणम्मि व जिणन्त् ।

ग्भीणावरणगुणोऽयं, जं कस्सिणं सुणह पान्त् वा ॥ १० ॥ [विशेषवृत्ती गा. २०३-६]

सो०—पासंतो वि न जाणह, जाणं व ण पासनी जद जिणित्थो ।

एयं न कदाह वि जो मव्वन्त् सत्त्वदरिसि न ॥ ११ ॥ [विशेषवृत्ती गा. २०५]

व्याख्या—पश्यन्पि न जानाति जानन् वा न पश्यति यदि जितेन्द्रः, एवं न ददातिऽप्यर्थं सर्वदः सर्वदर्शी वा

५. युगपदन्यतरोपयोगकालेऽन्यतरोपयोगाभावादिति गार्थः ॥ ६ ॥ नित्यमनवरतम्—

जुगवमजाणंतो वि हु चउद्दि वि णाणेहिं जह व चउणाणी ।

भण्णह, तहेव अरहा सच्चवन्त् सच्चदरिस्सी य ॥ १२ ॥ [विशेषणवती गा. २१६]

इयं तु निगदसिद्धैः । नवरं क्षायिकभात्रमाश्रित्येति गाथार्थः ॥ १२ ॥ पुनरप्याह—

तुल्ले उभयावरणक्खयम्मि पुन्वतरमुब्भवो कस्स ? ।

5 दुविहुवयोगाभावे जिणस्स जुगवं ति चोदेति ॥ १३ ॥ [विशेषणवती गा. २१७]

व्याख्या—तुल्ये 'उभयावरणक्षये' केवलज्ञान-दर्शनावरणक्षये 'पूर्वतरं' प्रथमतरं 'उद्भवः' उत्पादः कस्य ? । यदि ज्ञानस्य स किंनिवन्धनः ? इति वाच्यम्, तदावरणक्षयनिवन्धन इति चेत्, दर्शनेऽपि तुल्य इति तस्याप्युद्भवप्रसङ्गः एवं दर्शनेऽपि वाच्यम्, अतः स्वावरणक्षयेऽपि दर्शनाभाववद् ज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्गः विपर्ययो वा । एवं द्विविधो-पयोगाभावे 'जिनस्य युगपत्' इति चोदयति । अयं गाथार्थः ॥ १३ ॥ अत्र सिद्धान्तवाद्याह—

10 भण्णति, ण एस नियमो, जुगवुप्पन्नेण जुगवमेवेह ।

होयच्चं उवओगेण, एत्थ सुण ताव दिट्ठं ॥ १४ ॥

जह जुगवुप्पत्तीय वि सुत्ते सम्मत्त-मति-सुतादीणं ।

णत्थि जुगवोवयोगो सच्चवेसु, तहेव केवलिणो ॥ १५ ॥

भणियं पि य पन्नत्ती-पन्नवणादीसु, जह जिणो समयं ।

15 जं जाणती न पासइ तं अपुरयणप्पभादीणं ॥ १६ ॥

[विशेषणवती गा. २१८-२० विशेषा. गा. ३११२]

इदं गाथात्रयमपि प्रकटार्थम् ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ अधुना ये केवलज्ञान-दर्शनाभेदवादिनस्तन्मतमुपन्यस्यन्नाह—

जह किर खीणावरणे देसन्नाणाण संभवो न जिणे ।

उभयावरणादीते तह केवलदंसणस्साधि ॥ १७ ॥ [विशेषणवती गा. १५५]

निगदसिद्धा ॥ १७ ॥ सिद्धान्तवाद्याह—

20 देसन्नाणोवरमे जह केवलणाणसंभवो भणियो ।

देसदंसणविगमे तह केवलदंसणं होउ ॥ १८ ॥

अह देसणाण-दंसणविगमे तुह केवलं अयं णाणं ।

ण मतं केवलदंसणमिच्छामेत्तं णणु तवेयं ॥ १९ ॥ [विशेषणवती गा. १५६-५७]

भण्णह, जहोद्दिणाणी जाणह पासइ य भासितं सुत्ते ।

25 न य णाम ओद्दिदंसण-णाणेगत्तं. तह इमं पि ॥ २० ॥ [विशेषणवती गा. १७८]

जह पासइ तह पासतु, पासति सो जेण दंसणं तं से ।

जाणति य जेण अरहा तं से णाणं ति वत्तच्चं ॥ २१ ॥ [विशेषणवती गा. १९२]

स्वपक्षसमर्थनायैव सिद्धान्तवाद्याह—

णाणम्मि दंसणम्मि य एत्तो एगतरयम्मि उवउत्तो ।

30 सच्चस्स केवलिस्सा जुगवं दो णत्थि उवओगा ॥ २२ ॥

[विशेषणवती गा. २२९ विशेषा. गा. ३०९६]

उवओगो एगयरो पणुवीसतिमे सते सिणायस्स ।
भणिओ वियडत्थो च्चिय छद्दुहेसे विसेसेडं ॥ २३ ॥

[विशेषगवती गा. २३२ विशेषा. गा. ३१२०]

गायाद्वयमपि निगदसिद्धम् । नवरं भगवत्यां पञ्चविंशतितमे शनेऽधिकारोपलक्षिते “सिणायस्स” च्चि ‘स्तात्-
कस्य’ केवलिनः ॥२१॥२३॥ सिद्धान्तत्राघेवानुद्गतत्रयागमभक्ति च परां ख्यापयन्नाह—

5

कस्स व णाणुमतमिणं जिणस्स जदि होज दो वि उवओगा ? ।
णूणं ण होति जुगवं, जेण णिसिद्धा सुते बहुसो ॥ २४ ॥

[विशेषगवती गा. २४६ विशेषा. गा. ३१३२]

निगदसिद्धेवेति ॥ २४ ॥ अलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुतम्—

४२. अह सब्बदब्बपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाती एगविहं केवलण्णणं ॥ ५६ ॥
केवलण्णणेणऽत्थे णाउं जे तत्थ पण्णवणजोगे ।
ते भासइ तित्थयरो, वड्जोग तयं हवइ सेमं ॥ ५७ ॥
से त्तं केवलण्णणं । से त्तं पञ्चकखण्णणं ।

10

४२. अह० गाहा । व्याख्या—इह मनःपर्यायज्ञानानन्तरं सूत्रक्रमोद्देशतः शुद्धिप्रामत्तं प्राक् केवलज्ञानमुक्तं 15
तदुपन्यस्यत इत्यतस्तदर्थोऽयमथशब्दः । उक्तं च—“अथशब्दः प्रक्रिया-प्रश्ना-ऽऽनन्तर्य-मद्बोधोपन्यास-प्रतिवचन-
समुच्चयेषु” [] सर्वाणि च नानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि-जीवा-ऽजीवद्रव्याणानि तेषां
परिणामाः-प्रयोग-विश्रमोभयाख्या उन्पादादयः सर्वद्रव्यपरिणामाग्नेयां भावः-नना न्यत्तममिन्यनपर्यान्तरं नम्य
विशेषेण ज्ञापनं विज्ञप्तिः विज्ञानं वा विज्ञप्तिः नत्र भेदोपचायत नम्या विज्ञानेः-परिज्ञानेः कारणं सर्वद्रव्य-
परिणामभाववित्तित्तकारणम्, अथवा विज्ञप्तिरेव कारणं विज्ञप्तिरकारणम्, अत्र एव सर्वभेद-ज्ञापयिष्यं नन्, 20
क्षेत्रादीनामपि द्रव्यत्वात् । तत्र होयानन्तरत्वादनन्तम् । अथज्ञानात्तत्त्वत्वात् । सर्वोपयोगिनि ना ताथः । प्रतिपत्तनशीलं
प्रतिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति, सदाऽवस्थितमित्यर्थः । भावः-सत्तावयं तदप्रतिपत्तिसत्तावः किं विज्ञानेन?
इति, उच्यते-सा भूदू यावद् भवति तावत्तत्त्वतमनसतमेव भवतीति प्रतिपत्तिः, न पुनरप्यथाऽत्र द्रव्यभेदयो
विशेषणमित्यनवरतं भवति सर्वकालं चेति । अथैकसद्रव्यभित्तिरेवैव विज्ञेयत्वविशेषेण तस्य भवतीति ज्ञापनार्थम् ।
तथाहि-शाश्वतमप्रतिपाल्येव, अप्रतिपाति तु शाश्वतमभावेन का, अप्रतिपत्तिसत्तावयं तदप्रतिपत्तिसत्तावयं 25
एकमकारम्, आदरणाभावात् क्षयर्थैवत्पत्त्वाद् । केवलं-सत्तावयं तदप्रतिपत्तिः, केवलं च तदवयवं चेति ज्ञापनार्थः । ३०

इह तीर्थज्ञानं समुपज्ञानकेवलः सर्वबाहुप्रार्थं केवलां होति, तीर्थज्ञानात्तत्त्वत्वात्, तत्रैव धरतेऽपि-
भूतत्त्वात् तस्य च भावभूतत्त्वात् भूतज्ञानसम्भवात्तदप्रतिपत्तिः इति ना भूतत्त्वविशेषेण तदप्रतिपत्ति-
तत्त्वविनिर्णयार्थमाह—

केवल० गाहा । व्याख्या—इह तीर्थज्ञानः केवलज्ञानेन ‘अर्थात्’ धर्मोन्निवृत्तत्वात्तत्त्वत्त्वात्
अभियाप्य-ऽहमित्यप्याह ‘ज्ञानं’ विनिर्णयः, केवलज्ञानेनैव ज्ञानं, न तु भूतज्ञानेन, तस्य भावोन्निवृत्तत्वात्,

केवलिनश्च तदभावात्, सर्वशुद्धौ देशशुद्धयभावादित्यर्थः । ये 'तत्र' तेषामर्थानां मध्ये प्रज्ञापनं प्रज्ञापना तस्या योग्याः प्रज्ञापनायोग्याः तान् 'भापते' तानेव वक्ति, नेतरानिति । प्रज्ञापनीयानिति न सर्वानेव भापते, अनन्तत्वात्, आयुषः परिमितत्वात्, किं तर्हि ? योग्यानेत्र, गृहीतृशक्त्यपेक्षया, यो हि यावतां योग्यस्तानिति । तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिः प्रोच्यमानस्तस्य भगवतो वाग्योग एव भवति, न श्रुतम्, नामकर्मोदयनिबन्धन-
 5 त्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, स च श्रुतं भवति शेषम् । 'शेषमिति' अप्रधानम् । एतदुक्तं भवति—श्रोतृणां श्रुतग्रन्थानुसारिभावश्रुतनिबन्धनत्वात् 'शेषं' अप्रधानं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । अन्ये त्वेवं पठन्ति— "वृज्जोग सुयं ह्यवदं तेसि" स वाग्योगः श्रुतं भवति 'तेषां' श्रोतृणाम्, भावश्रुतकारणत्वादित्यभिप्रायः । अथवा वाग्योगः 'श्रुतं' द्रव्यश्रुतमेवेति गायार्थः ॥ ५७ ॥

“से तं” इत्यादि निगमनम् । तदेतत् केवलज्ञानम् । तदेतत् प्रत्यक्षम् ॥ एवं प्रत्यक्षे प्रतिपादिते सति
 10 परोक्षस्वरूपमनवगच्छन्नाह चोदकः—

४३. से किं तं परोक्खणाणं ? परोक्खणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आभिणिवोहियणाणपरोक्खं च सुयणाणपरोक्खं च ।

४३. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् परोक्षम् ?, परोक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आभिनिवोधिकज्ञानपरोक्षं च श्रुतज्ञानपरोक्षं च । 'चौ' पूर्ववत् । अनयोश्चेत्थं क्रमोपन्यासे प्रयोजनमुक्तमेव ॥

15 साम्प्रतं स्वाम्यभेदप्रतिपादनायाह—

४४. जत्थाऽऽभिणिवोहियणाणं तत्थ सुयणाणं, जत्थ सुयणाणं तत्थाऽऽभिणिवोहियणाणं । दो वि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं तह वि पुण एत्थाऽऽयरिया णाणत्तं पण्णवेति—अभिणिवुज्झइ ति आभिणिवोहियं, सुणतीति सुतं ।

“मतिपुच्चयं सुयं, ण मती सुयपुब्बिया ।”

20 ४४. जत्थ आभिणिवोहियणाणमित्यादि । 'यत्र' पुरुषे इन्द्रिय-नोइन्द्रियक्षयोपशमे वा आभिनिवोधिकज्ञानं 'तत्रैव' पुरुषादौ श्रुतज्ञानम्, तथा यत्र श्रुतज्ञानं तत्राऽऽभिनिवोधिकज्ञानम् । आह—यत्राभिनिवोधिकज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानमित्युक्ते यत्र श्रुतज्ञानं तत्राऽऽभिनिवोधिकज्ञानमिति गम्यत एवेत्यतः किमनेनोक्तेन ? इति, अत्रोच्यते, नियमतो न गम्यत इत्यतो नियमार्थम् । तथा चाह—

“दो वि एयाइं” इत्यादि । 'द्वे अप्येते' आभिनिवोधिक-श्रुते 'अन्योन्यानुगते' परस्परं प्रतिबद्धे ।
 25 स्यादेतद्—एवं सत्यभेद एवास्त्वनयोरित्याशङ्क्याह—“तह वि पुणो” इत्यादि । तथापि पुनराचार्याः 'नानात्वं' भेदं 'प्रज्ञापयन्ति' प्ररूपयन्ति । कथम् ? लक्षणभेदात्, दृष्टवान्योन्यानुगतयोरप्येकाकाशस्थयोर्धर्मा-ऽधर्मास्तिकाय-योर्लक्षणभेदाद् भेद इति । तत्र यो हि गतिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुद्गलयोर्गत्युपपृम्भहेतुर्जलमिव झपस्य स खल्व-सङ्ख्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्त्तो धर्मास्तिकाय इति, तथा यः स्थितिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुद्गलयोरेव स्थित्युपपृम्भ-हेतुर्विषयता क्षितिरीव झपस्य स खल्वमह्वेयप्रदेशात्मकोऽमूर्त्त एवाधर्मास्तिकाय इति, एवमाभिनिवोधिक-श्रुतयो-
 30 रपि लक्षणभेदाद् भेदः । तथा चाह—

“अभिनिवृज्जइ” इत्यादि । अभिनिवृज्यत इत्याभिनिवोधिकम्, आत्मनः परिणामविशेषः । एवं श्रुतो-
तीति श्रुतम्, आत्मन एव परिणामविशेष इति । एतदुक्तं भवति—यदिन्द्रिय-मनोनिमित्तमात्मनो विज्ञानं श्रुतग्र-
न्थानुसारेणोपजायते तत् श्रुतम्, शेषमिन्द्रिय-मनोनिमित्तमाभिनिवोधिकमिति । इत्थं लक्षणभेदाद् भेदमभिधा-
याशुना प्रकारान्तरेण भेदमभिधित्पुराह—

“मतिपुञ्चं मृतं, ण मती सुयपुञ्चिया” “पू पाठन-पूरणयोः” [पाणिनिश्रुत० १४९०] इत्येतस्य पूर्यते 5
प्राप्यते पाल्यते वाऽनेन कार्यमिति पूर्व-कारणम्, मतिः पूर्वमस्येति मतिपूर्वं ‘श्रुतं’ श्रुतज्ञानम्, तथा चेदं मत्या
पूर्यते प्राप्यते पाल्यते वा, अन्यथा प्रणश्यतीत्यर्थः, न मतिः श्रुतपूर्वेत्ययं महान् भेद इति । अत्राह—मति-श्रुतयो-
र्युगपदेव सम्यक्तवाचापत्तो भाव उक्तः, अज्ञानयोरपि विगमः, तत् कथं मतिपूर्वं श्रुतम् ? इति, किञ्च—मतिपूर्वकत्वेऽ-
भ्युपगम्यमाने सति मतिज्ञानभावेऽपि तत्काले श्रुतमज्ञानं प्राप्नोति, अतर्पं चेदमिति, अत्रोच्यते—ननु लब्धिं प्रति
मति-श्रुते समकाले भवतः, न नृपयोगोऽनयोः समकाले इति मतिपूर्वं श्रुतम्, इह पुनः को भावार्थः ? श्रुतोप- 10
योगो मतिप्रभवः, यतो नासञ्चित्य मत्या श्रुतग्रन्थानुसारि विज्ञानमुत्पद्यते । आह—एवं मतिरपि श्रुतपूर्वा भव-
त्येव, तथाहि—शब्दं श्रुत्वा या मतिरुत्पद्यते सा श्रुतपूर्वेति प्रतीतम्, अतो न विशेषः, यथा मतिपूर्वं श्रुतं तथा
मतिरपि श्रुतपूर्वेति, अत्रोच्यते—ननु सा द्रव्यश्रुतोद्भवा वर्तते, इह तु ‘न मतिः श्रुतपूर्वा’ इति का भावना ? भावश्रुतान्
सकाशाद् मतिर्नास्तीति, यद्वा कार्यतया निषिध्यते—न पुनः क्रमेण, क्रमेण तु श्रुतोपयोगान् च्युतस्य मत्यवस्थान-
मिष्यत एवेत्यलं प्रसङ्गेन । न चैतत् स्वमनीषिकयोच्यते, यतोऽभ्यधायि भावश्रुता— 15

णाणाणऽण्णाणाणि य समकाल्याहं यतो मह-मुयाहं । तो न सुयं मतिपुञ्चं, मतिजाणे वा सुयऽण्णाणं ॥ १ ॥
इह लब्धिमह-मुयाहं समकाल्याहं, न नृपयोगो णि । मतिपुञ्चं सुयमिह पुत्र मुतोपयोगो मतिप्रभवो ॥ २ ॥
सोऽज्ञा जा मती भे सा सुयपुञ्च चि तेण ण विसेसो । सा द्रव्यश्रुतप्रभवया, भावश्रुतापत्तो मती नन्धि ॥ ३ ॥
कज्जतया, ण तु कमसो, कामेण को वा मतिं निशान्द ? । जं नन्ध्याकथानं च्चन्म्यं त्तनोऽरयोगाभो ॥ ४ ॥

[तिग. म. १००-१०] 20

इतश्च मति-श्रुतयोर्भेदः—भेदभेदान् : तथाहि—अथग्रहादिभेदादहोदिदिदिदिरे मतिज्ञानम्, अत्रनतिष्ठापनेह-
भेदमिषं च श्रुतज्ञानम् । इन्द्रियोपयोन्याभतो व्यापदिभागतो वा । इतं च—

सोहंदिओयळ्ळी होइ मृतं, मेसयं तु मतिणाणं । सोहंणं इत्यस्ये अत्रमस्ये हो य मेसंणु ॥ १ ॥

[तिग. म. ११०]

इतश्च भेदः—अनक्षरमपि मतिज्ञानम्, अक्षरानुगते च श्रुतज्ञानमिति । अथवाऽऽत्ममत्तवत्तत्वं मतिज्ञानम्, अथवा- 25
मत्यायकं श्रुतज्ञानम् । आदरणभेदाच्च भेद इत्येतन्मतिप्रसङ्गेन ॥ इतं च तथा मतिश्रुतयोः कार्य-कारणभेदात्सतो
भेदमपि सम्यग्-मिध्यादर्शनपरिग्रहविशेषात् स्वस्वतोऽपि भेद इति दर्शयति—

४५. अविसेमिया मती मतिणाणं च मतिअण्णाणं च । विसेमिया मती सम्मदिद्विम्म
मती मतिणाणं, मिच्छादिद्विम्म मती मतिअण्णाणं । अविसेमिरे सुयं सुयणाणं च सुय-
अण्णाणं च । विसेमियं सुयं सम्मदिद्विम्म सुयं सुयणाणं, मिच्छदिद्विम्म सुयं सुयअण्णाणं । 30

४६. अविसेसिता इत्यादि । अविशेषिता मतिः सामान्येनैव मतिज्ञानं मत्यज्ञानं च, सामान्येनोभय-
त्रापि मतिशब्दप्रवृत्तेः । 'विशेषिता मतिः' स्वामिविशेषेण सम्यग्दृष्टेर्मतिर्मतिज्ञानम्, निश्चयनयदर्शनेन स्वकार्य-
प्रसाधकत्वात्; मिथ्यादृष्टेर्मतिः मत्यज्ञानम्, तच्चतः स्वफलरहितत्वादित्यर्थः । एवं श्रुतसूत्रमपि व्याख्येयम् ।
आह-क्षयोपशमादिकारणाभेदे घटादिपरिच्छेदकार्याभेदे च कथं मिथ्यादृष्टेरज्ञाने ? इति, तथा च मिथ्यादृष्टेरपि
5 क्षयोपशमादेव मति-श्रुतमवृत्तिः, तथोर्ध्वादिलक्षणाकारमेव घटादिसंवेदनमिति, अत्रोच्यते-मिथ्यादृष्टेरज्ञाने मति-
श्रुते, सदसतोरविशेषात्, उन्मत्तकवत् । उक्तं च भाष्यकारेण—

सदसदविसेसणाओ, भवहेड जहिच्छिओवलंभाओ । णाणफलाभावातो, मिच्छदिट्टिरस अघ्राणं ॥ १ ॥

[विशेषा. गा. ११५]

विनेयजनानुग्रहार्थमियं लेशतो व्याख्यायत इति-मिथ्यादृष्टिः कथञ्चित् सन्तमपि पुरुषे देवादिधर्म न
10 प्रतिपद्यते, पुरुष एवेत्यभ्युपगमात्; तथा असन्तमपि घटादिधर्म प्रतिपद्यते, अस्त्येवेत्यभ्युपगमात्; अतः
सदसतोरविशेष इति । अतश्च मिथ्यादृष्टेर्मति-श्रुते अज्ञाने, भवहेतुत्वाच्च, मिथ्यादर्शनवत् । इतश्चाज्ञानम्-यदृच्छो-
पलब्धेः, उन्मत्तकवत् । इतश्चाज्ञानम्-[ज्ञान]फलाभावात्, अन्धप्रदीपवत्, ज्ञानस्य हि फलं विरतिः, सा च मिथ्या-
दृष्टेर्न विद्यत इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ प्रकृतं प्रस्तुमः-इह मतिपूर्वं श्रुतमिति कृत्वा मतिज्ञानमेवाधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

४६. से किं तं आभिणिबोहियणाणं ? आभिणिबोहियणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-
15 सुयणिस्सियं च असुयणिस्सियं च ।

४६. से किं तमित्यादि । अत्र निर्वचनम्-द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-श्रुतनिश्चितं चाश्रुतनिश्चितं च । 'चौ'
पूर्ववत् । श्रुतमिह सामायिकादि लोकविन्दुसारान्तं द्रव्यश्रुतं गृह्यते, तदनुसारेण श्रुतपरिकर्मितमतेस्तदपेक्षमेव
चोत्पादकाले यदुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्चितं अत्रग्रहादि । यत्पुनस्तदनपेक्षं तथात्रियक्षयोपशमप्रभवमेव वर्तते तदश्रुत-
निश्चितं औत्पत्तिक्यादि । आह-इदमप्यवग्रहादिरूपमेव, सत्यम्, किन्तु श्रुतानुसारमन्तरेणोत्पत्तेर्भेदेनोक्तम् ॥
20 तत्राल्पतरवक्तव्यत्वाद्श्रुतनिश्चितमतिज्ञानमतिपादनायाह—

४७. से किं तं असुयणिस्सियं ? असुयणिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—
उप्पत्तिया १ वेणइया २ कम्मया ३ पारिणामिया ४ ।

बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पंचमा नोवलब्भइ ॥ ५८ ॥

पुवं अदिट्ठमसुयमवेइयतक्खणविसुद्धगहियत्था ।

25 अवाहयफलजोगा बुद्धी उप्पत्तिया णाम ॥ ५९ ॥

भरहसिल १ पणिय २ रुक्खे ३ खुड्डुग ४ पड ५ सरड ६ काय ७ उच्चारे ८ ।

गय ९ घयण १० गोल ११ खंभे १२

खुड्डुग १३ मग्गि १४ त्थि १५ पति १६ पुत्ते १७ ॥ ६० ॥

भरह सिल १ मिह २ कुकुड ३ वालुय ४ हत्थी ५ [य] अगड ६ वणसंडे ७ ।

पायस ८ अइया ९ पत्ते १० खाडहिला ११ पंच पियरो १२ य ॥ ६१ ॥
महुसित्थ १८ मुद्दि १९ गंके २० य णाणए २१ भिक्खु २२ चेडगणिहाणे २३ ।
सिक्खा २४ य अत्थसत्थे २५ इच्छा य महं २६ सतसहस्से २७ ॥ ६२ ॥ १ ।

भरणित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्यगहियपेयाला ।

उभयोलोगफलवती विणयसमुत्था हवति बुद्धी ॥ ६३ ॥

णिमित्ते १ अत्थसत्थे २ य लेहे ३ गणिए ४ य क्ख ५ अस्से ६ य ।

गह्म ७ लक्खण ८ गंठी ९ अगए १० रहिए य गणिया य ११ ॥ ६४ ॥

सीया साडी दीहं च तणं अवसब्बयं च कुञ्चस्स १२ ।

निव्वोदए १३ य गोणे घोडग पडणं च रुक्खाओ १४ ॥ ६५ ॥ २ ।

उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिघोलणविसाला ।

साहुक्कारफलवती कम्मसमुत्था हवति बुद्धी ॥ ६६ ॥

हेरणिए १ करिए २ कोलिय ३ डोए ४ य मुत्ति ५ घय ६ पवए ७ ।

तुण्णाग ८ वड्ढती ९ पूतिए १० य घड ११ चित्तकारे १२ य ॥ ६७ ॥ ३ ।

अणुमाण-हेउ-दिट्ठंतसाहिया वयविवागपरिणामा ।

हिय-णीसेसफलवती बुद्धी परिणामिया णाम ॥ ६८ ॥

अभए १ सेट्ठि २ कुमारे ३ देवी (?वे) ४ उदिओदए हवति गया ५ ।

साहू य णंदिसेणे ६ धणदत्ते ७ नाव(?वि)ग ८ अमजे ९ ॥ ६९ ॥

खमए १० अमचपुत्ते ११ चाणके १२ चेट्ट थूलभदं १३ य ।

णासिक्खसुंदरीनंदे १४ वहरे १५ परिणामिया बुद्धो ॥ ७० ॥

चलणाहण १६ आमंडे १७ मणी १८ य माये १९ य नत्ति २० भूमि २१ दे २२ । २३

परिणामियबुद्धीए एवमादी उदाहण्या ॥ ७१ ॥ ४ ।

से त्तं असुयनिस्सियं ।

४७. से त्तं निमित्त्वादि । अत्र-उत्पत्तिसाधकाणां । चण्डाला-चण्डालिनो ज्ञानेन चण्डाले वायाः एतं श्रित्वादि ।

आम-अयोपणमः अयोजनसमयाः, समयम्. चित्तं न चण्डालावाचकं न चण्डालिनो वाच्यं इति न चित्तं चण्डे, न चण्डाले, न चण्डाले वाच्यं न चण्डालावाचकं न चण्डालिनो वाच्यं इति । चित्तवः-चण्डालावाचकं न चण्डालिनो वाच्यं इति । अथवादि ३ १० पार्श्वे, न्यायार्थे, चित्तं, नित्यवाचकः चण्डे, चण्डालिनो वाच्यं, चण्डाले वाच्यं, चण्डाले वाच्यं, चण्डाले वाच्यं ।

नमनं परिणामः—सुदीर्घकालपूर्वापरार्थावलोकनादिजन्य आत्मधर्म इत्यर्थः, स कारणमस्यास्तत्प्रधाना वा पारिणा-
मिकी । बुध्यते अनयेति बुद्धिः, मतिरित्यर्थः, सा चतुर्विधोक्ता तीर्थकर-गणधरैः । किमिति ? यस्मात् पञ्चमी
नोपलभ्यते केवललिनाऽपि, असत्त्वादिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ औत्पत्तिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

पुञ्ज० गाहा । 'पूर्व'मिति बुद्ध्युत्पादात् प्राक् स्वयमदृष्टः अन्यतथाश्रुतः अवेदितः—मनसाऽप्यनालोचितः
5 तरिमन्त्रेव क्षणे विशुद्धः—यथावस्थितः गृहीतः—अवधारितः अर्थः—अभिप्रेतपदार्थो यया सा तथा । इहैकान्तिकमिह-पर-
लोकाविरुद्धं फलान्तरावाधितं चाव्याहृतमुच्यते, फलं—प्रयोजनम्, अव्याहृतं च तत् फलं च अव्याहृतफलम्, योगोऽ-
स्यास्तीति योगिनी, अव्याहृतफलेन योगिनी अव्याहृतफलयोगिनी । अन्ये पठन्ति—'अव्याहृतफलयोगा' अव्याह-
तफलेन योगोऽस्याः सा अव्याहृतफलयोगा बुद्धिः औत्पत्तिकी नामेति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

साम्प्रतं विनेयजनानुग्रहायास्या एव स्वरूपप्रतिपादनार्थमुदाहरणानि प्रतिपादयन्नाह—

10 भरहसिलपणिय० गाहा । अरह० गाहा । महुसित्थ० गाहा । आसामर्थः कथानकेभ्य एवावसेयः ।
तानि चावसरप्राप्तान्यपि गुरुनियोगान्न ब्रूमः, कित्वावश्यके वक्ष्यामः ॥६०॥६१॥६२॥

अधुना वैनयिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

भरणित्थ० गाहा । व्याख्या—इहातिगुरु कार्यं दुर्निर्वहत्वाद् भर इव भरः, तन्निस्तरणे समर्था भरनिस्तरण-
समर्था । त्रयो वर्गास्त्रिवर्गमिति लोकरुद्धेर्धर्मा-ऽर्थ-कामाः, तदर्जनपरोपायप्रतिपादननिबन्धनं सूत्रम्, तदन्वाख्यानं त्वर्थः,
15 पेयालं—प्रमाणं सारो वा, त्रिवर्गसूत्रार्थयोर्गृहीतं प्रमाणं सारो वा यया सा तथाविधा । अथवा त्रिवर्गः—त्रैलोक्यम् ।
आह—त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वे सति अश्रुतनिश्चितत्वं विरुध्यते ? इति, न हि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृही-
तसारत्वं सम्भवति, अत्रोच्यते—इह प्रायोवृत्तिमङ्गीकृत्याश्रुतनिश्चितत्वमुक्तम्, अतः स्वल्पश्रुतनिश्चितभावेऽपि न कश्चिद्
दोष इति । 'उभयलोकफलवती' ऐहिका-ऽऽमुष्मिकफलवती 'विनयसमुत्था' विनयोद्भवा भवति बुद्धिरिति
गाथार्थः ॥ ६३ ॥ अस्या एव विनेयजनानुग्रहार्थमुदाहरणैः स्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

20 णिमित्ते० गाहा । सीता० गाहा । गाथाद्वयार्थः कथानकेभ्य एवावसेयः । तानि चोत्तरत्र वक्ष्यामः
॥६४॥६५॥ साम्प्रतं कर्मजाया बुद्धेर्लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

उचयोग० गाहा । व्याख्या—उपयोजनमुपयोगः—विवक्षिते कर्मणि मनसोऽभिनिवेशः, सारः—तस्यैव कर्मणः
परमार्थः, उपयोगेन दृष्टः सारो ययेति समासः, अभिनिवेशोपलब्धकर्मपरमार्थेत्यर्थः । कर्मणि प्रसङ्गः कर्मप्रसङ्गः,
प्रसङ्गः—अभ्यासः, परिघोलनं—विचारः, कर्मप्रसङ्ग-परिघोलनाभ्यां विशाला कर्मप्रसङ्ग-परिघोलनविशाला, अभ्यास-
25 विचारविस्तीर्णोति भावार्थः । साधु कृतमिति—सुष्ठु कृतमिति विद्वद्भ्यः प्रशंसा साधुकारः, तेन फलवतीति
समासः, साधुकारेण वा शेषमपि फलं यस्याः सा तथा । 'कर्मसमुत्था' कर्मोद्भवा भवति बुद्धिरिति गाथार्थः
॥६६॥ अस्या अपि विनेयवर्गानुसम्पयोदाहरणैः स्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

हेरणिणप० गाहा । व्याख्या—अस्या अप्यर्थं वक्ष्यामः ॥६७॥ साम्प्रतं पारिणामिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

अणुमाण० गाहा । व्याख्या—अनुमान-हेतु-दृष्टान्तैः साध्यमर्थं साधयतीति अनुमान-हेतु-दृष्टान्तसाधिका । इह
30 लिङ्गज्ञानमनुमानम्, स्वार्थमित्यर्थः, तत्प्रतिपादकं वचो हेतुः, परार्थमित्यर्थः । अथवा ज्ञापकमनुमानम्, कारको हेतुः ।
दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः । आह—अनुमानग्रहणादेव दृष्टान्तस्य गतत्वाद्दलमुपन्यासेन, न, अनुमानस्य तत्त्वत
एकलक्षणत्वान् । उक्तं च—“अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?” [इत्यादि । साध्यो-

पमाभूतश्च दृष्टान्तः । उक्तं च—“यः साध्यस्योपमाभूतः स दृष्टान्त इति कथ्यते” । कालकृतो देहावस्थाविशेषो वय इत्युच्यते, तद्विपाकेन परिणामः—पुष्टता यस्याः सा तथाविधा । हितम्—अभ्युदयस्तत्कारणं वा, निःश्रेयसं—मोक्षस्तन्निवन्धनं वा, हित-निःश्रेयसाभ्यां फलवती बुद्धिः पारिणामिकीति गार्थार्थः । ॥६८॥

अस्या अपि शिष्यगणहितायोदाहरणैः स्वरूपं दर्शयन्नाह—

अभए० गाहा । खमए० गाहा । चलणा० गाहा । आमामर्थः कथानकेभ्य एवावसेयः । तानि चान्यत्र 5
वक्ष्यामः ॥६९॥७०॥७१॥ “से तं” इत्यादि, तदेतदश्रुतनिश्चितम् ॥

४८. से किं तं सुयणिस्सियं मतिणाणं ? सुयणिस्सियं मतिणाणं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—उग्गहे १ ईहा २ अवाए ३ धारणा ४ ।

४८. से किं तमित्यादि । चतुर्विधं प्रकृतम्, तद्यथा—अवग्रह ईहा अपायो धारणा । अवग्रहणमवग्रहः, सामान्यमात्रनिर्देश्यार्थग्रहणमित्यर्थः । तथा ईहनमीहा, तदर्थपर्यायोचनचष्टेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—अवग्रहाद्- 10
चीर्णः अपायान् पूर्वः सदभूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसदभूतार्थविशेषत्यागाभिमुखश्च प्रायो मधुरत्वादयः जहा-
दिशब्दधर्मा अत्र घटन्ते, न स्वर-कर्कश-निष्फुरतादयः शास्त्रीदियब्दधर्मा इति मतिविशेष इहेति । तथा तदर्थाध्य-
वसायोऽपायः निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम् । एतदुक्तं भवति—‘शाह एवायम्, गाई एव चा’ इत्याद्यन्-
धारणात्मकः प्रत्ययोऽपाय इति । तथा तदर्थविशेषधरणं धारणा, अविच्छ्युति-मृति-चामनात्वात् ॥

४९. से किं तं उग्गहे ? उग्गहे दुव्विहे पण्णत्तं, तं जहा—अत्योग्गहे य वंजणोग्गहे य । 15

४९. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयमवग्रहः ? अवग्रहो द्विविधः प्रकृतः, तद्यथा—अर्थात्प्राथ-
व्यञ्जनावग्रहश्च । अर्थ्यत इत्यर्थः, अर्थस्यावग्रहोऽर्थावग्रहः, सकलविशेषनिर्देश्यनिर्देश्यार्थग्रहणमेवगामयिकमिति
भावार्थः । व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेत्र घट इति व्यञ्जनम्, कञ्चोपग्रहोऽत्रिंशं कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञानो वा,
ततश्च व्यञ्जनेन—उपधारणेन्द्रियेण व्यञ्जनानां—शब्दादिपरिणतश्रवणात्मकयोः कथनानुसृतः । अथापारिपत्यम् न
(? सु) लक्ष्यत्वात् सकलेन्द्रियार्थव्यापकत्वाच्च प्रथममूपन्यासः, ततो दर्शय अगह मन्तो मिश्रयातो वापत्त तायेतस्य ॥ २)

५०. से किं तं वंजणोग्गहे ? वंजणोग्गहे चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—नोतिदियवंज-
णोग्गहे १ घाणेदियवंजणोग्गहे २ जिच्चिंदियवंजणोग्गहे ३ शोभेदियवंजणोग्गहे ४ । मे
त्तं वंजणोग्गहे ।

५०. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं व्यञ्जनावग्रहः ? इहा, एवमवग्रहोऽत्र, कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञानो वा, तद्विग्रहोऽत्रिंशं
सुदिरिग्रहोऽत्रिंशं । प्रकृतसुयने—व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधः प्रकृतः, तद्यथा—अर्थात्प्राथम्येण कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञानो वा,
आह—पक्षेन्द्रिय-भूतमज्ञाने नति इतिमित्यर्थे चतुर्विधः ? इति, अनेनयने, कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञानो वा, तद्विग्रहोऽत्रिंशं
व्यञ्जित्ये य विपश्चितासुप्रोपसातशान्पन्सात्, प्राणव्यञ्जित्ये एतन्मन्त्रव्यञ्जित्ये शब्दव्यञ्जित्ये कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञानो वा,
सुः । अत्र य विपश्चितासु गान्वा न पर्याति, प्राणं चार्थं नानुसृतवत् कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञाने, सुदिरिजितप्रथमज्ञाने
असा एवासुप्रोपसातो भान्दव्यञ्जित्येति । अन्वयानुसृत—अर्थात्प्राथम्येण कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञानो वा, तद्विग्रहोऽत्रिंशं
सोति, एतदुक्तम्, अन्वयानुसृतवत्, कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञानो वा, तद्विग्रहोऽत्रिंशं कञ्चोदिरिजितप्रथमज्ञानो वा, तद्विग्रहोऽत्रिंशं

तमर्थं गृह्णन्तीति दर्शने रश्मीनां तैजसत्वात् तेजोद्रव्यैरप्रतिस्खलनाद्रोप इति, एतदप्युक्तम्, महाज्वालादीं प्रति-
स्खलनोपलब्धेरिति । अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात्, गमनिकामात्रमेतदिति ॥

५१. [१] से किं तं अत्थोग्गहे ? अत्थोग्गहे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-सोइंदिय-
अत्थोग्गहे १ चर्म्मिस्वदियअत्थोग्गहे २ घाणिंदियअत्थोग्गहे ३ जिब्भिमदियअत्थोग्गहे ४
५ फासिंदियअत्थोग्गहे ५ णोइंदियअत्थोग्गहे ६ । [२] तस्स णं इमे एगट्ठिया णाणा-
घोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा-ओगिण्हणया १ उवधारणया २ सवणता
३ अवलंबणता ४ मेहा ५ । से तं उग्गहे ।

५१. [१] से किं तमित्यादि । अथ कोऽयमर्थावग्रहः ? अर्थावग्रहः पड्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रि-
यार्थावग्रह इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत्—

१० [२] तस्स णं इमे इत्यादि । 'तस्य' अवग्रहस्य 'अमूनि' वक्ष्यमाणानि "णं" पूर्ववद् अवग्रहसामान्या-
पेक्षयैकार्थिकानि नानाघोषाणि नानाव्यञ्जनानि पञ्च नामधेयानि भवन्ति । घोषाः-उदात्तादयः । कादीनि
व्यञ्जनानि । नामैव नामधेयम्, अवग्रहविशेषापेक्षया तु कथञ्चिद् भिन्नार्थानि । त्रिविधश्चावग्रहः-सामान्यावग्रहो
विशेषावग्रहः विशेषसामान्यार्थावग्रहश्चेति । तत्र भिन्नार्थता निदर्शयते—"तं जहा-ओगिण्हणते"त्यादि, अवग्रहतेऽने-
नेति अवग्रहणम्, करणे ल्युट्, व्यञ्जनावग्रहप्रथमसमयमविष्टशब्दादिद्रव्यादानपरिणाम इत्यर्थः, तद्भावः अव-
१५ ग्रहणता १ । धार्यतेऽनेनेति धारणम् । उप-सामीप्येन धारणं उपधारणम्, व्यञ्जनावग्रहद्वयादिसमयेष्ववसानान्तं
प्रतिसमयमेव शब्दादिद्रव्यादान-धारणपरिणाम इति भावना, तद्भाव-उपधारणता २ । श्रूयतेऽनेनेति श्रवणम्, एक-
सामयिकसामान्यार्थावग्रहावबोधपरिणाम इत्युक्तं भवति, तद्भावः श्रवणता ३ । अवलम्बत इत्यवलम्बनम्, "कृत्यल्युटो
वहुलम्" [पाणि. ३. ३. ११३] इतिवचनात् कर्मणि ल्युट्, तद्भावः अवलम्बनता, विशेषसामान्यार्थावग्रह इति
भाषार्थः । तथाहि-उत्तरोत्तरधर्मजिज्ञासायां सत्यां शब्दादिज्ञानमेवावलम्ब्येहादयः प्रवर्तन्ते, 'किमयं शाह्वः ? किं
२० वा शाह्वः ?' इति, अतस्तदनन्तरमेवेहादिप्रवृत्तेर्विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनमिति ४ । एवमुत्तरोत्तरधर्मजिज्ञासायां
सत्यां विशेषसामान्यार्थावग्रहेषु मर्यादया धावतो मेधोच्यते, यावदधिगच्छति, यथा-शाह्वः, स किं मन्द्रः ? किं वा
तारः ? इत्यादि ५ । यत्र व्यञ्जनावग्रहो नास्ति तत्राद्यभेदद्वयाभाव इति । "से तं उग्गहे" सोऽयमवग्रहः ॥

५२. [१] से किं तं ईहा ? ईहा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-सोतेंदियईहा १ चर्म्मिस्व-
दियईहा २ घाणेंदियईहा ३ जिब्भिमदियईहा ४ फासेंदियईहा ५ णोइंदियईहा ६ ।

२५ [२] तीसे णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा-
आभोगणया १ मग्गणया २ गवेसणया ३ चिंता ४ वीमंसा ५ । से तं ईहा ।

५२. [१] से किं तमित्यादि सूत्रं निगदसिद्धं यावत्—

[२] 'आभोगनता' इहार्थावग्रहसमयसमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनमाभोगनमुच्यते, तद्भाव
आभोगनता १ । मृग्यतेऽनेन परिणामकरणेनेति मार्गणम्, सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव तद्दर्शनमन्वय-व्यतिरेक-
३० धर्मान्वेषणमिति हृदयम्, तद्भावो मार्गणता २ । एवमन्विष्यतेऽनेनेति गवेसणम्, तत ऊर्ध्वं सद्भूतार्थविशेषाभिमुख-

अवग्रहादिकालप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह —

५५. उगगहे एकसामइए, अंतोमुहुत्तिया ईहा, अंतोमुहुत्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं ।

५५. उगगहे० इत्यादि । अर्थावग्रह एकसामयिकः । आन्तमौहूर्तिकी ईहा । आन्तमौहूर्तिकोऽपायः । धारणा
5 सङ्ख्येयं वाऽसङ्ख्येयं वा कालं स्मृति-वासनारूपा, सङ्ख्येयवर्पायुपां सङ्ख्येयमसङ्ख्येयवर्पायुपामसङ्ख्येयम् ॥

५६. एवं अट्टावीसतिविहस्स आभिणिबोहियणाणस्स वंजणोग्गहस्स परूवणं करिस्सामि पडिबोहगदिट्ठंतेण मल्लगदिट्ठंतेण य ।

५६. एवं अट्टावीसतिविधस्सेत्यादि । 'एवं' उक्तेन प्रकारेण अष्टाविंशतिविधस्य । कथमष्टाविंशतिविधम् ?
चतुर्विधो व्यञ्जनावग्रहः, पड्विधोऽर्थावग्रहः पड्विधा ईहा, पड्विधोऽपायः, पड्विधा धारणा । एवमष्टाविंशतिविध-
10 स्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानस्य सवन्धी यो व्यञ्जनावग्रहः तस्य 'परूपणं' प्रतिपादनं करिष्यामि । कथम् ? प्रतिबोधकदृष्टान्तेन
मल्लकदृष्टान्तेन च ॥

५७. से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ? पडिबोहगदिट्ठंतेणं से जहाणामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोधएज्ज 'अमुगा ! अमुग !' त्ति, तत्थ य चोयगे पन्नवगं एवं वयासी-
किं एगसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति ? दुसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति ? जाव
15 दससमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति ? संखेज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति ?
असंखेज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति ? । एवं वदंतं चोयगं पणवगे एवं वया-
सी-णो एगसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, णो दुसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमा-
गच्छंति, जाव णो दससमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, णो संखेज्जसमयपविट्ठा
पोग्गला गहणमागच्छंति, असंखेज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति । से तं पडि-
20 बोहगदिट्ठंतेणं ।

५७. से किं तमित्यादि । प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधकः, स एव दृष्टान्तस्तेन । तद् यथानाम 'कश्चिद्'
अनिर्दिष्टस्वरूपः पुरुषः 'कश्चित्' अन्यतममनिर्दिष्टस्वरूपमेव पुरुषं सुप्तं सन्तं "पडिबोधएज्ज" त्ति प्रतिबोधयेत् ।
कथम् ? 'अमुक ! अमुक !' इति । तत्र 'चोदके'त्यादि । इह ज्ञानावरणकर्मोदयतः कथितमपि सूत्रार्थमनवगच्छन्
प्रश्नचोदनात् चोदकः, अविशिष्टक्षयोपशमभावतो वा अगृहीतशास्त्रगर्भार्थः पूर्वापरविरोधचोदनात् चोदकः । यथाऽ-
25 यस्थितं सूत्रार्थं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापकः, श्रौतार्थापेक्षया विरुद्धं पुनरुक्तसूत्रं वा अर्थतोऽविरुद्धमपुनरुक्तं प्रज्ञापयतीति
प्रज्ञापकः । तत्र चोदकः प्रज्ञापकं एवमुक्तवानिति, भूतकालनिर्देशः "अनादिमानागमः" इति ख्यापनार्थः ।
'किमेकसमयपविट्ठे'त्यादि सुगमं यावत् 'एवं वदन्तं चोदकं प्रज्ञापक एवमुक्तवान्' । 'नो एकसमयपविट्ठे'त्यादि
प्रकटार्थं यावत् 'नो सङ्ख्येयसमयपविट्ठाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति' । नवरमयं प्रतिषेधः स्फुटशब्दविज्ञानग्राह्यता-

मधिकृत्य वेदितव्यः, शब्दविज्ञानजनकत्वेनेत्यर्थः, अन्यथा सम्बन्धमात्रमधिकृत्य प्रथमसमयादारभ्य ग्रहणमागच्छन्त्येव । “ असंखेज्ज ” इत्यादि, प्रतिसमयप्रवेशेनाऽऽदित आरभ्य असङ्ख्येयसमयैः प्रविष्टैरसङ्ख्येयसमयप्रविष्टाः, न पुनर्विज्ञानाऽऽहोभिः पश्चिक्वृहप्रवेशवदपान्तरालागमनसमयापेक्षयाऽसङ्ख्येयसमयप्रविष्टा इति, ‘पुद्गलाः’ शब्दद्रव्यविशेषा ग्रहणमागच्छन्ति, अर्थावग्रहज्ञानहेतवो भवन्तीति भावः । इह च चरमसमयप्रविष्टा एव ग्रहणमागच्छन्ति, तदन्ये त्विन्द्रियक्षयोपशमोपकारिण इत्योच्यते ग्रहणमुक्तमिति । असङ्ख्येयमानं चात्र जयन्यमावृत्तिकाऽसङ्ख्येयभागसमयतुल्यम्, उत्कृष्टं तु सङ्ख्येयावृत्तिकासमयतुल्यम्, तत्र प्राणापानपृथक्त्वकाष्ठसमयमिति । उक्तं च—

वृजणवगदकालो आवृत्तियाऽसंख्यभागमेत्तो उ । थोवो, उक्तो नो पुण आणापाणुपुद्गुत्तं ति ॥१॥

[]

“से तं” इत्यादि निगमनम् । सेयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्रत्ययेति वाच्ययोगः ॥

५८. [१] से किं तं मल्लगदिद्वंतेणं ? मल्लगदिद्वंतेणं से जहाणामण् केइ पुरिसे आवाग-
सीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगविदुं पक्खिवेज्जा से णट्ठे. अण्णे पक्खित्ते से वि णट्ठे,
एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही ने उदगविदुं जण्णं तं मल्लगं रावेहिति. होही
से उदगविदुं जण्णं तंमि मल्लगंमि ठाहिति, होही ने उदगविदुं जण्णं तं मल्लगं भरेहिति.
होही से उदगविदुं जण्णं तं मल्लगं पवाहेहिति. एवमंवेव पक्खिप्पमाणेहे पक्खिप्पमाणेहि
अणंतेहि पोग्गलेहे जाहं तं वृजणं पुरिसं होति ताहे ‘दं’ ति क्केति णो चेव णं जाणति ।
के वेस सदाइ ?, तओ ईहं पविमइ तओ जाहं असुणे एव सदाइ. तओ अवायं
पविमइ तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविमइ तओ णं धारणं संखेज्जं वा कालं
असंखेज्जं वा कालं ।

[२] से जहाणामण् केइ पुरिसे अव्वणं मणं सुणंज्जा सेणं मणं ति उदगदिण्, णो
चेव णं जाणइ के वेस सदाइ ?. तओ ईहं पविमइ तओ जाणति असुणे एव सदाइ, तओ
णं अवायं पविमइ तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविमइ तओ णं धारणं संखेज्जं वा
कालं असंखेज्जं वा कालं । एवं अव्वणं मणं, अव्वणं मणं, अव्वणं मणं, अव्वणं मणं
पडिमंवेदेज्जा ।

[३] से जहाणामण् केइ पुरिसे अव्वणं सुणं पडिमंवेदेज्जा, तेणं सुणंमि ति
उदगदिण् ण ण्ण जाणति के वेस सुणंमि ति, तओ ईहं पविमइ तओ जाणति असुणे
एव सुणंमि ति, तओ अवायं पविमइ तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविमइ तओ णं
धारणं संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं । से तं मल्लगदिद्वंतेणं ।

५८. [१] से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं मल्लकदृष्टान्तः ?, मल्लकदृष्टान्तो नाम तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः 'आपाकशिरसः' आपाकः प्रतीतः तच्छिरसश्च 'मल्लकं' शरावं गृहीत्वा, 'इदं रूक्षं भवति' इत्यतोऽस्य ग्रहणमिति, 'तत्र' मल्लके एकं उदकविन्दुं प्रक्षिपेत् स नष्टः, तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थः । शेषं सुगमं यावत् "जण्णं तं मल्लकं रावेहिति" आर्द्रतां नेष्यति, शेषं सुगमं यावत् "एवामेव" इत्यादि, अतिवहुत्वात् प्रतिसमयमनन्तैः
- 5 'पुद्गलैः' शब्दपुद्गलैर्यदा तद् व्यञ्जनं पूरितं भवति तदा 'हं' इति करोति, तमर्थं गृह्णातीत्युक्तं भवति । अत्र व्यञ्जनशब्देन त्रयमभिगृह्यते—द्रव्यं १ इन्द्रियं २ सम्बन्धो ३ वा । यदा द्रव्यं व्यञ्जनमधिक्रियते तदा 'पूरित'-मिति प्रभूतीकृतम्, स्वप्रमाणमानीतम्, स्वविषयव्यक्तौ समर्थीकृतमित्यर्थः १ । यदा व्यञ्जनमिन्द्रियं तदा 'पूरित'मित्याभृतम्, आभृतं व्याप्तमित्यर्थः २ । यदा तु द्वयोरपि सम्बन्धोऽधिक्रियते तदा 'पूरित'मिति अज्ञानी-भावमानीतम्, अनुपक्तमित्यर्थः ३ । एवं यदा पूरितं भवति तदानीं तमर्थं गृह्णाति । किंविशिष्टम् ? नाम-जात्यादि-
- 10 कल्पनारहितम्, तथा चाह—“णो चेव णं जाणइ के वेस सदादि ?” त्ति, न पुनरेवं जानाति क एप शब्दादिरर्थ इति, एकसामयिकत्वादर्थावग्रहस्य, अत्रार्थावग्रहात् पूर्वं सर्वो व्यञ्जनावग्रह इति । “ततो ईहं पविसति” इत्यादि सुगमं यावत् “संखेज्जं वा असंखेज्जं वा कालं” ति । अत्राह—सुप्तमङ्गीकृत्य युज्यतेऽयं न्यायः, जाग्रतस्तु शब्दश्रवणसमनन्तरमेव अवग्रहहाव्यतिरेकेणैवापायज्ञानमुत्पद्यते, तथोपलम्भात्, न चैतदनार्पम्, यत आह सूत्रकारः—“से जहाणामए” इत्यादि; अथवा यदुक्तम् “न पुनरेवं जानाति 'क एप शब्दादिः ?' किं तर्हि ? नाम-जात्यादि-
- 15 कल्पनारहितं गृह्णातीत्येतदयुक्तम्, यत एवमागमः—“से” इत्यादि, अथवा सुप्तप्रतिबोधक-मल्लकदृष्टान्ताभ्यां व्यञ्जना-दर्थावग्रहयोः सामान्येन स्वरूपमभिधाय अधुना मल्लकदृष्टान्तेनैव प्रतिपादयन्नाह—

- [२] से जहा इत्यादि, तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः अव्यक्तं शब्दं शृणुयात् । 'अव्यक्तमिति' अनिर्देश्यस्वरूपं नामादिकल्पनारहितमिति, अनेनार्थावग्रहमाह, तस्य च श्रोत्रेन्द्रियसम्बन्धिनो व्यञ्जनावग्रहपूर्वकत्वाद् व्यञ्जनावग्रहं च । आह—न ह्यत्रैवं क्रम उपलभ्यते, किन्त्वक्षेपेण शब्दापायज्ञानमेव वेद्यते, सूत्रेऽव्यक्तमिति शब्दविशेषणं कृतम-
- 20 तोऽव्यक्तं सन्दिग्धं पुरुषादिशब्दभेदेन शब्दं शृणुयादिति, न्याय्यम्, तथा चोत्तरसूत्रमप्येतदेवाह—“तेणं सदे त्ति उग्गाहिते” 'तेन' श्रोत्रा शब्द इत्यवगृहीतं “णो चेव णं जाणति के वेस सदादि” न पुनरेवं जानाति—कः 'एपः' पुरुषादिसमुत्थानामन्यतमः शब्द इति, आदिशब्दाद् रसादिष्वप्ययमेव न्याय इति ज्ञापयति । “ततो ईहं पविसति” इत्याद्यापि सम्बद्धमिति, नैतदेवम्, उत्पलपत्रशतव्यतिभेददृष्टान्तेन कालभेदस्य दुर्लक्षत्वाद् अक्षेपेण शब्दापाय-ज्ञानानुपपत्तेः, यच्च 'तेन शब्द इत्यवगृहीतम्' इत्युक्तम्, अत्र 'शब्दः' इति भणति वक्ता सूत्रकार इति, करणनिर्दे-
- 25 शात् शब्दमात्रं चाशेषविशेषविमुखम्, न तु शब्दयुद्ध्या, तस्यैवापायप्रसङ्गात्, अवग्रहादिश्रुतव्यतिरेकेण च मतिज्ञानानुत्पत्तेः, तथा चाह—“णो चेव ण”मित्यादि, न पुनरेवं जानाति क एप शब्दादिरर्थः, सामान्यमात्रप्रतिभासनात् । आह च भाष्यकारः—

- अव्यक्तमणिदेसं सरुव-णामादिकृष्णारहितं । यदि एवं जं 'तेणं गहियं सदे' त्ति तं कह णु ? ॥१॥
 'सदे' त्ति भणति वक्ता, तम्मत्तं वा ण सदमुत्ती(सुद्धी)ए । यदि होज्ज सदसुद्धी तोऽवाओ चेव सो होज्जा ॥२॥
 30 जति सदसुद्धिमेत्तयमवग्गहे तच्चिसेसणमवाओ । णणु सदो णासदो ण य रूवादी विसेतोऽयं ॥३॥
 थोवमियं णावायो तंभेयाविवखणं अवाओ त्ति । तंभेयाविवखाए णणु थोवमिणं पि णावाओ ॥४॥

[विशेषा. गा. २५२-५५] इत्यादि ।

१ सामण्यमणिदेसं इति महाभाष्ये पाठो वक्तव्ये ॥ २ संखाइविसेसणं अवाओ त्ति महाभाष्ये पाठः ॥

अन्ये त्वात्रायां इदं सूत्रं विशेषसामान्यार्थोत्प्रेक्षविषयं व्याचक्षते—‘अव्यक्तं’ अनिर्द्धारितविशेषस्वरूपं अशब्द-
व्यवच्छेदेन शब्दं शृणुयात्, तेन शब्द इति शब्दमात्रमवगृहीतम्, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दः ?, शाङ्ख-शाङ्गी-
दीनामन्यतमः, आदिशब्दाद् रसादिपरिग्रहः, तत्रापीयमेव वार्तेति, युक्तियुक्ता चेयं व्याख्येति । ततः ‘इहां प्रविशति’
सदर्थपर्यालोचनां करोति, इह च द्रुवबोधत्वाद् वस्तुनः अपदुत्वाच्च मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्यासञ्जातापाय एवेहो-
पयोगात् च्युतः पुनरप्यन्यमन्तर्मुहूर्त्तमीदृते, एवमीहोपयोगाविवच्छेदत एव प्रभूतानप्यन्तर्मुहूर्त्तानीदृते इति सम्भवः,
ततः ‘जानाती’त्यादि वस्तुतः सतार्थं यावत् स्वशनेन्द्रियवक्तव्यता । उक्तं च भाष्यकारेण—

सेसेसु वि त्वादिषु विनपसु वि होइ सूत्रलक्षणाइं । पायं पञ्चानन्ननपेणमीहादिवत्शृणि ॥१॥

थाणुपुरिसादि-कुट्टुष्पादि-भितकरिद्धमंसार्दा । सप्योप्पल्लणाद्यादि य समाणत्वादिविसयाइं ॥२॥

एवं चिय नुमिणादिषु मणसो नदादिषु विनपसु । होतिदियवाचाराभावे वि अवगदादीया ॥३॥

[विशेष. गा. २९२-९४] इत्यादि ।

[३] से जहाणामए इत्यादि । इह प्रतिबोधप्रथममनये ‘अव्यक्तम्’ अनिर्द्धारितस्वरूपं स्वप्नं प्रतिसेवेद-
येत् तस्य तदाऽर्थावग्रहः, तत ऊर्ध्वमाहादय इति । अन्ये तु मनसोऽप्यर्थावग्रहात् पूर्वं व्यञ्जनावग्रहं मनोद्रव्यव्यञ्जन-
ग्रहणलक्षणं व्याचक्षते तत पुनरयुक्तम्, अनापन्त्यात्, व्यञ्जनावग्रहस्य श्रोत्रादिभेदेन चतुर्विधत्वाद् । योतं प्रकृतार्थम्
यावत् “से तं मल्लादिद्वन्द्वेण” । इह च नुबप्रतिपत्त्यर्थं स्वप्नमधिकृत्य नोऽन्द्रियार्थावग्रहादयः प्रतिरादिताः,
अन्यथाऽन्यत्रापीन्द्रियव्यापाराभावे मति मनसा पर्यालोचयतोऽवगन्तव्या इति । अत्राऽऽह-विमुक्तमज्ञमवग्रहादि-
क्रमं विहाय यच्चिदपि मतिज्ञानं नोन्यग्रते येनैवं क्रमः ? इति. अत्रोच्यते, नोन्यग्रते, तथाहि-ज्ञानवस्तुधीनमीपते,
न चानाहितमवगम्यते, न चानवगतं धार्यते इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ सर्वभेदेन द्रव्यादिभित्तव्यत्वात्—

५९. तं समासओ चउव्वितं पण्णत्तं, तं जहा-द्वयोओ न्येत्तओ कालओ भावओ ।
तत्थ दव्वओ णं आभिणिवोहियणाणी आप्पेणं मव्वदव्वाटं जाणति ण पानति १ ।
स्वत्तओ णं आभिणिवोहियणाणी आप्पेणं मव्वं मव्वं जाणत्तं ण पानत्तं २ । कालओ णं
आभिणिवोहियणाणी आप्पेणं मव्वं कालं जाणत्तं ण पानत्तं ३ । भावओ णं आभिणि-
वोहियणाणी आप्पेणं मव्वं भावं जाणत्तं ण पानत्तं ४ ।

५९. तं समासतो इत्यादि । इयमेव आभिनिवोहिव्यवहारी । अत्रोच्यते-‘जहा-द्वयोओ न्येत्तओ कालओ भावओ’
विशेषतश्च, तत्र द्रव्यजातिसामान्यादेवेन ‘जहाणं’ अनापि तत्रापीति इत्यन्वयः, अत्रोच्यते-‘तत्थ दव्वओ णं’
धर्माग्नित्वावस्य देश इत्यादि, न पण्यति सर्वान्तरा अनापि तत्रापीति, इत्यादि । ‘तं पानत्तं’ इति विशेषणव्यवहारः
पण्यत्यपि, हुतादेवतो वा जानाति । एवं जहाणं इति अत्रोच्यते । सर्वं भावं न पण्यति । तथा इति,
भावोपपेण—

आदेसो वि फारो, ओतदेसेण मव्वदव्वत्तं । अत्रविद्वत्तव्यं जहाणं न इ तीव्वत्तं १ ।

१. अत्रोच्यते-‘जहाणं’ अनापि तत्रापीति इत्यन्वयः, अत्रोच्यते-‘तत्थ दव्वओ णं’ धर्माग्नित्वावस्य देश इत्यादि, न पण्यति सर्वान्तरा अनापि तत्रापीति, इत्यादि । ‘तं पानत्तं’ इति विशेषणव्यवहारः पण्यत्यपि, हुतादेवतो वा जानाति । एवं जहाणं इति अत्रोच्यते । सर्वं भावं न पण्यति । तथा इति, भावोपपेण—

गन्धादि स्तोक्रद्रव्यत्वादभावुकत्वाद् घ्राणादीनां चापदुत्वाद् विनिधिनोतीत्येवं व्यागृणीयादिति गाथार्थः ३
॥७५॥ इह 'स्पृष्टं शृणोति शब्दम्' इत्युक्तम्, तत्र किं शब्दप्रयोगोत्सृष्टान्येव केवलानि शब्दद्रव्याणि गृह्णाति ?
उतान्यानि तद्भाषितानि ? आहोश्चिद् मिश्राणि ? इति चोदकाभिप्रायमाशङ्क्य 'न तावत् केवलानि, तेषां वासक-
त्वात् तद्योग्यद्रव्याकुलत्वाच्च लोकस्य, किन्तु मिश्राणि तद्भाषितानि वा गृह्णाति' इत्यमुमर्थमभिधित्सुराह—

- 5 भासा० गाहा । व्याख्या—भाष्यत इति भाषा, वचना शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिरित्यर्थः, तस्याः
समश्रेणयो भाषासमश्रेणयः, समग्रहणं विश्रेणीव्यवच्छेदार्थम्, इह श्रेणयः क्षेत्रप्रदेशश्रेणयोऽभिधीयन्ते, ताश्च
सर्वस्यैव भाषमाणस्य पदसु दिक्षु विद्यन्ते, यास्तत्सृष्टा सति भाषाऽऽद्यसमय एव लोकान्तमनुधावतीति, ता इतः—
भाषासमश्रेणीतः, इतो गतः प्राप्तः स्थित इत्यनर्थान्तरम् । एतदुक्तं भवति—भाषासमश्रेणिव्यवस्थित इति ।
शब्दतेऽनेनेति शब्दः—भाषात्वेन परिणतः पुद्गलराशिः तं शब्दम्, यं पुरुषा-ऽश्वादिसम्बन्धिनं 'शृणोति' गृह्णाति
20 उपलभत इति पर्यायाः, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तं मिश्रं शृणोति । एतदुक्तं भवति—उत्सृष्टद्रव्यभाषितापान्तराल-
स्थशब्दद्रव्यमिश्रमिति । विश्रेणिं पुनः इत इति वर्तते, ततश्चायमर्थो भवति—विश्रेणिव्यवस्थितः पुनः श्रोता शब्दं
शृणोति नियमेन पराघाते सति, यानि शब्दद्रव्याण्युत्सृष्टद्रव्याभिघाते वासितानि तान्येव, न पुनरुत्सृष्टानीति
भावार्थः, कुतः ? तेषां अनुश्रेणिगमनात् प्रतिघाताभावाच्च । अथवा विश्रेणिस्थित एव विश्रेणिरभिधीयते, पदेऽपि
पदावयवप्रयोगदर्शनात्, भीमसेनः सेनः सत्यभामा भामेति यथेति गाथार्थः ॥७६॥

- 15 साम्प्रतं विनेयगणसुखप्रतिपत्तये मतिज्ञानपर्यायशब्दानभिधित्सुराह—

ईहा० गाहा । व्याख्या—ईहनमीहा, सदर्थपर्यालोचनचेष्टेत्यर्थः । अपोहनमपोहः, निश्चय इत्यर्थः । विमर्षणं
विमर्षः, ईहा-ऽपायमध्यवर्ती प्रत्ययः । तथाऽन्वयधर्मान्वेषणा मार्गणा । 'चः' समुच्चयार्थः । व्यतिरेकधर्मालोचना
गवेषणा । तथा संज्ञानं सबज्ञा, व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेष इत्यर्थः । स्मरणं स्मृतिः, पूर्वानुभूतार्थालम्बन-
प्रत्ययः । मननं मतिः, कथञ्चिदर्थपरिच्छिन्नावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिरित्यर्थः । तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा, विशिष्ट-
20 क्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा संविदिति भावना । सर्वमिदमाभिनिबोधिकम्, मतिज्ञान-
मित्यर्थः । एवं किञ्चिद्भेदाद् भेदः प्रदर्शितः, तच्चतस्तु मतिवाचकाः सर्व एते पर्यायशब्दा इति गाथार्थः
॥७७॥ "से त"मित्यादि, तदेतदाभिनिबोधिकज्ञानमिति । साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तसकलचरणकरणक्रियाधार-
श्रुतज्ञानस्वरूपजिज्ञासयाऽऽह—

६१. से किं तं सुयणाणपरोक्त्वं ? सुयणाणपरोक्त्वं चोद्दसविहं पण्णत्तं, तं जहा-
25 अक्खरसुत्तं १ अणक्खरसुत्तं २ सण्णिसुयं ३ असण्णिसुयं ४ सम्मसुयं ५ मिच्छसुयं ६ सादीयं ७
अणादीयं ८ सपज्जवसियं ९ अपज्जवसियं १० गमियं ११ अगमियं १२ अंगपविट्ठं १३
अंगपविट्ठं १४ ।

६१. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् श्रुतज्ञानम् ? श्रुतज्ञानमुपाधिभेदाच्चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अक्षरश्रुतं
१ अनक्षरश्रुतं २ संज्ञिश्रुतं ३ असंज्ञिश्रुतं ४ सम्यक्श्रुतं ५ मिथ्याश्रुतं ६ सादि ७ अनादि ८ सपर्यवसितं ९ अपर्यवसितं
30 १० गमिकं ११ अगमिकं १२ अङ्गप्रविष्टं १३ अनङ्गप्रविष्टम् १४ । एतेषां च भेदानां स्वरूपं यथावसरं वक्ष्यामः ।

अक्षरश्रुता-ऽनक्षरश्रुतभेदद्वयान्तर्भावे सत्यपि शेषभेदानामुपन्यासोऽत्रातत्रापनार्थः, न च भेदद्वयादेवाव्युत्पन्नमतीनां शेषभेदावगम इति प्रतीतमेतत् । अलं विस्तरेण ॥ नान्प्रतमुपन्यस्तश्रुतभेदानां स्वल्पमनवगच्छन्नाद्यं भेदमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

६२. से किं तं अक्षरश्रुतं ? अक्षरश्रुतं त्रिविहं पण्णत्तं, तं जहा—सण्णक्खरं १ वंजणक्खरं २ लद्धिअक्खरं ३ ।

६२. से किं तमित्यादि । अथ किं तदक्षरश्रुतम् ? अक्षर "सञ्चक्ष्णे" [पणित्तिवातु. ८५२] न क्षरतीत्यक्षरम्, तच्च दानम्, चेतनेत्यर्थः, जीवन्वाभाव्यादनुययोगेऽपि तत्त्वतो न प्रत्यवत इत्यर्थः, इत्यन्भूतभावाक्षरकार्यकारणत्वादकाराद्यप्यक्षरमुच्यते । तत्राक्षरात्मकं श्रुतमक्षरश्रुतं द्रव्याक्षराण्यधिकृत्य, अथवाऽक्षरं च तद् श्रुतं चाक्षरश्रुतं भावाक्षरमधिकृत्य । इदमक्षरश्रुतं त्रिविधं प्रकृतम्, अक्षरस्यैव त्रिभेदत्वाद् । त्रिभेदानामेव दर्शयन्माह—सञ्जाक्षरं १ व्यञ्जनाक्षरं लब्धयक्षरम् ३ ॥

६३. से किं तं सण्णक्खरं ? सण्णक्खरं अक्षरस्य संज्ञाणा-ऽऽगिती । से तं सण्णक्खरं १ ।

६३. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् संज्ञाक्षरम् ? सञ्जानं संज्ञा, सञ्जायते वा अनयेति संज्ञा, तद्विबन्धनमक्षरं संज्ञाक्षरम्, इदं च 'अक्षरस्य' अकारादेः संन्यासस्यऽऽकृतिः संन्यासाकारः, चतस्रसिक्खरसैवैतेषां कारादिसंज्ञा प्रवर्तते इति । एतच्च शास्त्र्यादिनिर्वाचिथानादनेकविधम् । "से ते सञ्चक्खरं" तदेतद् संज्ञाक्षरम् १ ॥

६४. से किं तं वंजणक्खरं ? वंजणक्खरं अक्षरस्य वंजणाभिलाषो । से तं वंजणक्खरं २ ।

६४. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् व्यञ्जनाक्षरम् ? व्यञ्जयतेऽनेन इति प्रवृत्तम्, व्यञ्जने च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरम्, तथैव सर्वमेव भाष्यकाराणां मतमस्ति । तदक्षरम् च, अक्षरस्यैव तदक्षरस्य, तथा चाह सूत्रकारः—'अक्षरस्य' अकारादेः 'व्यञ्जनाभिलाषः' अकारादेः । "से ते सञ्चक्खरं" तदेतद् व्यञ्जनाक्षरम् २ ॥

६५. से किं तं लद्धिअक्खरं ? लद्धिअक्खरं अक्षरस्य लद्धिअक्खरं मम्मत्तज्जा, तं जहा—सोहंदिअलद्धिअक्खरं १ च्चिअदिअलद्धिअक्खरं २ च्चोहंदिअलद्धिअक्खरं ३ म्मंदिअलद्धिअक्खरं ४ पाहंदिअलद्धिअक्खरं ५ सोहंदिअलद्धिअक्खरं ६ । से तं लद्धिअक्खरं ३ । से तं अक्षरश्रुतं १ ।

६५. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् लद्धिअक्खरम् ? लद्धिअक्खरं अक्षरस्य लद्धिअक्खरं मम्मत्तज्जा, तं जहा—सोहंदिअलद्धिअक्खरं १ च्चिअदिअलद्धिअक्खरं २ च्चोहंदिअलद्धिअक्खरं ३ म्मंदिअलद्धिअक्खरं ४ पाहंदिअलद्धिअक्खरं ५ सोहंदिअलद्धिअक्खरं ६ । से तं लद्धिअक्खरं ३ । से तं अक्षरश्रुतं १ ।

त्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरमिति, एवं शेषेष्वपि भावनीयम् । “से त”मित्यादि, तदेतल्लब्ध्यक्षरम् । “से त”मित्यादि, तदे-
तदक्षरात्मकं अक्षरं च तदिति वा श्रुतं चाक्षरश्रुतम् । अत्र संज्ञा-व्यञ्जनाक्षरे द्रव्यश्रुतम्, लब्ध्यक्षरं पुनर्भावश्रुतम्
लब्धेर्विज्ञानरूपत्वात् ॥

६६. से किं तं अणक्खरसुयं ? अणक्खरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा-
ऊससियं णीससियं णिच्छूढं खारिसियं च छीयं च ।
णिस्संघियमणुसारं अणक्खरं छेलियादीयं ॥ ७८ ॥
से त्तं अणक्खरसुयं २ ।

६६. से किं तमित्यादि । अथ किं तदनक्षरश्रुतम् ? । अनक्षरशब्दकारणं कार्यमनक्षरश्रुतं ‘अनेकविधं’
अनेकप्रकारं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—

10 ऊससियं० गाहा । उच्छ्वसनमुच्छ्वसितम्, भावे निष्ठाप्रत्ययः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम् । निष्ठी-
वनं निष्ठचूतम् । कासनं कासितम् । ‘चशब्दः’ समुच्चयार्थः । क्षरणं क्षुतम् । ‘चशब्दः’ समुच्चयार्थ एव, अस्य व्यव-
हितः सम्बन्धः । कथम् ? सेण्टितं चानक्षरं श्रुतमिति वक्ष्यामः । निःसङ्घनं निःसङ्घितम् । अनुस्वारवदनुस्वारम्,
अक्षरमपि यदनुस्वारवदुच्चार्यते । ‘अनक्षर’मिति एतदुच्छ्वसितादि अनक्षरश्रुतमिति । सेण्टनं सेण्टितम्, तत्
सेण्टितं चानक्षरश्रुतमिति । इदं चोच्छ्वसितादि द्रव्यश्रुतमात्रम्, ध्वनिमात्रत्वात् । अथवा श्रुतविज्ञानोपयुक्तस्य
15 जन्तोः सर्व एव व्यापारः श्रुतम्, तस्य तद्भावेन परिणतत्वात् । आह—यद्येवं किमित्युपयुक्तस्य चेष्टाऽपि श्रुतं
नोच्यते येनोच्छ्वसिताद्येवोच्यते ? इति, अत्रोच्यते, रूढ्या, अथवा श्रूयत इति श्रुतम्, अन्वर्थसंज्ञामधिकृत्योच्छ्व-
सिताद्येव श्रुतमुच्यते, न चेष्टा, तदभावादिति, अनुस्वारादयस्त्वर्थगमकत्वादेव श्रुतमिति ॥७८॥

“से त”मित्यादि, तदेतदनक्षरश्रुतम् ॥

६७. से किं तं सण्णिसुतं ? सण्णिसुतं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालिओवएसेणं ?
20 हेऊवएसेणं २ दिट्ठिवादोवदेसेणं ३ ।

६७. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् संज्ञिश्रुतम् ? । संज्ञानं संज्ञा, साऽस्यास्तीति संज्ञी, तस्य श्रुतं संज्ञिश्रुतं
त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, संज्ञिन एव त्रिभेदत्वात् । त्रिभेदतामेव दर्शयन्नाह, तद्यथा—कालिक्युपदेशेन १ हेतूपदेशेन २
दृष्टिवादोपदेशेन ३ ॥

६८. से किं तं कालिओवएसेणं ? कालिओवएसेणं जस्स णं अत्थि ईहा अपोहो
52 मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं सण्णि त्ति लब्भइ, जस्स णं णत्थि ईहा अपोहो
मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं असण्णीति लब्भइ । से त्तं कालिओवएसेणं १ ।

६८. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं कालिक्युपदेशेन ? इहाऽऽदिपदलोपाद् दीर्घकालिकी कालिक्युच्यते,
संज्ञेति प्रकरणाद् गम्यते, उपदेशानुपदेशः, कथनमित्यर्थः, दीर्घकालिक्याः सम्बन्धी दीर्घकालिक्या वा मतेनोपदेशो-
दीर्घकालिक्युपदेशः, स्तेन ‘यस्य’ प्राणिनः ‘अस्ति’ विद्यते ‘ईहा’ शब्दाद्यवग्रहणोत्तरकालमन्वय-व्यतिरेकयर्मा-

लोचनचेष्टेत्यर्थः; तथा 'अपोहः' व्यतिरेकधर्मपरित्यागेनान्वयधर्माध्यामेनावधारणात्मकः प्रत्यय इति भावना, यथा शब्द इति; तथा 'मार्गणा' विशेषधर्मान्वेषणारूपा संविदित्यर्थः, यथा-शब्दः सन् किं शब्दः किं वा शब्दः? इति; तथा 'गवेषणा' व्यतिरेकधर्मस्वरूपा लोचना, यथा खरादय एवम्भूता इति; तथा 'चिन्ता' अन्वयधर्मपरिज्ञानाभिमुखा चेष्टा, यथा मधुस्त्वादयस्त्वचम्भूता इति; तथा 'विमर्षः' त्याज्यधर्मपरित्यागेनोपादेयधर्मवृद्ध्यभि-
 मुख्यम्, यथा न शब्दः, प्रायोऽयं मधुस्त्वादियोगाच्छब्द इति: "से णं सतीति लब्धति" ति 'सः' प्राणी "ण"मिति वाक्यालङ्कारे 'संतीति लब्धते' मनःपर्याप्त्या पर्याप्तः, अत्रप्रहादिमतिज्ञानयम्यत्समन्वित इत्यर्थः । अथवा यस्यास्ति 'इहा' किमेतदिति चेष्टा, इदमित्यवगमोऽपोहः, अवगतार्थोभित्तये तन्प्रार्थिना मार्गणा, तद्प्राप्तौ च निपुणोपायतोऽन्वेषणं गवेषणा, प्रयुक्तप्रतिद्वन्द्वोपायन्योपायान्तर्चिन्तनं चिन्ता, तद्विषय एवोपायालोचना-
 त्मकः प्रत्ययो विमर्षः, न संतीति लब्धते । अयं च गर्भव्युत्क्रान्तिकः पुत्र्यादिरौपरान्तिरुध देवादिरेव मनःपर्याप्ति-
 प्रयुक्तो विज्ञेयः, यथोक्तविशेषणकल्याणमन्विनत्वात्, न पुनरन्यस्तद्विशेषणविकल्प इति । आह च—"जन्मे"त्यादि, यस्य नानि इहाऽपोहो मार्गणा गवेषणा चिन्ता विमर्षः सोऽसंतीति लब्धते, अयं च सम्मृच्छिमरश्चेन्द्रिय-विकल-
 न्द्रियादिव्येयः, अन्वयमनोव्यवन्नादभावाच्च । "से न"मित्यादि, सोऽयं काचित्कृत्यपदेनेन १॥

६१. से किं तं हेऊवप्सेणं ? हेऊवप्सेणं जन्म णं अनिय अभिसंवारणपुत्रियया करणमत्ती से णं सण्णीति लब्धइ, जन्म णं णनिय अभिसंवाणणपुत्रियया करणमत्ती से णं अमणिण ति लब्धइ । से नं हेऊवप्सेणं २ ।

६१. से किं तमित्यादि । अथ सोऽयं हेऊवप्सेणः हेतुः—राजस्य, कर्मणे सत्त्वस्य, सेतोऽपदेशः हेतुपदप्रसंगेन, कारणोपदेशेनेत्यर्थः । 'यस्य' प्राणिनः 'अनि' विकलेंद्रियमरश्चेन्द्रिय-विकलेन विज्ञेयत्वात्-
 लोचनं नन्वर्थिका-तन्कारणिका कारणान्तिः—त्रित्यर्थः। मनः-संज्ञा-संज्ञित-सामान्य-हेतु-अवधारणित्वात्। सेधम-
 निवन्धनचेष्टायामर्थ्यमिति भावना, स प्राणी "ण"मिति वाक्यालङ्कारे संतीति लब्धते, यथा न हीन्द्रियानि सम्म-
 र्च्छिमरश्चेन्द्रियायमानो विज्ञेयः । तथाहि—कुर्यात्सोऽपोहो मधुस्त्वदिपु मधुस्त्वे तस्मिन्नेव मधुस्त्वे मधुस्त्व-
 रिपालनार्थं प्रायो वसैमान एव, न पार्थाधरयेता संतीत्यवगमोऽपोहोऽयं मधुस्त्वदिपु मधुस्त्व-
 स्त्वसंज्ञौ, तथा चह—"जन्मे"त्यादि, यस्य नानि इहाऽपोहो मार्गणा गवेषणा चिन्ता विमर्षः सोऽसंतीति लब्धते, अयं च सम्मृच्छिमरश्चेन्द्रिय-विकले-
 न्द्रियादिव्येयः, अनोव्यवन्नादभावाच्च ।

आह—यदि स्वल्पभेदासंगोद विकलेंद्रियमाया संज्ञित इत्यर्थे, तदा यत्संज्ञित इत्यर्थे इत्यर्थे चार्था-
 दवशिवाः तेषां विद्यन्त एव, तथा सोऽपोहो मधुस्त्वेति—मधुस्त्वदिपु मधुस्त्वे तस्मिन्नेव मधुस्त्वे मधुस्त्व-
 दम, सेजा-आकारसप्ता १ अवस्था २ हेतुः ३ परिपालनार्थः ४ संतीति लब्धते ५ कारणोपदेशः ६ अलोचना ७ गवेषणा ८ चिन्ता ९ अविमर्षः १० सोऽसंतीति लब्धते ११ ।

७०. से किं तं दिङ्दिवाओवएसेणं ? दिङ्दिवाओवएसेणं सण्णिमुयस्स खओवसमेणं सण्णी लब्भति, असण्णिमुयस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भति । से त्तं दिङ्दिवाओवएसेणं ३ । से त्तं सण्णिसुतं ३ । से त्तं असण्णिसुतं ४ ।

७०. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं दृष्टिवादोपशेन ? दृष्टिः दर्शनं, वदनं वादः, दृष्टीनां वादः दृष्टिवादः 5 तदुपदेशेन तन्मतापेक्षया संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन संज्ञीति लभ्यते, अयमत्र भावार्थः—संज्ञानं संज्ञा, तद्योगात् संज्ञी, तस्य श्रुतं संज्ञिश्रुतम्, इदं सम्यक्श्रुतमेव, अन्यथा संज्ञानाभावात्, न हि मिथ्यादृष्टेः संज्ञानमस्ति, हिता-
ऽहितप्रवृत्ति-निवृत्त्यभावाद् रागादिप्रवृत्तेः । उक्तं च—

तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः ।

तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ? ॥१॥ []

10 सम्यग्दृष्टिस्तु तन्निग्रहपरत्वाद् वीतरागसम एव । उक्तं च—

कलुसफलेण ण जुज्जइ किं चित्तं तत्थ ? जं विगतराओ । संते वि जो कसाए णिगिण्हती सो वि तत्तुल्लो ॥१॥
[विशेषा. गा. ३२६५] चीत्यादि ।

अलं प्रसङ्गेन । तदित्यम्भूतस्य संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन सत्ता संज्ञीति लभ्यते, अयं च सम्यग्दृष्टिरेव क्षायो-
पशमिकज्ञानयुक्तो रागादिनिग्रहपरः । तदन्यस्त्वसंज्ञी, यत् आह ग्रन्थकारः—असंज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेनासंज्ञीति
15 लभ्यते, “से त”मित्यादि, सोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन ३ । एवं संज्ञिनस्त्रिभेदभिन्नत्वात् श्रुतमपि तदुपाधिभेदात्
त्रिभिन्नमेवेति ।

अत्राह—कालिक्युपदेशेनेत्यादि क्रमः किमर्थम् ? उच्यते, इह प्रायः सूत्रे यत्र क्वचित् संज्ञिग्रहणं तत्र दीर्घ-
कालिक्युपदेशेन समनस्कसंज्ञिपरिग्रह इति प्रथमं तदुपन्यासः, अप्रधानत्वाच्चेतरयोः, अन्ते च प्रधानाभिधानमिति
न्याय्यम् । “से त”मित्यादि, तदेतत् संज्ञिश्रुतम् ३ । असंज्ञिश्रुतं तु प्रतिपक्षाभिधानादेव प्रतिपादितम् ।
20 तदेतदसंज्ञिश्रुतम् ४ ॥

७१. [१] से किं तं सम्मसुतं ? सम्मसुतं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाण-
दंसणधरेहिं तेलोक्कणिरिक्खिय-महिय-पूइएहिं तीय-पञ्चुप्पण-मणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं
सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ
४ विवाहपण्णत्ती ५ णायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरो-
25 व्वाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुतं ११ दिङ्दिवाओ १२ ।

[२] इत्थेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुतं, अभिण्णदसपुव्विस्स
सम्मसुतं, तेण परं भिण्णेसु भयणा । से त्तं सम्मसुतं ५ ।

७१. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् सम्यक्श्रुतम् ? सम्यक्श्रुतं यदिदं प्रणीतमिति सम्वन्धः । तत्रा-
शोकाद्यन्तमहापातिद्वार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तथा चोक्तम्—

अथोक्तवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यो ध्वनिश्चामरमामनं च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरानपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥१॥ [

तरुर्द्विः, तत्र शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतानुसारिभिः अनादिशुद्धा एव मुक्तान्मानोऽभ्युपगम्यन्ते । यथोक्तम्—

ज्ञानमप्रतियं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च महसिद्धं चतुष्टयम् ॥१॥

[

] इत्यादि

वह्वश्च कैश्चिदप्यन्ते, तेऽपि च स्थापनादिद्वारेण पूजादृष्टवादृष्टान्तो भवन्त्येव । अतो 'भगवद्भिः' भगः—अतः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, यथोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यज्ञतः श्रियः । धर्मम्याथ प्रयन्तस्य पर्यां भग इतीहना ॥१॥

[

] इत्यादि

भगो विद्यते तेषां ते भगवन्तः नैर्मगवद्भिः, न चानादिशुद्धानां समग्रं स्वस्ववद्यते, अमरीग्नित्वात्, गरीरस्य च रागादिकारित्वात्, तेषां च तद्भावादिति । श्वच्छानिर्माणतः समग्रपरिगम्यन्तवान् तुल्यतामेवामहयाऽऽह-
उत्पन्नज्ञान-दर्शनधरैः, न च तेऽनादिशुद्धाः उत्पन्नज्ञान-दर्शनधराः, " ज्ञानमप्रतियं यस्ये " इत्यादिवचनविरोधात् । एवं शुद्धद्रव्याग्निजनयमतानुसारिपरिकल्पितमुक्तान्यवच्छेदार्थोऽयं ग्रन्थः । अतएव पर्यागमिकनयमतानुसारिपरिकल्पितमुक्तान्यवच्छेदार्थमाह—'त्रैलोक्यनिर्गक्षित-महित-शुद्धिः' निर्गक्षिताश्च महितश्च शुद्धिर्वापिति समासः । त्रैलोक्येन निर्गक्षित-महित-शुद्धिर्वापिति विग्रहः । विशेषणमापन्नं तुल्यतामेवामहयाः—नैर्मगवदभावात् भवन्त्यन्तर-नर-विश्राय-उद्योतिष्क-वैमानिकपण्डितः, निर्गक्षिताः—मानन्वैश्वर्यस्यैवामहयाः, महितश्च साधारण्यतान्यासाधारण्यगुणोन्वीर्चनलक्षणेन भावयन्त्येव, शुद्धिर्वापिति स्वर्गसिद्धयन्तव्यवृत्तिसिद्धिः इत्यन्तरेभ्यः । तत्र समग्रं द्योऽपि पर्यागमिकनयमतानुसारिभिर्यत्रैलोक्यनिर्गक्षित-महित-शुद्धिर्वापिति इत्यन्तरेभ्यः । यथा च ॥ १ ॥

देवागम-नसोयान-चामरादिविश्वतयः । साधारण्यार्थे इत्यन्ते साधारण्येनैव भावयन्त्येव ।

इत्यादि ।

अत आह—'अतीत-प्रत्युत्पन्ना-ऽनागतैः' न भैवात् तर्थात्, यथा—'नो नोतीर्षोऽप्यन्तरेभ्यः' इति च ॥ १ ॥ इत्यन्तरेभ्यः । तथा चागमः—

ण गिराणगया भग्ना, सुंजो णति भग्नागदे । पिण्डुवा चेत भग्ने च अगते णतिभेभ्यः ।

अततां च शाणासोभात् इत्याशङ्क एव वक्तव्यं, न च तदुक्तं, अतीत-प्रत्युत्पन्ना-ऽनागतैः । यथा—'अतीत-प्रत्युत्पन्ना-ऽनागतैः' इत्यन्तरेभ्यः । यथा च ॥ १ ॥

एषयः संसत्त्वानतः पाल-भूला-ऽद्विनाशतः । तदनेन इत्यन्तरेभ्यः चैतरेभ्यः भावयन्त्येव ।

अतीता-ऽनागतान भवन्तः तर्थागतैः भावयन्त्येव । इत्याशङ्कतेन तदुक्तं साधारण्येनैव भावयन्त्येव ।

इत्यादि ।

अत आह—'अतीत-प्रत्युत्पन्ना-ऽनागतैः' न भैवात् तर्थात्, यथा—'नो नोतीर्षोऽप्यन्तरेभ्यः' इति च ॥ १ ॥ इत्यन्तरेभ्यः । तथा चागमः—

तत् ? 'द्वादशाङ्गं' श्रुतपरमपुरुषोत्तमस्याद्धानीवाद्धानि द्वादश अद्धानि—आचारादीनि यस्मिन्तद् द्वादशाङ्गम् । गण-
गणोऽस्यास्तीति गणी—आचार्यरतस्य पिठकं—सर्वत्रं गणिपिठकम् । अथवा गणिशब्दः परिच्छेदवचनः, तथा चोक्तम्—

आचारस्मि अहीए जं णातो द्दोइ समणधम्मो उ । तम्हा आचारधरो भवति पढंमं गणिहाणं ॥१॥

[आचाराङ्गनियुक्ति गा. १०]

- 5 परिच्छेदस्थानमित्यर्थः, ततश्च परिच्छेदसमूहो गणिपिठकम्, तद्यथा—आचार इत्यादि पाठसिद्धं यावद्
दृष्टिवादः । अनङ्गप्रविष्टमावश्यकदि, ततोऽर्हत्प्रणीतत्वाद् वस्तुत उक्तत्वादनुक्तमपि गृह्यते । इदं सर्वमेव द्रव्या-
स्तिकनयमतेन तदभिधेयपञ्चास्तिकायभावयचित्यं सत् स्वाम्यसम्बन्धचिन्तायां स्वार्थोभयरूपं सम्यक्कृतमेव
भवति । स्वामिसम्बन्धचिन्तायां तु भाज्यम्, स्वामिपरिणामविशेषात्, कदाचित् सम्यक्कृतं कदाचित् विपर्ययः ।
तत्र सम्यग्दृष्टेः प्रशमादिसम्यक्परिणामोपेतत्वात् स्वरूपेण प्रतिभासनात् सम्यक्कृतम्, पित्तोदयानभिभूतस्य शर्क-
10 रादिरिवेति, मिथ्यादृष्टेः पुनरप्रशमादिमिथ्यापरिणामोपेतत्वाद् वस्तुनः स्वरूपेणाप्रतिभासनान्मिथ्याश्रुतम्, पित्तो-
दयाभिभूतस्याशर्करादिवदिति, देशतो दृष्टान्तः, अशर्करादित्वं च तं प्रति तत्कार्याकरणात्, तथाऽप्यभ्युपगमे
चातिप्रसङ्गादित्यलं प्रसङ्गेन । श्रुतप्रमाणत एव सम्यक्परिणामनियमनायाह—

[२] इच्छेदमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिठकं चतुर्दशपूर्विणः सम्यक्कृतमेव, तथा अभिन्नदश-
पूर्विणोऽपि समयक्कृतमेव । “तेण परं भिन्नेसु भयण” चि पश्चानुपूर्व्यां ततः परं भिन्नेसु दशसु ‘भजना’ कदाचित्

- 15 सम्यक्कृतं कदाचिन्मिथ्याश्रुतम्, परिणामविशेषात् । एतदुक्तं भवति—आसन्नभक्त्योऽपि मिथ्यादृष्टिः सम्पूर्णद-
शपूर्वरत्ननिधानं न प्राप्नोति, मिथ्यात्वपरिणामकलङ्कितत्वाद् दारिद्र्यनिवन्धनपापकलङ्काङ्कितपुरुषवचिन्ताम-
णिमिति । “से त”मित्यादि तदेतत् सम्यक्कृतम् ॥

७२. [१] से किं तं मिच्छसुतं ? मिच्छसुतं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदिट्ठीहिं
सच्छंदबुद्धि-मतिवियप्पियं, तं जहा—भारहं रामायणं हंभीमासुरक्खं कोडल्लयं सगभदियाओ
20 खोडसुहं कप्पासियं नामसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसियं बुद्धवयणं वेसितं क्विलं लोगायतं
सद्धित्तं मादरं पुराणं वागरणं णाडगादी, अहवा वावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेदा संगोवंगा ।

[२] एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छसुतं, एयाणि चैव सम्मदिट्ठिस्स
सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं ।

- [३] अहवा मिच्छदिट्ठिस्स वि सम्मसुयं, कम्हा ? सम्मत्तहेउत्तणओ, जम्हा ते
25 मिच्छदिट्ठिया तेहिं चैव सगएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठीओ वमेति । से तं
मिच्छसुयं ६ ।

७२. से किं तमित्यादि । अथ किं तन्मिथ्याश्रुतम् ? मिथ्याश्रुतं यदिदमज्ञानिकैः । तत्राल्पज्ञानभावाद-
धनवदशील्यवृत्ता सम्यग्दृष्टयोऽप्यज्ञानिकाः प्राच्यन्ते, अत आह—मिथ्यादृष्टिभिः । किम् ? ‘सच्छन्दबुद्धि-मतिवि-

पुण भावं पडुच्च अणादीयं अपज्जवसियं ४ ।

७४. तं समासतो इत्यादि । 'तत्' श्रुतज्ञानं 'समासतः' सङ्क्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः । तत्र द्रव्यतः "ण"मिति वाक्यालङ्कारे सम्यक्द्रुतं एकं पुरुषं प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम् । कथम्?, सम्यक्त्वावाप्तौ तत्प्रथमपाठतो वा सादि, पुनर्मिथ्यात्वप्राप्तौ सति वा सम्यक्त्वे प्रमाद-ग्लान-सुरलोकगमन-केवलो-
 5 त्पत्तिभावेऽभावात् सपर्यवसितम् । बहून् पुरुषान् प्रतीत्य अनाद्यपर्यवसितम्, सन्तानेन प्रवृत्तत्वात्, पुरुषत्ववत् । तथा क्षेत्रतः पञ्च भरतानि पञ्च ऐरवतानि प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम् । कथम्?, तेषु सुपमदुष्पमादिकाले तीर्थकर-धर्म-सङ्गानां तत्प्रथमतयोत्पत्तेः सादि, एकान्तदुष्पमादिकाले च तदभावे सपर्यवसितम् । तथा महाविदेहादि प्रतीत्य प्रवाहरूपेण तीर्थकरादीनामव्यवच्छिन्नेरनाद्यपर्यवसितम् । कालतः "ण"मिति वाक्यालङ्कारे अत्रसर्पिणीं उत्सर्पिणीं च प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम्, कथम्?, यतोऽत्रसर्पिण्यां तिसृष्वेव सुपमदुष्पमा-दुःपमसुपमा-दुष्पमास्त्विति, उत्स-
 10 र्पिण्यां द्वयोः दुष्पमसुपमा-सुपमदुष्पमयोरिति, न परतः, इत्यतः सादि सपर्यवसितम् । अत्र कालचक्रं त्रिंशतिसागर-रोपमकोटीकोटिपरिमाणं विनेयजनानुग्रहार्थं प्ररूप्यते—

- चत्वारि सागरोपमकोडाकोडीउ संततीए उ । एगंतसूसमा खलु जिणेहिं सव्वेहिं णिदिट्ठा ॥१॥
 तीए पुरिसाणमायुं तिण्णि य पलियाइं तह पमाणं च । तिन्नेव गाउयाइं आदीए भणंति समयणू ॥२॥
 उवभोग-परीभोगा जम्मंतरसुकयवीयजातातो । कप्पतरूसमूहाओ होंति किलेसं विणा तेसिं ॥३॥
 15 ते पुण दसप्पगारा कप्पतरू समणसमयकेतूहिं । धीरेहि विणिदिट्ठा मणोरहापूरगा एए ॥४॥
 मत्तंगया १ य भिंगा २ तुडियंभा ३ दीव ४ जोति ५ चित्तंगा ६ ।
 चित्तरसा ७ मणियंगा ८ गेहागारा ९ अणियणा १० य ॥५॥
 मत्तंगएसु मज्जं सुहपेज्जं १ भायणाणि भिंगेसु २ । तुडियंगेसु य संगयतुडियाणि बहुप्पगाराणि ३ ॥६॥
 दीवसिहा जोतिसणामया य णिच्चं करेति उज्जोयं ४। ५। चित्तंगेसु य मल्लं ६ चित्तरसा भोयणट्ठाए ७ ॥७॥
 20 मणियंगेसु य भूसणवराणि ८ भवणाणि भवणरूक्खेसुं ९ । आयन्नेसु य इच्छियवत्थाणि बहुप्पगाराणि १० ॥८॥
 एएसु य अन्नेसु य नर-नारिगणाण ताणमुवभोगा । भविय पुणव्वभवरहिया इय सव्वन्नु जिणा विति १ ॥९॥
 तो तिन्नि सागरोपमकोडाकोडीउ वीयरगेहिं । सुसम त्ति समक्खाया पवाहरूवेण धीरेहिं ॥१०॥
 तीए पुरिसाणमायुं दोण्णि य पलियाइं तह पमाणं च । दो चेव गाउयाइं आईए भणंति समयणू ॥११॥
 उवभोग-परीभोगा तेसिं पि य कप्पपादवेहिंतो । होंति किलेसेण विणा नवरं ऊणाणुभावेहिं २ ॥१२॥
 25 तो सुसमदूसमाए पवाहरूवेण कोडिकोडीओ । अयरान दोण्णि सिट्ठा जिणेहिं जियराग-दोसेहिं ॥१३॥
 तीए पुरिसाणमाउं एगं पलियं तहा पमाणं च । एगं च गाउयं ती आदीए भणंति समयणू ॥१४॥
 उवभोग-परीभोगा तेसिं पि य कप्पपादवेहिंतो । होंति किलेसेण विणा पायं ऊणाणुभावेहिं ॥१५॥
 सुसमदूसमावसेसे पढमजिणो धम्मणायगो भयवं । उप्पन्नो कयपुन्नो सिप्पकलादंसगो उसहो ३ ॥१६॥
 तो दुसमसुस्समूणा वायालीसाए वरिससदसेहिं । सागरकोडाकोडी एगेव जिणेहि पण्णात्ता ॥१७॥
 30 तीए पुरिसाणमायुं पुव्वपमाणेण तह पमाणं च । धणुसंखानिदिट्ठं विसेसमुत्तादो णायव्वं ॥१८॥

तस्य प्रदेशाः—प्रकृष्टा देशाः प्रदेशाः, निर्विभागा भागा इत्यर्थः, तेषामग्रं—परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम्, सर्वाकाश-
प्रदेशैः, किम् ? 'अनन्तगुणितं' अनन्तशो गुणितं अनन्तगुणितम्, एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अनन्तागुरुलघुपर्याय-
भावात्, 'पर्यायाग्राक्षरं' पर्यायपरिमाणाक्षरं निष्पद्यते, सर्वद्रव्य-पर्यायपरिमाणमिति भावार्थः । स्तोकत्वाच्चेह धर्मा-
स्तिकायादयो नोक्ताः, अर्थतस्तु गृहीता एव ॥

5 ७७. सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडियओ, जति पुण सो
वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तं पावेज्जा ।

सुट्ठु वि मेहसमुदए होति पभा चंद-सूराणं ।

से त्तं सादीयं सपज्जवसियं । से त्तं अणादीतं अपज्जवसितं ७ । ८ । ९ । १० ।

७७. इह च ज्ञानमक्षरं गृह्यते, तथा तज्ज्ञेयम्, तथा अकारादि च, सर्वथाऽप्यविरोध इति । अस्य च
10 सर्वजीवानामपि चाक्षरस्यानन्तभागः 'नित्योद्घाटितः' सदाऽप्राप्यत इत्यर्थः । स पुनरनन्तभागोऽप्यनेकविधः, तत्र
सर्वजन्यश्चैतन्यमात्रम्, तत् पुनर्न कदाचिदुत्कृष्टावरणस्याप्यात्रियते, जीवस्वाभाव्यात् । आह च ग्रन्थकारः—“जइ
पुण” इत्यादि । यदि पुनः सोऽपि आव्रियेत, ततः किम् ?, 'तेन जीवः अजीवतां प्राप्नुयात्' 'तेन' आवृतेन 'जीवः'
चैतन्यलक्षणः स्वलक्षणपरित्यागादजीवतां प्राप्नुयात्, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, सर्वस्य सर्वथा स्वभावातिरस्कारात् । अत्रैव
दृष्टान्तमाह—“सुट्ठु वी”त्यादि सुट्ठुवपि मेघसमुदये चन्द्र-सूर्यप्रभाजालतिरस्कारिणि सति भवति प्रभा चन्द्र-सूर्ययोः,
15 सर्वस्य सर्वथा स्वभावातिरस्कारादिति ।

अत्राह—“सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपदेसेहिं अणंतगुणियं पज्जवग्गक्खरं निष्फज्जति” इत्यत्राविशेषितमेवा-
क्षरमुक्तम्, अविशेषाभिधानाच्चेदं केवलमिति गम्यते, इह तु श्रुताधिकारादकारादि प्रकृतं यतः, तत् कथं केवल-
पर्यायपरिमाणतुल्यं भवेत् ?, उच्यते, नन्वत्राप्यपर्यवसितश्रुताधिकाराद्येव गम्यते । अथ मतिः—“सव्वजीवाणं पि य
णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडियओ” त्ति सर्वजीवग्रहणात् तत् श्रुतम्, यतः समस्तद्वादशाङ्गविदां तत् समस्त-
20 मिति, यद्येवं केवलस्यापि न सर्वजीवानामेवानन्तभागोऽवतिष्ठते, सर्वज्ञसद्भावात्, अतो न तत् केवलाक्षरमपि,
कस्यासावनन्तभागोऽस्तु ?, तथा अविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायान्येषां
अनन्तभागो गम्यते, अत एव किं न श्रुतात्मकमक्षरमङ्गीकृत्य समस्तद्वादशाङ्गविदोऽपि विहायान्येषामनन्तभागो
गम्यते ? तस्मात् स्व-परपर्यायभेदाद्बुभयमप्यविरुद्धमिति, तथाऽप्यत्रापर्यवसितश्रुताधिकारादकाराद्येव
न्यायानुपाति ।

25 तत् पुनरनन्तपर्यायम्—इह अ अ अ इत्यकार उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः, स सानुनासिको निरनुनासिकश्च,
एवं दीर्यः प्लुतः, एवं तावदष्टादशप्रभेदं अवर्णं द्रुवते, एवं यावतः केवल एव अकारो लभते सानुनासिकादीन्
तथाऽन्यवर्णसहितो वा तेऽप्यस्य स्वपर्यायाः, ते चानन्ताः । कथम् ?, अभिलाष्यवाद्यनिमित्तभेदात्, तस्य च
परमाणु-द्रवणुकादिभेदेनानन्तत्वात्, ध्वनेश्च तथातथाभिधायकत्वपरिणामे सति तत्तदर्थप्रतिपादकत्वादिति, साङ्केति-
कशब्दार्थसम्बन्धवादिमतमन्यावश्यकं नैयाधिकारे विचारयिष्यामः, ततश्चैते स्वपर्यायाः, शेषास्तु सर्व एव घटादि-

१ अप्राप्यं पूज्यप्रवरस्तविहिताऽऽवश्यकवृहद्बुद्धेर्दुष्पमाकालदुष्प्रभावविनष्टत्वाद् यत्किञ्चित्तत्तुष्टयर्थं सम्प्रत्युपलभ्यमानाऽऽगमो-
द्धारकानुश्रुतिता शिष्यहिताख्याऽऽवश्यकलघुवृत्तिवैलोकनीया [आव. नि. गा. ७५४-६० पत्र २८२-८५] । तथाऽप्राप्यं
विशेषावश्यकमहाभाष्यसंख्याः २१८१ तः २२६३ गाथास्तटीवादिकं चापि विलोकनीयमिति ॥

पर्यायाः परपर्याया इति, ते पुनः स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः । आह-स्वपर्यायाणां तावत् पर्यायता युक्ता, घटादिपर्यायास्तु विभिन्नवस्त्वाश्रितत्वात् कथं 'तस्य' इति व्यपदिश्यन्ते ?, उच्यते, स्वपर्यायविशेषणोपयोगात्, इह ये यस्य स्वपर्यायविशेषणतयोपयुज्यन्ते ते तस्य पर्यायतया व्यपदिश्यन्ते, यथा घटस्य रूपादयः, उपयुज्यन्ते चाकार-स्वपर्यायाणां विशेषणतया घटादिपर्यायाः, तानन्तरेण स्वपर्यायव्यपदेशाभावात्, तथा वस्तुस्थित्याऽपि च घटादिपर्याया अभावरूपेणाकारस्य व्यवस्थितत्वाद् घटादिपर्यायाणां अकारपर्यायतायामविरोध इति । इयमत्र भावना-घटादिपर्यायाणामनन्तत्वात् तेभ्यश्चाकारस्य स्वभावभेदेन व्यावृत्तत्वात्, स्वभावभेदव्यावृत्त्यनभ्युपगमे च घटादिपर्यायाणामेकत्वप्रसङ्गात्, अतः स्वभावभेदनिवन्धनत्वादकारपर्यायता तेषामिति, तस्मात् स्व-परपर्याया-पेक्षया खल्वकारस्य सर्वद्वयपर्यायराशितुल्यधर्मताऽविरोध इति । न चेदमुत्सूत्रम्, यत् आगमेऽप्युक्तम्—“जे एगं जाणति से सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणति से एगं जाणति” [आचाराङ्गे श्रु० १ अ० ३ उ० ४ सू० १] चि । अस्यायमर्थः—य एकं वस्तूपलभते सर्वपर्यायैः स सर्वमुपलभते, कश्चैकं सर्वपर्यायैरुपलभते ? य एव सर्वं सर्वथोपलभत इति, अतः सर्वमज्ञानानो नाकारं सर्वथोपलभत इति, ततश्चास्मात् सूत्रात् सर्वमेव वस्तु सर्वद्वयपर्यायराशितुल्यधर्मकम्, इह त्वक्षराधिकारादक्षरमुक्तमिति, इतश्चैतदकाराद्येव प्रतिपत्तव्यम्, अस्मिन्नेवाधिकारे 'अक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितः' इत्युपन्यस्तत्वात्, केवलस्य चाविभागसम्पूर्णत्वेन निकृष्टानन्तभागसम्भवात्, अवधेरप्यसङ्ख्येयप्रकृति-भेदभिन्नत्वात्, मनःपर्यायज्ञानस्याप्योघत ऋजु-विपुलभेदभिन्नत्वात्, पारिशेष्यादकारादिश्रुताक्षरस्य निवन्धनज्ञान-स्यैवासावित्वलं प्रसङ्गेन । “से तं” इत्यादि निगमनद्वयमपि निगदसिद्धम् ॥

७८. से किं तं गमियं ? गमियं दिड्ढिवाओ । अगमियं कालितं सुयं । से तं गमियं । से तं अगमियं ११ । १२ ।

७८. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् गमिकम् ? । इहाऽऽदि-मध्या-ऽवसानेषु किञ्चिद् विशेषतः पुनस्त-त्सूत्रोच्चारणलक्षणो गमः, यथाऽऽदिविशेषे तावत् “इह छज्जीवणिके”त्यादि, [दशवै० अ. ४ सू. १-३] गमा अस्य विद्यन्त इति “अत इनि ठनौ” [पा. प. २. १२५] इति गमिकम् । इदं च प्रायोवृत्त्या दृष्टिवादे, तस्यैव गमवहुलत्वात् । अगमिकं तु प्रायो गाथाद्यसमानग्रन्थत्वात् कालिकश्रुतमाचारादि । “से तं”मित्यादि निगमनद्वयं कण्ठ्यम् ॥

७९. अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंगपविट्ठं अंगवाहिरं च ।

७९. तं समासतो दुविहं पन्नत्तं 'तद्' गमिका-ऽगमिकं अथवा 'तद्' ओघश्रुतमर्हदुपदेशानुसारि 'समासतः' सङ्क्षेपेण द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-अङ्गप्रविष्टं अङ्गवाह्यं च । अत्राह-पूर्वमेव चतुर्दशभेदोद्देशाधिकारे अङ्गप्रविष्टं च अङ्गवाह्यं चेत्युपन्यस्तम्, किमर्थं पुनः 'तद् समासतः' इत्याद्युपन्यासेन तदेवोद्दिश्यते ? इति, अत्रोच्यते, २५ सर्वभेदानामेवाङ्गा-ऽनङ्गप्रविष्टभेदद्वयान्तर्भावेनार्हतप्रणीतत्वेन च प्राधान्यख्यापनार्थमिति । तत्र—

पाददुगं २ जंघो २ रू २ गातदुयगं च २ दो य वाहूओ २ ।

गीवा १ सिरं च १ पुरिसो वारसअंगो नुयविसिट्ठो ॥१॥ []

श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टम्, अङ्गभावव्यवस्थितमित्यर्थः । अथवा—

गणधरकयमंगगयं जं कत थेरेहिं वाहिरं तं तु ।

नियतं वंगपविट्ठं अणिययनुय वाहिरं भणियं ॥१॥ []

तत्रात्पतरवक्तव्यत्वादङ्गवाह्यमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

८०. से किं तं अंगवाहिरं ? अंगवाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-आवस्सगं च आव-
स्सगवइरित्तं च ।

८०. से किं तमित्यादि । अथ किं तदङ्गवाहम् ? । श्रुतपुरुषाद् व्यतिरिक्तं अङ्गवाहं द्विविधं प्रज्ञप्तम्,
तद्यथा-आवश्यकं च आवश्यकव्यतिरिक्तं च ॥

८१. से किं तं आवस्सगं ? आवस्सगं छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा-सामायियं १ चउ-
वीसत्थओ २ वंदणयं ३ पडिक्कमणं ४ काउस्सग्गो ५ पच्चक्खाणं ६ । से त्तं आवस्सयं ।

८१. से किं तमित्यादि । अथ किं तदावश्यकम् ? अवश्यक्रियानुष्ठानादावश्यकम्, गुणानां वा आ-अभि-
विधिना वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकं पड्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-सामायिकमित्यादि ।

सावज्जजोगविरती १ उक्कित्तण २ गुणवयो य पडिवत्ती ३ ।

खलियस्स णिंदणा ४ वणतिगिच्छ ५ गुणधारणा ६ चेव ॥१॥ [अनुयोग. पत्रं ४३-१]

अधिकारगाथा । एतदनुसारेण आवश्यकपिण्डार्थो वक्तव्यः । “से त”मित्यादि तदेतदावश्यकम् ॥

८२. से किं तं आवस्सयवइरित्तं ? आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-कालियं
च उक्कालियं च ।

८२. से किं तमित्यादि । अथ किं तदावश्यकव्यतिरिक्तम् ? । आवश्यकव्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तम्,
15 तद्यथा-कालिकं चोत्कालिकं च । यदिह दिवस-निशिप्रथम-पश्चिमपौरुपीद्वय एव पठ्यते तत् कालेन निर्वृत्तं कालि-
कम् । यत् पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदुत्कालिकम् ॥ तत्रालपतरक्तव्यत्वादुत्कालिकमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

८३. से किं तं उक्कालियं ? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा-दसवेयालियं १
कप्पियाकप्पियं २ चुल्लकप्पसुतं ३ महाकप्पसुतं ४ ओवाइयं ५ रायपसेणियं ६ जीवाभिगमो
७ पण्णवणा ८ महापण्णवणा ९ पमायप्पमादं १० नंदी ११ अणुओगदाराइं १२ देविंदत्थओ
20 १३ तंदुलवेयालियं १४ चंदावेज्झयं १५ सूरपण्णती १६ पोरिसिमंडलं १७ मंडलप्पवेसो १८
विज्जाचरणविणिच्छओ १९ गणिविज्जा २० ज्ञाणविभत्ती २१ मरणविभत्ती २२ आयवि-
सोही २३ वीयरायसुतं २४ संलेहणासुतं २५ विहारकप्पो २६ चरणविही २७ आउरपच्चक्खाणं
२८ महापच्चक्खाणं २९ । से त्तं उक्कालियं ।

८३. से किं तमित्यादि । अथ किं तदुत्कालिकम् ? । उत्कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-दशचैकालिकं
25 प्रतीतम् १ । कल्पा-ऽकल्पप्रतिपादकं कल्पाकल्पम् २ । तथा कल्पनं कल्पः-स्थविरकल्पादिः, तत्प्रतिपादकं श्रुतं
कल्पश्रुतम्, तत् पुनर्द्विभेदम्-चुल्लकप्पसुतं महाकप्पसुतं, एकमल्पग्रन्थमल्पार्थं च, द्वितीयं महाग्रन्थं महार्थं च
३। ४। शेषभेदाः प्रायो निगदसिद्धास्तथापि लेशतोऽप्रसिद्धतरान् व्याख्यास्यामः-जीवादीनां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना ८।
बृहत्तरा महाप्रज्ञापना ९ । प्रमादा-ऽप्रमादस्वरूप-भेद-फल-विपाक-प्रतिपादकमध्ययनं प्रमादाप्रमादम् । प्रमा-

दस्वरूपं महाकर्मन्धनप्रभवविध्यात्तदुःखानलज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यंस्तन्मध्यवर्त्यपि सति तन्निर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणौ यतो विचित्रकर्मोदयसाचिव्यजनितात् परिणामविशेषादपश्यन्निवृत्तद्वयमविगणय्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एवाऽऽस्ते सत्त्वः स खलु प्रमाद इति । तद्भेदाः मद्यादयः, तत्कारणत्वात् । उक्तं च—

मज्जं विसय कसाया णिहा विगहा य पंचमी भणिया ।

एए पंच पमाया जीवं पाडंति संसारे ॥१॥ []

एतस्य च पञ्चप्रकारस्यापि प्रमादस्य फलविपाको दारुणः । उक्तं च—

श्रेयो विपमुपभोक्तुं क्षमं भवेत् क्रीडितुं हुताशेन । संसारबन्धनगतैर्न तु प्रमादः क्षमः कर्तुम् ॥१॥

अस्यामेव हि जातौ नरमुपहन्याद् विपं हुताशो वा । आसेवितः प्रमादो हन्याज्जन्मान्तरशतानि ॥२॥

यन्न प्रयान्ति पुरुषाः स्वर्गं, यच्च प्रयान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्तमनार्यः प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ॥३॥ 10

संसारबन्धनगतो जाति-जरा-व्याधि-मरणदुःखार्त्तः । यन्नोद्विजते सत्त्वः स ह्यपराधः प्रमादस्य ॥४॥

आज्ञाप्यते यदवशः तुल्योदर-पाणि-पाद-वदनेन । कर्म च करोति बहुविधमेतदपि फलं प्रमादस्य ॥५॥

इह हि प्रमत्तमनसः सोन्मादवदनिभृतेन्द्रियाश्चपलाः । यत् कृत्यं तदकृत्वा सततमकार्येष्वभिपतन्ति ॥६॥

तेषामभिपतितानामुद्भ्रान्तानां प्रमत्तहृदयानाम् । वर्द्धन्त एव दोषाः वनतरव इवाम्बुसेकेन ॥७॥

दृष्ट्वाऽप्यलोकं नैव विश्रम्भितव्यं, तीरं नीताऽपि भ्राम्यते वायुना नौः ।

लब्ध्वा वैराग्यं भ्रष्टयोगः प्रमादाच्चित्रं व्यावृत्तो ब्रह्मदत्तो नरेशः ॥८॥ [] इत्यादि । 15

एवं प्रतिपक्षद्वारेणाप्रमादस्वरूपादयो वाच्या इति १० । “नन्दी”त्यादि सुगमम् । सूर्यप्रज्ञप्तिः सूर्यचरित-
प्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः १६ । पौरुषीमण्डलं पुरुषः-शङ्कुः शरीरं वा, तस्मान्निष्पन्ना पौरुषी ।
इयमत्र भावना-यदा सर्वस्य वस्तुनः स्वप्रमाणा लोयोपजायते तदा पौरुषीति, एतच्च पौरुषीमानं उत्तरायणान्ते
दक्षिणायनादौ चैकं दिनं भवति, तत ऊर्ध्वमङ्गुलस्याष्टावेकपट्टिभागा दक्षिणायने वर्द्धन्ते उत्तरायणे च ह्रसन्तीति, 20
एवं यत्र पौरुषी मण्डले मण्डलेऽन्याऽन्या प्रतिपाद्यते तदध्ययनं पौरुषीमण्डलम् १७ । मण्डलप्रवेशः यत्र हि
चन्द्र-सूर्ययोर्दक्षिणोत्तरेषु मण्डलेषु मण्डलान्मण्डलप्रवेशो व्यावर्ष्यते तदध्ययनं मण्डलप्रवेश इति १८ । विद्या-
चरणविनिश्चयः विद्येति-ज्ञानम्, तच्च दर्शनसहचरितम्, अन्यथा ज्ञानाभावात्, चरणं-चारित्र्यम्, एतेषां फल-
विनिश्चयप्रतिपादको ग्रन्थः विद्याचरणविनिश्चय इति १९ । ‘गणिविद्या’ गुणगणोऽस्यास्तीति गणी, स चाऽऽचार्यः,
तस्य विद्या-ज्ञानं गणिविद्या, तत्राविशेषेऽप्ययं विशेषः—

जोतिस-पिमित्तणाणं गणिणो पव्वावणादिकज्जेसु ।

उवयुज्जइ तिहि-करणादिजाणणहृऽन्नहा दोसो ॥१॥ [] २० ।

ध्यानविभक्तिः ध्यानानि-आर्चध्यानादीनि, तेषां विभजनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा ध्यानविभक्तिः २१ ।
मरणानि-प्राणत्यागलक्षणानि अनुसमयादीनि वर्तन्ते, यथोक्तम्—“अणुसमयं संतरं चे”त्यादि, एतेषां विभजनं यस्यां
सा मरणविभक्तिः २२ । आत्मनः-जीवस्याऽऽलोचना-प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण विद्युद्धिः-कर्मविगमलक्षणा 30

प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनं आत्मविशुद्धिः २३ । चीतरागश्रुतं सरागजपोहेन वीतरागस्वरूपं प्रतिपाद्यते यत्राध्ययने तद् वीतरागश्रुतम् २४ । संलेखनाश्रुतं द्रव्य-भावसंलेखना प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनं संलेखनाश्रुतम् । तत्र द्रव्यसंलेखनोत्सर्गतः—

- चत्वारि विचिताइं विगतीणिज्जूहियाइं चत्वारि । संवच्छरे य दोन्नि उ एगंतरियं च आयामं ॥१॥
 5 णातिविगिट्टो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं । अन्ने वि य छम्मासे टोति विगिट्टं तवोक्कम्मं ॥२॥
 वासं कोडीसहियं आयामं काउमाणुपुव्वीए । गिरिकंदरं तु गंतुं पादवगमणं अह करेति ॥३॥

[]

- भावसंलेखना तु क्रोधादिकपायप्रतिपक्षाभ्यास इति २५ । विहारकल्पः विहरणं विहारः, तस्य कल्पः—
 व्यवस्था स्थविरकल्पादीनामुच्यते यत्र ग्रन्थेऽसौ विहारकल्पः २६ । चरणविधिः चरणं—त्रतादि, तथा चोक्तम्—
 10 “वय समणधम्म०” गाहा [ओवनि. भा. गा. २], एतत्प्रतिपादकमध्ययनं चरणविधिः २७ । आतुरप्रत्याख्यानं आतुरः—क्रियातीतो ग्लानः, तस्य प्रत्याख्यानम् । एत्थ विधी—गिलाणं किरियातीतं णाउं गीयत्था पच्चक्खावैति दिणे दिणे दव्वहासं करेन्ता सन्तः, अंते य सब्बदव्वदायणयाए भत्ते वेरग्गं जणेत्ता भत्ते णित्तहस्स भवचरिमपच्चक्खाणं कारेति, एयं जत्थ अज्झयणे सवित्थरं वण्णिज्जति तदज्झयणं आउरपच्चक्खाणं २८ । महाप्रत्याख्यानं महाच्च तत् प्रत्याख्यानं चेति समासः, एसित्थ भावत्थो—थेरकप्पेण जिणकप्पेण वा विहरेत्ता अंते
 15 थेरकप्पिया वासस वासे संलेहं करेत्ता जिणकप्पिया पुण विहारेणेव संलीढा तद्वा वि जहाजुत्तं संलेहं करेत्ता निव्वाघातं सचेट्ठा चेव भवचरिमं पच्चक्खंति, एयं सवित्थरं जत्थज्झयणे वण्णिज्जइ तमज्झयणं महापच्चक्खाणं २९ ।
 एयाणि अज्झयणाणि जहा अभिघाणत्थाणि तहा वण्णियाणि । “से त”मित्यादि निगमनम्, तदेतदुत्कालिकम् । उपलक्षणं चैतदित्युक्तमुत्कालिकम् ॥

८४. से किं तं कालियं ? कालियं अणेगविहं पणत्तं, तं जहा—उत्तरज्झयणाइं १
 20 दसाओ २ कप्पो ३ ववहारो ४ णिसीहं ५ महाणिसीहं ६ इसिभासियाइं ७ जंबुद्वीवपणत्ती
 ८ दीवसागरपणत्ती ९ चंदपणत्ती १० खुड्डियाविमाणपविभत्ती ११ महल्लियाविमाणपविभत्ती
 १२ अंगचूलिया १३ वग्गचूलिया १४ विवाहचूलिया १५ अरुणोववाए १६ वरुणोववाए १७
 गरुलोववाए १८ धरणोववाए १९ वेसमणोववाए २० देविंदोववाए २१ वेलंधरोववाए २२
 उट्टाणसुयं २३ समुट्टाणसुयं २४ नागपरियावणियाओ २५ निर्यावलियाओ २६ कप्पि-
 25 याओ २७ कप्पवडिसियाओ २८ पुप्फियाओ २९ पुप्फचूलियाओ ३० वण्णीदसाओ ३१ ।

८४. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् कालिकम् ? । कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—उत्तराध्ययनानि उत्तराणि—प्रधानानि रूढ्या चोत्तराध्ययनानि १ । दशेत्यादि प्रायो निगदसिद्धम् । निशीथवद् निशीथम्, इदं प्रतीनमेव ५ । अस्मादेव ग्रन्था-ऽर्थाभ्यां महत्तरं महानिशीथम् ६ । जम्बुद्वीपप्रज्ञप्तिः ८ । इहाऽऽवलिकाप्रविष्टे-
 तरविमानप्रविभजनं यत्राध्ययने तद् विमानप्रविभक्तिः, तत्रैकमल्पग्रन्थार्थं तथाऽन्यन्महाग्रन्थार्थम् अतः
 30 क्षुद्धिकाविमानप्रविभक्तिर्महतीविमानप्रविभक्तिरिति ११ । १२ । अङ्गचूलिका अङ्गस्य—आचारादे-

श्रूलिका अङ्गचूलिका, यथाऽऽचारस्यानेकविधा । इहोक्ताऽनुक्तार्थसङ्ग्रहात्मिका चूलिका १३ । वर्गचूलिका इह वर्गः—अध्ययनादिसमूहः, यथाऽन्तकृद्शास्वष्ट वर्गा इत्यादि, तेषां चूलिका वर्गचूलिका १४ । व्याख्या—भगवतीति, अस्याश्रूलिका व्याख्याचूलिका १५ । अरुणोपपातः इहोक्तो नाम देवस्तत्समयनिवद्धो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुः अरुणोपपातः, जाहे तमज्जयणं उवउत्ते समाणे समणे परियट्टेति ताहे से अरुणे देवे समयनिवद्धत्तणओ चलियासणे संभमुब्भंतलोयणे पउत्तावही वियाणियट्टे हट्टपहट्टे चल-चवलकुंडलधरे दिव्वाए जुतीए दिव्वाए विभूर् ईए दिव्वाए गतीए जेणामेव से भगवं समणे तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भक्तिभरणयवयणे विमुक्कवर-कुसुमवासे ओवयति, ओवतित्ता ताहे से समणस्स पुरतो ठिच्चा अंतद्विए कयंजलिए उवउत्ते संवेगविमुज्जमाण-ज्जवसाणे सुणेमाणे चिट्ठइ, समत्ते य भणइ—सुसज्जाइयं सुसज्जाइयं, वरं वरेहि त्ति, ततो से इहलोगणिप्पिवासे सम-तिण-मणि-मुत्ता-लेट्टु-कंचणे सिद्धिवधुणिव्वमराणुरायचित्ते समणे पडिभणइ—ण मे वरेण अट्टो त्ति, ततो से अरुणे देवे अधिगतरजातसंवेगे पयाहिणं करेत्ता वंदित्ता णमंसित्ता पडिगच्छइ १६ । एवं वरुणोववादादिमु वि भाणि-यव्वं । उत्थानश्रुतं अध्ययनम्, तं पुण सिंगणाइयकज्जेसु जस्सेगकुलस्स वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा स चैव समणे कयसंरूपे आसुरुत्ते अप्पसन्ने अप्पसन्नलेसे विसमासणत्थे उवउत्ते समाणे उट्टाणसुअज्जयणं परियट्टेति एकं दो तिप्पि वा वारे, ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा ओहयमणसंरूपे विलवंते दुयं दुयं पहावंते उट्टेति, उव्वसति त्ति वुत्तं भवति २३ । तथा समुत्थानश्रुतं अध्ययनम्, तं पुण समत्ते कज्जे तस्सेव कुलस्स वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा स चैव समणे कयसंरूपे तुट्टे पसण्णे पसण्णलेसे समसुहासणत्थे उवउत्ते समाणे समुट्टाणसुतज्जयणं परियट्टेति एकं दो तिन्नि वा वारे, ताहे से कुले वा जाव रायहाणी वा पहट्टचित्ते पसन्नमणे कलयलं कुणमाणे मंदाए गतीए सललियं आगच्छइ, आगच्छित्ता समुट्टेति, आवासेति त्ति वुत्तं भवतीत्यर्थः, एदं कयसंरूपस्स परियट्टेन्तस्स पुव्वट्टितं समुट्टेति २४ । णागपरियावणियाओ नागपरिज्ञा, नाग त्ति—नागकुमारः तस्समयणिद्वद्धमज्जयणं, से जया समणे उवउत्ते परियट्टेति तदाऽऽकयसंरूपस्स वि ते णागकुमारा तत्थन्या वं तं समणं परियाणंति वंदंति नमंसंति बहुमाणं च करंति, सिंगणादियकज्जेसु य वरदा भवन्तीत्यर्थः २५ । यावल्लियाओ जासु आवल्लियपविट्टेत्तरे य णिरया तग्गामिणो य णर-तिरिया पसंगओ वन्निज्जंति कप्पियाउ त्ति सौधर्मादिकल्पगतवक्तव्यतागोचरा ग्रन्थपद्धतयः कल्पिका उच्यन्ते २७ । पत्रं स्सिकाः सौधर्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पविमाणाणि ताणि कप्पवडिसयाणि, तेसु य देवाओ विसेसेण उववन्ना इडिंढ च पत्ता एवं वन्निज्जंति जासु ताओ कप्पवडेंसियाओ वुत्तंति २८ । त्ति इह चासु ग्रन्थपद्धतिषु गृहवासमुकुलनपरित्यागेन प्राणिनः संयमभाजपुष्पिताः सुखिताः, रित्यागतो दुःखावाप्तिमुकुलिताः, पुनस्तत्परित्यागादेव पुष्पिताः प्रतिपाद्यन्ते ताः पुष्पिता कृतार्थविशेषप्रतिपादिकास्तु पुष्पचूला इति ३० । तथा अन्धकवृष्णिनराधिपवक्तव्यतावियय उच्यन्ते ३१ ॥

८५. एवमाइयाइं चउरासीतीपइण्णगसहस्साइं भगवतो अरहओ
 यरस्स, तहा संखेज्जाणि पइण्णगसहस्साणि मज्झिमगाणं जिण्ण
 स्साणि भगवओ वद्धमाणसाभिस्स । अहवा जस्स जत्तिया
 कम्मयाए पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स नन्दिसूत्रम्

बुद्धा वि तत्तिया चैव । से त्तं कालियं । से त्तं आवस्सयवइरित्तं । से त्तं अणंगपविट्ठं ।

८५. एवसाइयाइं इत्यादि । 'एवसादीनि' सर्वथा कियन्त्याख्यास्यन्ते ? चतुस्तीतिप्रकीर्णकराहसाणि भगवतोऽर्हतः श्रीऋषभस्याऽऽदितीर्थकरस्य, तथा सहस्रयेयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमानां—अजितादीनां पार्थपर्यन्तानां जिनवराणाम्, तीर्थकराणामित्यर्थः, एतानि च यावन्ति तानि प्रथमानुयोगतोऽवसेयानि, तथा चतुर्दश प्रकीर्णकसह-
5 साणि अर्हतः, कस्य ?, वर्द्धमानस्वामिनः । अयमत्र भावार्थः—भगवतो उरहस्स चउरासीति समणसाहस्सीतो ह्येत्या, पयन्नगज्झयणाणि य सव्वाणि कालिय-उक्कालियाणं चउरासीतिसहस्साणि । कथम् ? यतो ताणि चउरासीति-
समणसहस्साणि अरहंतमगोवदिट्ठे जं सुयमणुसरित्ता किचि णिज्जूहंते ताणि सव्वाणि पतिघ्नाणि, अहवा सुयमणु-
सारतो अप्पणो वयणकोसल्लेण जं धम्मदेसणादिमु भासंते ते सव्वं पइघ्नं । जम्हा अणंतगम-पज्जवं मुत्तं दिट्ठं,
10 तं च वयणं णियमा अन्नयरगमाणुवाती, तम्हा तं पइघ्नं । एवं चउरासीतिपइघ्नगसहस्साणि भवंतीत्यर्थः । एएण
विहिणा मज्झिमत्तित्थगराणं संखेज्जाइं पइघ्नगसहस्साणि । समणस्स वि भगवओ महावीरस्स जम्हा चोदस समण-
साहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया तम्हा चोदस पइघ्नगज्झयणसहस्साणि भवंति । एत्थ पुण णो आयरिया एवं
पघ्नंति—किल एतं चुलसीइसहस्सादिगं उरसादिजिनवराणं समणपरिमाणं पहाणमुत्तणिज्जूहणसमत्थसमणे पडुच्च
भणियं, सामन्नसमणा पुण बहुतरा तकाले । अन्ने भणंति—उरसादीणं भवत्थाणं संचराणं एतं चुलसीतिसहस्सादिगं
पमाणं, पवाहेण पुणो एगतित्थेसु बहुगा दट्ठव्वा, तत्थ जे पमाणभूयमुत्तणिज्जूहणसमत्था अन्नकालिगा वि ते एत्थ
15 अहिगया, एए ते सुप्पसिद्धप्पइघ्नगणिज्जूहणा चैव दट्ठव्वा । यत आह—“अथवे”त्यादि, 'अथवा' इति प्रकारान्तर-
प्रदर्शनम्, यस्य ऋषभादेस्तीर्थकृतः यावन्तः शिष्या औत्पत्तिकया वैनयिकया कर्मजया पारिणामिकया च चतुर्विधया
बुद्ध्या उपपेताः—समन्विताः तस्य तावन्त्येव प्रकीर्णकसहस्राणि, प्रत्येकबुद्धा अपि तावन्त एव । अत्रैके व्याचक्षते—
किल प्रत्येकबुद्धद्वयान्येव तान्यवगन्तव्यानि, प्रकीर्णकप्रमाणेन प्रत्येकबुद्धप्रमाणप्रतिपादनात् । स्यादेतत्,
प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुध्यत इति, एतदप्यसत्, तेषां प्रत्येकबुद्धत्वादाचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावस्य निपि-
20 द्धत्वात्, तीर्थकरप्रणीतशासनप्रतिपन्नत्वेन तु तच्छिष्यभावो न विरुध्यत इति । अन्ये पुनरित्थमभिदधति—सामान्येनेह
प्रकीर्णकैस्तुल्यत्वात् प्रत्येकबुद्धानामत्राभिधानम्, न तु नियोगतः प्रत्येकबुद्धद्वयानि प्रकीर्णकानीत्यलं विस्तरेण ।
“से त”मित्यादि, तदेतत् कालिकम्, तदेतदावश्यकव्यतिरिक्तम्, तदेतदनङ्गप्रविष्टमिति ॥

८६. से किं तं अंगपविट्ठं ? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं, तं जहा—आयारो १ सूय-
गडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ वियाहपण्णत्ती ५ णायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगड-
25 दसाओ ८ अणुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुत्तं ११ दिट्ठिवाओ १२ ।

८६. से किं तमित्यादि । अथ किं तदङ्गप्रविष्टम् ?, अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आचारः
सूत्रकृतमित्यादि ॥

८७. से किं तं आयारे ? आयारेणं समणाणं णिग्गंथाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइय-
सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया-वित्तीओ आवविज्जंति । से समासओ पंच-
30 विट्ठे पण्णत्ते, तं जहा—णाणायारे १ दंसणायारे २ चरित्तायारे ३ तवायारे ४ वीरियायारे ५ ।
आयारे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा,

संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगड्डयाए पढमे अंगे, दो सुयक्खंधा, पणुवीसं अज्जयणा, पंचासीती उद्देसणकाला, पंचासीती समुद्देसणकाला, अट्ठा- रस पयसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा । सासत-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्ण- विज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंनाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से तं आयारे ? ।

८७. से किं तमित्यादि । अथ किं तदाचारवस्तु?, यद्वा अथ कोऽयमाचारः? । आचरणमाचारः, आचर्यत इति वा आचारः, शिष्टाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थः, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्याचार एवोच्यते । अनेन चाऽऽचारेण करणभूतेन श्रमणानामाचारादि आख्यायत इति योगः । अथवा आचारे “ण”- मिति वाक्यालङ्कारे ‘श्रमणानां’ प्राग्निरूपितशब्दार्थानां ‘निर्ग्रन्थानां’ बाह्या-ऽभ्यन्तरग्रन्थरहितानाम्, आह-श्रमणा निर्ग्रन्था एव भवन्ति विशेषणं किमर्थम्?, उच्यते, शाक्यादिव्यवच्छेदार्थम् । उक्तं च-“निर्गन्थं सक्र तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा ।” [पिण्डनि. गा. ४४५] तत्राऽऽचारः-ज्ञानाद्यनेकभेदभिन्नः, गोचरः-भिक्षाग्रहणविधि- लक्षणः, विनयः-ज्ञानादि, वैनयिकं-फलं कर्मक्षयादि, शिक्षा-ग्रहणा-ऽऽसेवनाभेदभिन्ना, विनेयशिक्षेत्यन्ये, विनेयः-शिष्यः, भाषा-सत्या १ असत्यामृषा २ च, अभाषा-असत्या १ सत्यामृषा २ च, चरणं-व्रतादि, करणं- पिण्डविशुद्ध्यादि, “जाता-माता-विच्चीओ” त्ति यात्रा-संयमयात्रा, मात्रा-तदर्थमेवाहारमात्रा, वर्त्तनं वृत्तिः त्रिवि- धैरभिग्रहविशेषैरिति, आचारश्च गोचरश्चेत्यादि द्वन्द्वः क्रियते, ततश्चाऽऽचार-गोचर-विनय-वैनयिक-शिक्षा-भाषा-ऽभाषा-चरण-करण-यात्रा-मात्रा-वृत्तय आख्यायन्ते । इह च यत्र क्वचिदन्यतरोपादाने अन्यतरगताथार्थाभिधानं तत् सर्वं तत्प्राधान्यख्यापनार्थमेवावसेयम् । “से समासतो” इत्यादि, ‘सः’ आचारः ‘समासतः’ सङ्क्षेपतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-ज्ञानाचार इत्यादि । तत्र ज्ञानाचारः—

काले १ विणए २ बहुमाणे ३ उवहाणे ४ तहा अनिण्हवणे ४ ।

वंजण ६ अत्थ ७ तदुभए ८ अट्टविहो णाणमायारो ॥१॥ [दशवै. नि. गा. १८६]

दर्शनाचारः—

णिस्संक्रिय १ णिकंखिय २ णिव्वित्तिगिच्छ ३ अमूहदिट्ठी ४ य ।

उववूह ५ थिरीकरणे ६ वच्छट्ट ७ पभात्रणे ८ अट्ट ॥२॥ [दशवै. नि. गा. १८४]

अतिसेस १ इडिह २ आयरिय ३ वादि ४ धम्मकथि ५ खमग ६ णेमिच्ची ७ ।

विज्जा राया-गणसम्मया ८ य तित्थं पभावैति ॥३॥ [निशीथभा. गा. ३३]

चारित्राचारः—

पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिं समितीहिं तिहिं य गुच्चीहि ।

एस चरित्तायारो अट्टविहो होति नायव्वो ॥४॥ [दशवै. नि. गा. १८७]

तपाचारः—

वारसत्तिहम्मि वि तवे सत्तिभतर-वादिरे जिणुवदिट्ठे ।

अगिन्दाए अणाजीदी णायव्वो सो तत्तायारो ॥५॥ [दशवै. नि. गा. १८८]

वीर्याचारः—

अणिगृहियवल-दिरिओ परकमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।

जुंजति य जहाथामं णायव्वो वीरियायारो ॥६॥

[दशमै. नि. गा. १४९]

- “आयारे णं परित्ता वायणा” आचारे “ण”मिति वाक्यालङ्कारे ‘परित्ता’ सङ्ख्येयाः, आद्यन्तोपलब्धे-
 5 रनन्ता न भवन्तीत्यर्थः, काः ?, ‘वाचनाः’ सूत्रा-ऽर्थप्रदानलक्षणाः, अवसर्पिणीकालं वा प्रतीत्य “परित्त” त्ति ।
 सङ्ख्येयानि ‘अनुयोगद्वाराणि’ उपक्रमादीनि, अध्ययनानामेव सङ्ख्येयत्वात् प्रज्ञापकवचनगोचरत्वात् । “संखे-
 ज्जा वेढा” ‘वेढाः’ छन्दोविशेषाः । “संखेज्जा सिलोगा” ‘श्लोकाः’ प्रतीता अनुष्टुप्छन्दसा । “संखेज्जाओ
 णिज्जुत्तीओ” निर्युक्तानां युक्तिनिर्युक्तयुक्तिरिति वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरिति, एताश्च निक्षेपनिर्युक्त्याद्याः
 सङ्ख्येया इति । “संखेज्जाओ पडिबत्तीओ” द्रव्यादिपदार्थाभ्युपगमाः प्रतिपत्तयः, प्रतिमाद्यभिग्रहविशेषा वा ।
 10 “से ण”मित्यादि ‘सः’ आचारः “ण”मिति वाक्यालङ्कारे ‘अङ्गार्थतया’ अङ्गार्थत्वेन, अर्थग्रहणं परलोकचिन्तां
 प्रति सूत्रादर्थस्य गरीयस्त्वख्यापनार्थम्, सूत्रार्थोभयरूपो वाऽयमिति ख्यापनार्थम्, प्रथममङ्गम्, स्थापनामधिकृ-
 त्याऽऽद्यमङ्गमित्यर्थः । द्वौ ‘श्रुतस्कन्धौ’ अध्ययनसमुदायलक्षणौ । पञ्चविंशतिरध्ययनानि, तद्यथा—

सत्थपरिन्ना १ लोगविजयो य २ सीतोसणिज्ज ३ सम्मत्तं ४ ।

आवंति ५ धुअ ६ विमोहो ७ महापरिन्ना ८ वहाणसुयं ९ ॥१॥ पढमो सुयक्खंधो ॥

15 पिंढेसण १ सेज्जिरिया ३ भासज्जाया य ४ वत्थ ५ पाएसा ६ ।

उग्गहपडिमा ७ सत्त य सत्तिकया १४ भावण १६ विमुत्ती १६ ॥२॥

[आवस्यकसङ्ग्रहणी. हारि. वृत्ति पत्र ६६०-१]

- एवमेतानि निशीथवर्जानि पञ्चविंशतिरध्ययनानि । तथा पञ्चाशीत्युद्देशनकालाः, कथम् ? उच्यते, अङ्गस्य
 श्रुतस्कन्धस्याध्ययनस्योद्देशकस्य च एतेषां चतुर्णामप्येक एव, एवं सत्थपरिन्नाए सत्त उद्देशनकाला ७, लोग-
 20 विजयस्स छ फा, सीओसणिज्जस्स चउरो ट्ठक, सम्मत्तस्स चउरो ट्ठक, लोगसारस्स छ फुं, धुतस्स पंच ना,
 विमोहज्झयणस्स अट्ठ ह, महापरिन्नाए सत्त ग्र, उवहाणसुतस्स चउरो ट्ठक, पिंढेसणाए एकारस्स ११, सेज्जाए
 तिन्नि ३, इरियाए तिन्नि ३, भासज्जाए दोन्नि २, वत्थेसणाए दोन्नि २, पाएसणाए दोन्नि २, उग्गहपडिमाए
 दोन्नि २, सत्तिकयाए सत्त ७, भावणाए एको १, विमोत्तीए एको १, एवमेए संपिडिया पंचासीई भवन्ति ।
 एत्थ संगहगाहा—

25 सत्त य छ चउ चउरो छ पंच अट्ठेव सत्त चउरो य । एकार ति ति य दो दो दो दो सत्तेक एको य ॥१॥

- एवं समुद्देशनकाला वि भाणियव्वा । अष्टादश पदसहस्राणि पदाग्रेण, इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत् पदम् । चोदक
 आह—जदि दो सुतक्खंधा पणुवीसं अज्झयणाणि अट्टारस्स पदसहस्राणि पदग्गेणं भवन्ति तो जं भणियं “णव वंभ-
 चेरमइओ अट्टारस्सपदसहसिसओ वेओ ।” [आचा. नि. गा. ११] त्ति एयं विरुज्झइ ? आचार्य आह—णणु एत्थ वि
 भणियं “ट्ठवइ य सपंचचूलो वहु वहुअयरो पयग्गेणं ॥” [आचा. नि. गा. ११] ति, इह सुत्तालावयपदेहिं सहितो
 30 वहु वहुअरो य वत्तव्य इत्यर्थः, अथवा दो सुयक्खंधा पणुवीसं अज्झयणाणि एयं आयारग्गसहितस्स आयारस्स पमाणं
 भणियं, अट्टारस्स पयसहस्राणि पुण पढमसुयक्खंधस्स णववंभचेरमतियस्स पमाणं, विचित्तवद्धाणि य सुत्ताणि,
 गुरूवदेसतो तेसि अत्थो जाणियव्वो । “संखेज्जा अक्खरा” सङ्ख्येयान्यक्षराणि, वेढादीनां सङ्ख्येयत्वात् ।

“अणंता गमा” इह गमा अर्थगमा गृह्यन्ते, अर्थपरिच्छेदा इत्यर्थः, ते चानन्ताः, एकस्मादेव सूत्रात् तत्तद्धर्म-
विशिष्टानन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपत्तेः । अन्ये तु व्याचक्षते—अभिधाना-ऽभिधेयवशतो गमा इति, ते चानन्ताः, ते
पुनरनेन विधिना अवसेयाः, तद्यथा—सुयं मे आउसं ! तेषां भगवया, आउसंतेषां भगवया, सुयं मे आउसंपदा,
सुयं मे आउसं तर्हि, सुयं मे आउसं, आउसं सुयं मे, आसुयं मया, तं सुयं मया, आ तथा सुयं मया, आ तर्हि
सुयं मया आ, एवमादिभिर्भण्यमानं क्लिानन्तगममिति । “अणंता पज्जवा” स्व-परभेदभिन्नाः अक्षरार्थपर्याया
इत्यर्थः । “परित्ता तसा” त्रस्यन्तीति ‘त्रसाः’ द्वीन्द्रियादयस्ते च परित्ताः । “अणंता थावरा” वनस्पतिकायसहिताः
परिवृह्यन्ते । “सासय-कड-णिवद्ध-णिकाइय” चि शाश्वता द्रव्यार्थतयाऽविच्छेदेन प्रवृत्तेः, कृताः पर्यायार्थतया प्रति-
समयमन्यत्वावाप्तेः, निवद्धाः सूत्र एव, निष्काचिता निर्युक्ति-सङ्ग्रहणि-हेतूदाहरणादिभिः । “जिणपन्नत्ता” जिनेः
प्रवृत्ताः ‘भावाः’ पदार्थाः “आघविज्जंती”त्यादि ध्रुवगण्डिका पूर्ववत् । साम्प्रतमाचाराङ्गग्रहणफलप्रतिपादनायाऽऽह—
“से एव”मित्यादि, ‘सः’ इत्याचाराङ्गग्राहकोऽभिसम्बध्यते, “एवंआय” चि अस्मिन् भावतः सम्यगधीते सति
एवमात्मा भवति, तदुक्तक्रियापरिणामात्माव्यतिरेकात् स एव भवतीत्यर्थः । एवं क्रियासारमेव ज्ञानमिति रूपा-
पनार्थं क्रियापरिणाममभिधायानुना ज्ञानमधिकृत्याह—“एवंआय” चि इदमधीत्य एवंज्ञाता भवति यथैवेहोक्तमिति ।
“एवंविन्नाय” चि एवं विविधो विशिष्टो वा ज्ञाता विज्ञाता एवंविज्ञाता भवति, तन्त्रान्तरीयज्ञातृभ्यः प्रधानतर
इत्यर्थः । एवं चरण-करणपरूवणया आघविज्जतीत्यादि । निगमनवाक्यं भावितार्थमेव ॥

८८. से किं तं सूयगडे ? सूयगडेणं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोया-ऽलोए 15
सूइज्जइ, जीवा सूइज्जंति, अजीवा सूइज्जंति, जीवा-ऽजीवा सूइज्जंति, ससमए सूइज्जइ,
परसमए सूइज्जइ, ससमय-परसमए सूइज्जइ । सूयगडे णं आसीतस्स किरियावादिसयस्स,
चउरासीईए अकिरियावादीणं, सत्तट्ठीए अण्णाणियवादीणं, वत्तीसाए वेणइयवादीणं, तिण्हं
तेसट्ठाणं पावाट्टुयसयाणं वूहं किच्चा ससमए अविज्जइ । सूयगडे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा
अणुओगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ 20
पडिवत्तीओ । से णं अंगट्टयाए विइए अंगे, दो सुयक्खंधा, तेवीसं अज्जयणा, तेत्तीसं
उद्देसणकाला, तेत्तीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पदसहस्साणि पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा,
अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिवद्ध-णिकाइया
जिणपणत्ता थावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उव-
दंसिज्जंति । से एवंआया, एवंआया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । 25
से तं सूयगडे २ ।

८८. से किं तं सूयगडे ? [सूच सूचायाम्] [सूचनान् सूयम्, सूत्रेण कृतं सूत्रकृतं
रूढयोच्यते । तत्र लोचयते अनेन वाऽस्मिन् वा लोकः । सूचयत इत्यादि निगदमिदं यावत् ‘आसीतस्स किरिया-
वादिसतस्स’ अशीत्यधिकस्य क्रियावादिशतस्य व्युत्पत्त्या सूत्रसमयः स्थाप्यत इति योगः । एवं शेषपदेष्वपि
क्रिया योजनीयेति । तत्र न कर्तारं चिन्ता क्रियासम्भव इति नामान्ममवायिनो वदन्ति ये तच्छ्रीत्याश्च ते 30

क्रियावादिनः । ते पुनरात्माद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेनाशीत्यधिकज्ञानसङ्ख्या विद्येयाः—जीवा-ऽजीवा-
 5 ऽऽश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-पुण्य-पाप-मोक्षाख्यानं नव पदार्थान् विरचय्य परिपाटना जीवपदार्थस्याधः सप्तपरभेदानु-
 पन्यसनीयौ, तयोरथो नित्या-ऽनित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरा-ऽऽत्म-नियति-स्वभानभेदाः पञ्च न्यसनीयाः,
 पुनश्चैवं विकल्पाः कर्त्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः । विकल्पार्थथायम्—विद्यते
 5 स्वल्वात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालवादिनः । उक्तेनैवाभिलाषेन द्वितीयो विकल्प इभारकारिणः, तृतीयो विकल्पः
 आत्मवादिनः “पुरुष एवेदं सर्वम्” [ऋग्वेदमं. ६० सू. १०] इत्यादि, नियतिवादिनश्चतुर्थविकल्पः, पञ्चमविकल्पः
 स्वभाववादिनः । एवं स्वत इत्यजहता लब्धाः पञ्च विकल्पाः । परत इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते । नित्यत्वापरित्यागेन
 चैते दश विकल्पाः । एवमनित्यत्वेनापि दशैव, एते विंशतिर्जीवपदार्थेन लब्धाः, अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं
 विंशतिर्विकल्पानाम्, अतो विंशतिर्नव गुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति ।

10 ‘चउरासीईते अकिरियावादीणं’ चतुरशीतेरक्रियावादिनाम्, क्रिया पूर्ववत्, न हि कस्यचिदनवस्थितस्य
 पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भावे चावस्थितेरभावादित्येवंवादिनोऽक्रियावादिनः । तथा चाऽऽहुरेके—

क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थितानां कुतः क्रिया ? ।

भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ॥१॥ [] इत्यादि ।

एते चाऽऽत्मादिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन चतुरशीतिर्द्रष्टव्याः—एतेषां हि पुण्या-ऽपुण्यविचर्जि-
 15 तपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव, जीवस्याधः स्व-परविकल्पभेदद्वयोपन्यासः, असत्त्वादात्मनो नित्या-ऽनित्यभेदौ न स्तः,
 कालादीनां तु पञ्चानां पृष्टी यदृच्छा न्यस्यते, पश्चाद् विकल्पाभिलाषः—नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विक-
 ल्पः, एवमीश्वरादिभिरपि यदृच्छावसानैः, सर्वे च षड् विकल्पाः । तथा नास्ति जीवः परतः कालत इति षडेव
 विकल्पाः, एकत्र द्वादश, एवमजीवादिष्वपि षट्सु प्रतिपदं द्वादश विकल्पाः, एवं द्वादश सप्तगुणाश्चतुरशीति-
 विकल्पा नास्तिकानामिति ।

20 ‘सत्तट्टीए अन्नाणियवादीणं’ ति सप्तपष्टिरज्ञानिकवादिनाम्, क्रिया प्राग्वत् । तत्र कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदे-
 पामस्तीत्यज्ञानिकाः । नन्वेवं लघुत्वात् प्रक्रमस्य प्राग् बहुव्रीहिणा भवितव्यम् ततश्चाज्ञाना इति स्यात्, नैप दोषः,
 ज्ञानान्तरमेवाज्ञानम्, मिथ्यादर्शनसदृशरितत्वात्, ततश्च जातिशब्दत्वात् गौरस्वरवदरण्यमित्यादिवदज्ञानिकत्वमिति ।
 अथवा अज्ञानेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा अज्ञानिकाः, असञ्चिन्त्यकृतबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः । ते चामुनो-
 पायेन सप्तपष्टिर्ज्ञातव्याः—तत्र जीवादीन् नव पदार्थान् पूर्ववद् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याधः सप्त सदा-
 25 दयः उपन्यसनीयाः, सत्त्वं १ असत्त्वं २ सदसत्त्वं ३ अवाच्यत्वं ४ सदवाच्यत्वं ५ असदवाच्यत्वं ६ सदसदवाच्य-
 त्वमिति ७ च, एकैकस्य जीवादेः सप्त सप्त विकल्पाः, त एते नव सप्तकाः त्रिपष्टिः, उत्पत्तेस्तु चत्वार एवाद्या विक-
 ल्पाः, तद्यथा—सत्त्वमसत्त्वं सदसत्त्वं अवाच्यत्वं चेति, त्रिपष्टिमध्ये प्रक्षिप्ताः सप्तपष्टिर्भवन्ति । को जानाति जीवः
 सन् ? इत्येको विकल्पः, ज्ञातेन वा किम् ?, एवं असदादयोऽपि वाच्याः, उत्पत्तिरपि किं सतोऽसतः सदसतोऽ-
 वाच्यस्य ? इति को वा जानातीत्येतत् ?, न कश्चिदपीत्यभिप्रायः ।

30 “वत्तीसाए चेणइयदादीणं” द्वात्रिंशतो वैनयिकवादिनाम्, क्रिया पूर्ववत् । तत्र विनयेन चरन्ति विनयो वा
 प्रयोजनमोपामिति वैनयिकाः, एते चानवधृतलिङ्गा-ऽऽचार-शास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन द्वात्रिंशदवग-
 न्तव्याः—गुर-नृपति-ज्ञाति-यति-स्थविरा-ऽवम-मातृ-पितृणां प्रत्येकं कायेन वाचा मनसा दानेन च देश-कालोपपन्नेन

विनयः कार्य इति, एते चत्वारो भेदाः सुरादिष्वष्टसु स्थानेषु, एकत्र मेलिता द्वात्रिंशदिति । सर्वसङ्ख्यां प्रतिपादयन्नाह—“तिष्ठं तेसद्वाण”मित्यादि, त्रयाणां त्रिपष्ट्यधिकानां ‘प्रावादुकशतानां’ विचित्रैकैकनयमतावलम्बिनां प्रवादिशतानामित्यर्थः ‘व्यूहं’ प्रतिक्षेपं कृत्वा ‘स्वसमयः’ स्वसिद्धान्तः स्थाप्यते । शेषं किञ्चिद् व्याख्यातं किञ्चित् सुगममिति यावत् “से तं स्रयण्डे” चि कण्ठ्यम् २ ॥

८९. से किं तं ठणे ? ठणेणं जीवा ठविज्जंति, अजीवा ठविज्जंति, जीवा-ऽजीवा ठविज्जंति, लोए ठविज्जइ, अलोए ठविज्जइ, लोया-ऽलोए ठविज्जइ, ससमए ठविज्जइ, परसमए ठविज्जइ, ससमय-परसमए ठविज्जइ । ठणे णं टंका कूडा सेला सिहरिणो पव्वारा कुंडाइं गुहाओ आगरा दहा णदीओ आघविज्जंति । ठणे णं एगाइयाए एगुत्तरियाए बुद्धीए दसद्वाणगविवद्धियाणं भावाणं परूवणया आघविज्जति । ठणे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जु-त्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगइयाए तइए अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा, एक्खीसं उद्देसणकाला, एक्खीसं समुद्देसणकाला, वावत्तरिं पदसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवं-विण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से तं ठणे ३ ।

८९. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् स्थानम् ?, तिष्ठन्त्यस्मिन् प्रतिपाद्यतया जीवादय इति स्थानम् । तथा चाह—“ठणे ण”मित्यादि, स्थानेन स्थाने वा जीवाः स्थाप्यन्ते, व्यवस्थितस्वरूपप्रतिपादनयेति हृदयम् । शेषं प्रायो निगदसिद्धमेव । नवरम्—“टंक” चि छिन्नतडं टंकं । “कूड” चि पव्वतोवरिं, जहा वेयड्ढस्सोवरिं नव सिद्धाययणादिया कूडा । “सेल” चि हिमवंतादिया सेला । “सिहरिणो” चि सिद्धरेण सिद्धरिणो चि, ते य वेयड्ढाइया । “पव्वारा” चि जं कूडं उवरिं अंवरुज्जयं तं पव्वारं, जं वा पव्वयस्स उवरिभागे ढंत्थिकुंभागिती कुड्ढं णिग्गयं तं पव्वारं भन्नइ । “कुंड” चि गंगादीणि कुण्डानि । “गुहा” चि निमिसादिया गुहा । “आगरा” चि रूप-सुवन्न-रयणादिरुप्पत्तिट्ठाणा आगरा । “दहा” चि पोडरीयादीया दहा । “णदीउ” चि गंगा-सियुमादीओ । शेषं क्षुण्णार्थं यावन्निगमनमिति ३ ॥

९०. से किं तं समवाए ? समवाएणं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति, जीवा-ऽजीवा समासिज्जंति, लोए समासिज्जति, अलोए समासिज्जति, लोया-ऽलोए समासिज्जति, ससमए समासिज्जति, परसमए समासिज्जति, ससमय-परसमए समासिज्जति । समवाए णं एगाइयाणं एगुत्तरियाणं ठणगसयविवद्धियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जति । दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पट्टवग्गे समासिज्जति । समवाए णं परित्ता

वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जु-
 ५ तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ । से णं अंगह्याए चउत्थे
 अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे अज्जयणे, एगे उद्देसणकाले, एगे समुद्देसणकाले, एगे चोयाले
 पदसयसहस्से पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा,
 ५ अणंता थावरा, सासत-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपणत्ता भावा आघविज्जंति पणविज्जंति
 परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया,
 एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जति । से तं समवाए ४ ।

१०. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं समवायः?, सम् अत्र अयः समवायः, सम्यगधिकपरिच्छेद-
 इत्यर्थः, तद्वेतुकश्च ग्रन्थोऽपि समवायः । तथा चाऽऽह-समवायेन समवाये वा जीवाः समाश्रीयन्ते, अविपरीतस्व-
 १० रूप-गुणभूषिता बुद्ध्या अङ्गीक्रियन्त इत्यर्थः । अथवा जीवाः 'समस्यन्ते' कुरूपणाभ्यः सम्यक्प्ररूपणार्या क्षिप्यन्ते,
 शेषं निगदसिद्धमा निगमनम् । नवरम्-“एगादियाण”मित्यादि, अत्रैकाद्येकोत्तरं स्थानशतं भवति, यथा-“एगे
 आया” इत्यादि । शेषं सूत्रसिद्धं यावन्निगमनमिति ४ ॥

११. से किं तं वियाहे ? वियाहेणं जीवा वियाहिज्जंति, अजीवा वियाहिज्जंति,
 जीवा-ऽजीवा वियाहिज्जंति, लोए वियाहिज्जति, अलोए वियाहिज्जति, लोया-ऽलोए
 १५ वियाहिज्जति, ससमए वियाहिज्जति, परसमए वियाहिज्जति, ससमय-परसमए वियाहि-
 ज्जति । वियाहे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा
 सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।
 से णं अंगह्याए पंचमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे सातिरेगे अज्जयणसते, दस उद्देसण-
 सहस्साइं, दस समुद्देसणसहस्साइं, छत्तीसं वागरणसहस्साइं, दो लक्खा अट्ठासीति पयसह-
 २० स्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता
 थावरा, सासत-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपणत्ता भावा आघविज्जंति पणविज्जंति परू-
 विज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया,
 एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ । से तं वियाहे ५ ।

११. से किं तमित्यादि । अथ केयं व्याख्या ?, व्याख्यानं व्याख्या । तथा चाह-व्याख्यायां जीवादयो
 २५ व्याख्यायन्ते । इह सयं चेव अज्जयणसत्तं । शेषं प्रकटार्थं यावत् “से तं वियाहे” त्ति निगमनम् ५ ॥

१२. से किं तं णायाधम्मकहाओ ? णायाधम्मकहासु णं णायाणं णगराइं उज्जाणाइं
 चेइयाइं वणसंडाइं समोसणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-पर-
 लोगियां रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चागा पच्चज्जाओ परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं संले-

हणाओ भक्तपञ्चस्त्राणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपञ्चायाईओ पुणवोहिलाभा
 अंतकिरियाओ य आघविज्जंति । दस धम्मकहाणं वग्गा । तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए
 पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए
 उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइओवक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुव्वाचरेणं अञ्चुट्ठाओ कहाण-
 गकोडीओ भवंति त्ति मक्खायं । णायाधम्मकहाणं परिता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा,
 संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ,
 संखेज्जाओ पडिवतीओ । से णं अंगइयाए छट्ठे अंगे, दो सुयक्खंधा, एगूणवीसं णात-
 ज्जयणा, एगूणवीसं उद्देसणकाला, एगूणवीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पय-
 ग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परिता तसा, अणंता थावरा,
 सासत-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति 10
 दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं
 चरण-करणपरूवणा आघविज्जति । से तं णायाधम्मकहाओ ६ ।

९२. से किं तमित्यादि । अथ कास्ताः ज्ञाताधर्मकथाः ? । ज्ञातानि—उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथाः
 ज्ञाताधर्मकथाः । आह च—“णायाधम्मकहासु णं” इत्यादि, ज्ञातानां—उदाहरणभूतानां नगरादीन्याख्यायन्ते ।
 “दस धम्मकहाणं वग्गा” इत्यादि, एत्थ भावणा—एगूणवीसं णायज्जयणाणि, णाय त्ति—आहरणा, दिट्ठंतिओ 15
 उवणिज्जति जेहउत्थो वा ताणि णाताणि—अज्जयणा, एए पढमसुयखंधे । अहिंसादिलक्खणस्स धम्मस्स कहाओ धम्म-
 कहाओ, धम्मियाओ वा कहाओ धम्मकहाओ, अक्खाणग त्ति वुत्तं भवति, एयाणि वितियसुयखंधे । पढम-वितिय-
 सुयखंधभणियाणं णायाधम्मकहाणं नगरादिया भवंति । वितियसुयखंधे दस धम्मकहाणं वग्गा, “वग्गो” त्ति समूहो,
 तत्त्विसेसणविसिद्धा दस अज्जयणा चेव ते दट्ठवा, एगूणवीसं णाया, दस धम्मकहाओ । तत्थ णातेसु आदिमा
 दस णाता णाया चेव, ण तेसु अक्खादियादिसंभवो, सेसा णव णाया, तेसु पुण एक्केके णाते पंच पंच चत्तालाइं 20
 अक्खाइयासयाइं, एत्थ वि एक्केकाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयसयाइं, तत्थ वि एक्केकाए उवक्खाइयाए
 पंच पंच अक्खाइयोवक्खाइयसयाइं । एवमेयाइं संपिडियाइं किं संजायं ?—

इगवीसं कोडिसयं लक्खा पन्नासमेव वोड्ठवा ।

एवं ठिते समाणे अधिगतसुत्तस्स पत्थावो ॥१॥ []

तं जहा—दस धम्मकहाणं वग्गा, तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयसयाइं, एगमेगाए 25
 अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयसयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइयोवक्खाइयसयाइं । एवमेयाइं
 संपिडियाइं किं संजातं ?—

पणुवीसं कोडिसयं एत्थ य समलक्खणाइगा जम्हा । णवणायगंवेवडा अक्खाइयमाइया नेणं ॥१॥

ते सोत्तिज्जंति पुडं इमाओ रासीओ वेगलाणं तु । पुणरुत्तवज्जियाणं पमाणमिन्थं विनिदिट्ठं ॥२॥

सोधिष्ये य समाणे अद्भुद्वाओ कदाणयकोडीओ चैव हवन्ति, अत एवाह—“एनमेव सपुन्यावरेणं” भणिय-
पगारेणं गुणण-सोहणे कते त्ति वुत्तं भवति, “अद्भुद्वाओ कदाणयकोडीओ भवन्तीति मनवानं” प्रकटार्थमिति, एवं
गुरवो व्याचक्षते । अन्ये पुनरन्यथा, तदभिप्रायं पुनर्नयमतिगम्भीरतान्नावगच्छामः, परमार्थं तत्र विशिष्टश्रुतविदो
विदन्तीत्यलं प्रसङ्गेन । शेषं सुगमं यावत् “संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं” ते य किल पंन लक्खा वावत्तरिं न
5 सहस्सा पदग्गेणं, अहवा सुत्तालावयपयग्गेणं संखेज्जा पदसहस्सा भवन्ति, एवं सञ्चत्य भावेगन्वं । शेषं सूत्रसिद्धं
यावन्निगमनमिति ६ ॥

९३. से किं तं उवासगदसाओ ? उवासगदसासु णं समणोवासगाणं णगराई उज्जा-
णाई चेइयाई वणसंडाई समोसरणाई रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया
इहलोग-परलोइया रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चाया परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाई सील-
10 व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासपडिवज्जणया पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ
भत्तपच्चक्खाणाई पाओवगमणाई देवलोगगमणाई सुकुलपच्चायाईओ पुणवोहिलाभा अंत-
किरियाओ य आघविज्जंति । उवासगदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा,
संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ,
संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगइयाए सत्तमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा,
15 दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जाई पदसहस्साई पयग्गेणं । संखेज्जा
अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिवद्ध-
णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदं-
सिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा
आघविज्जति । से तं उवासगदसाओ ७ ।

20 ९३. से किं तमित्यादि । उपासकाः—श्रावकाः तद्गतक्रियाकलापनिवद्धा दशाः—दशाध्ययनोपलक्षिताः
उपासकदशाः । तथा चाह—“उवासगदसासु णं” इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत् “संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं” ते च
किल एकारस लक्खा वावत्तं च सहस्सा पयग्गेणं ति । शेषं कण्ठ्यमा निगमनमिति ७ ॥

९४. से किं तं अंतगडदसाओ ? अंतगडदसासु णं अंतगडाणं णगराई उज्जाणाई चेतियाई
वणसंडाई समोसरणाई रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-परलोगिया
25 रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जाओ परियागा सुतपरिग्गहा तवोवहाणाई संलेहणाओ
भत्तपच्चक्खाणाई पाओवगमणाई देवलोगगमणाई सुकुलपच्चायाईओ पुणवोहिलाभा
अंतकिरियाओ य आघविज्जंति । अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोग-
दारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगह-

णीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगड्डयाए अट्टमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, अट्ट वग्गा, अट्ट उद्देसणकाला, अट्ट समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसि-ज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा 5 आघविज्जंति । से चं अंतगड्डदसाओ ८ ।

९४. से किं तमित्यादि । अन्तः-विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलभूतस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृतः, ते च तीर्थकरादयः, तेषां दशाः प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तत्सङ्ख्यया अन्तकृद्दशा इति । तथा चाऽऽह-“अंत-कड्डसासु ण”मित्यादि पाठसिद्धं यावत् “अंतकिरियाओ” च्चि भवापेक्षया अन्त्याश्च ताः क्रियाश्चेति समासः, ताश्च शैलेश्यवस्थाया गृह्यन्ते । शेषं प्रकटार्थं यावत् “अट्ट वग्गा” एत्य ‘वग्गो’ च्चि समूहो, सो य अंतगडाणं अज्झयणाणं वा । सन्वाणि अज्झयणाणि जुगवं उदिसंति, अतो भणियं-“अट्ट उद्देसणकाला” इच्चादि । “संखेज्जा पदसहस्सा पयग्गेणं” ते य किल एवतिया-तेवीसं लक्खा चउरो य सहस्सा पदग्गेणं ति । शेषं सूत्रसिद्धं यावन्निगमनमिति ८॥ 10

९५. से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? अणुत्तरोववाइयदसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मा-यरिया इहलोग-परलोगिया रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जपरियागा सुतपरिग्गहा 15 तवोवहाणाइं पडिमाओ उवत्तग्गा संलेहणाओ भत्तपन्नक्खाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरो-ववाइयत्ते उववत्ती सुकुलपच्चायादीओ पुणवोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति । अणुत्तरोववाइयदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगड्डयाए णवमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, तिण्णि वग्गा, तिण्णि उद्देसणकाला, तिण्णि 20 समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से चं अणु-त्तरोववाइयदसाओ ९ । 25

९६. से किं तमित्यादि । उत्तरः-प्रधानः, नान्योत्तरो विद्यत इति अनुत्तरः, उपपन्नमृत्ततः, नन्वे-त्यर्थः, अनुत्तरः-प्रधानः संसारेऽन्यन्य तथाविधस्याभावाद् उपपन्नो वेपामिति समासः, सङ्ख्ययत्ताप्रतिपदा दशाः-दशाध्ययनोपपत्तिता अनुत्तरोपपातिकदशाः । तथा चाऽऽह-“अणुत्तरोववाइयदसासु णं”मित्यादि सूत्रसिद्धं

यावत् “तिन्नि वग्ग” त्ति इहाध्ययनसम्पूहो वर्गः, वर्गे वर्गे द्वाध्ययनानि । वर्गेषु गणपदेर्वाडियेन उज्ज्वल आह-
 “तिन्नि उद्देसणकाला” इत्यादि । “संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं” ते य किल वाणउतिलक्खा सोलस य सहस्स त्ति । शेषं प्रकटार्थं यावन्निगमनमिति ९ ॥

१६. से किं तं पण्हावागरणाइं ? पण्हावागरणेषु णं अट्ठुत्तरं पसिणसयं, अट्ठुत्तरं
 5 अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणा-ऽपसिणसयं, अण्णे वि विविधा दिव्वा विज्जा-
 तिसया नाग-सुवण्णेहि य सद्धि दिव्वा संवाया आघविज्जंति । पण्हावागरणाणं परिता
 वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जु-
 तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवतीओ । से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे,
 एगं सुयक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसण-
 10 काला, संखेज्जाइं पदसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा,
 परिता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति
 पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवं-
 णाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से तं पण्हावागरणाइं १० ।

१६. से किं तमित्यादि । प्रश्नः-प्रतीतः, तन्निर्वचनं व्याकरणम्, बहुत्वाद् बहुवचनम् । प्रश्नव्याकरणेषु
 15 “अट्ठुत्तरं पसिणसयं” इत्यादि । अंगट्ठ-वाहुपसिणादियाओ पसिणाओ । जे पुण विज्जा-मंता विधीए जविज्जमाणा
 अयुच्छिया चैव सुभा-ऽसुभं कहेति एता अपसिणातो । तदा अंगट्ठपसिणभावं च पडुच्च साधेति जा विज्जाओ ताओ
 पसिणापसिणाओ त्ति । अथवा अणंतरं जा कहंति ता पसिणा, परंपरं पसिणापसिण त्ति, तं पुण विज्जाकहितं
 तस्स परंपरं भवति । अन्ने य दिव्वा विचित्ता विज्जातिसया । शेषं निगदसिद्धं यावत् “संखेज्जा पदसहस्सा
 पदग्गेणं” ते य किल वाणउतिलक्खा सोलस य सहस्स त्ति । शेषं गतार्थं यावदन्त इति १० ॥

१७. से किं तं विवागसुतं ? विवागसुते णं सुकड-दुकडाणं कम्माणं फल-विवागा
 20 आघविज्जंति । तत्थ णं दस दुहविवागा, दस सुहविवागा ।

से किं तं दुहविवागा ? दुहविवागेषु णं दुहविवागाणं णगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं
 चेइयाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोइय-परलोइया
 रिद्धिविसेसा निरयगमणाइं दुहपरंपराओ संसारभवपवंचा दुकुलपचायाईओ दुलहवोहियत्तं
 25 आघविज्जंति । से तं दुहविवागा ।

से किं तं सुहविवागा ? सुहविवागेषु णं सुहविवागाणं णगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं
 चेइयाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोइअ-परलोइया
 रिद्धिविसेसा भोगपरिवागा पव्वज्जाओ परियागा सुतपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ

भक्तपञ्चखाणां पाओवगमणां देवलोगगमणां सुहपरंपराओ सुकुलपचायादीओ पुणवो-
हिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति ।

विवागसुते णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा
सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।
से णं अंगट्टयाए एकारसमे अंगे, दो सुयक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं
समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पदसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता
पज्जवा. परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघ-
विज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया,
एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जति । से तं विवागसुतं ११ ।

९७. से किं तमित्यादि । विपचनं विपाकः, शुभा-ऽशुभकर्मपरिणाम इत्यर्थः, तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाक-
श्रुतम् । शेषमा निगमनं सूत्रसिद्धमेव । नवरम्—“संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं” एते य एसा पदकोडी चुलसीइं च
लक्खा वत्तीसं च सहस्स ति ११ ॥

९८. से किं तं दिट्ठिवाए ? दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जति । से समा-
सओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—परिकम्मे १ सुत्ताइं २ पुव्वगए ३ अणुओगे ४ चूलिया ५ ।

९८. से किं तमित्यादि । दृष्टयः—दर्शनानि, वदनं वादः, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः । दृष्टीनां वा पातो
यत्रासौ दृष्टिपातः, सर्वनयदृष्टय एवेहाऽऽख्यायन्त इत्यर्थः । तथा चाऽऽह—दृष्टिवादेन दृष्टिपातेन दृष्टिवादे दृष्टिपाते
वा सर्वभावपरूवणा आख्यायते । “से समासओ पंचविहे पन्नत्ते” इत्यादि । सर्वमिदं प्रायो व्यवच्छिन्नं तथापि
लेशतो यथागतसम्प्रदायं किञ्चिद् व्याख्यायत इति ॥

९९. से किं तं परिकम्मे ? परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—सिद्धसेणियापरिकम्मे
१ मणुस्ससेणियापरिकम्मे २ पुट्टसेणियापरिकम्मे ३ ओगादसेणियापरिकम्मे ४ उवसंपज्जण-
सेणियापरिकम्मे ५ विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ६ चुनअचुतसेणियापरिकम्मे ७ ।

१००. से किं तं सिद्धसेणियापरिकम्मे ? सिद्धसेणियापरिकम्मे चोदसविहे पण्णत्ते,
तं जहा—माउगापयाइं १ एगट्टियपयाइं २ अट्टापयाइं ३ पादो ४ आमामपयाइं ५ केउभूयं ६
रासिद्धं ७ एगगुणं ८ दुगुणं ९ तिगुणं १० केउभूयपडिग्गहो ११ संसारपडिग्गहो १२ नंदा-
वत्तं १३ सिद्धावत्तं १४ । से तं सिद्धसेणियापरिकम्मे ? ।

१०१. से किं तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे ? मणुस्ससेणियापरिकम्मे चोदसविहे पण्णत्ते,
तं जहा—माउगापयाइं १ एगट्टियपयाइं २ अट्टापयाइं ३ पादो ४ आमामपयाइं ५ केउभूयं ६

रासिवद्धं ७ एगगुणं ८ दुगुणं ९ तिगुणं १० केउभूयपडिग्गहो ११ संसारपडिग्गहो १२
णंदावत्तं १३ मणुस्सावत्तं १४ । से तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे २ ।

१०२. से किं तं पुट्टसेणियापरिकम्मे ? पुट्टसेणियापरिकम्मे एकारसविहे पण्णत्ते, तं
जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउ-
५ भूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० पुट्टावत्तं ११ । से तं पुट्टसेणियापरिकम्मे ३ ।

१०३. से किं तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ? ओगाढसेणियापरिकम्मे एकारसविहे
पण्णत्ते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६
तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० ओगाढावत्तं ११ । से तं
ओगाढसेणियापरिकम्मे ४ ।

१०४. से किं तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ? उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे एकार-
सविहे पण्णत्ते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं
६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० उवसंपज्जणावत्तं ११ । से
तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ५ ।

१०५. से किं तं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ? विप्पजहणसेणियापरिकम्मे एगारस-
१५ विहे पण्णत्ते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६
तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० विप्पजहणावत्तं ११ । से तं
विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ६ ।

१०६. से किं तं चुयमचुयसेणियापरिकम्मे ? चुयमचुयसेणियापरिकम्मे एगारसविहे
पण्णत्ते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६
२० तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० चुयमचुयावत्तं ११ । से तं
चुयमचुयसेणियापरिकम्मे ७ ।

९९-१०६. तत्र सूत्रादिग्रहणयोग्यतासम्पादनसमर्थानि परिकर्माणि, गणितपरिकर्मवत् । तं च परिकम्म-
सुयं सिद्धसेणियादिपरिकम्ममूलभेदतो सत्तविद्दं, उत्तरभेदतो तेरासीतिविद्दं माउगपदाति । एयं च सर्व्वं मूलुत्तर-
भेदं सुत्तत्थतो बोच्छिन्नं, यथागतसम्भदायं वा वाच्यम् ॥

१०७. [इच्चेइयाइं सत्त परिकम्माइं, छ ससमइयाइं, सत्त आजीवियाइं,] छ चउक्कणइ-
याइं, सत्त तेरासियाइं । से तं परिकम्मे १ ।

१०७. एएसिं परिकम्माणं छ आदिमा य परिकम्मा ससमइया चेव, गोसालयपवत्तियआर्जावगपासंडि-
सिद्धंतमएणं पुण चुयअचुयसेणियापरिकम्मसहिया सत्त पन्नविज्जंति । इयाणिं परिकम्मे णयचिंता-तत्थ णेगमो
दुविहो, संगहितो असंगहितो य, संगहिओ संगहं पविट्ठो, असंगहिओ ववहारं, तम्हा संगहो ववहारो ऋजुसुत्तो
सद्दादिया य एको एवं चउरो णया । एतेहिं चउहिं णएहिं छ ससमइयाइं परिकम्माइं चित्तिज्जंति, अतो भणियं-छ
चउक्कणयाइं भवंति । ते चेव आजीविया तेरासिया भणिया । कम्हा ? उच्यते, जम्हा ते सव्वं जगत् त्वात्मकमिच्छन्ति,
यथा जीवोऽजीवो जीवाजीवो, लोए अलोए लोयालोए, संते असंते संतासंते एवमादि । णयचिंताए ते तिविहं
णयमिच्छंति, तंजहा-द्ववट्ठितो पज्जवट्ठितो उभयट्ठिओ, अओ भणियं—“सत्त तेरासिय”त्ति, सत्त परिकम्माइं
तेरासियपासंडत्था तिविहाए णयचिंताए चिन्तयन्तीत्यर्थः । “से तं परिकम्मे”त्ति निगमनम् ॥

१०८. से किं तं सुत्ताइं ? सुत्ताइं वावीसं पण्णत्ताइं, तं जहा-उज्जुसुतं १ परिणयापरि-
णयं २ बहुभंगियं ३ विजयचरियं ४ अणंतरं ५ परंपरं ६ मासाणं ७ संजूहं ८ संभिण्णं ९
आयचायं १० सोवत्थिपण्णं ११ णंदावत्तं १२ बहुलं १३ पुट्ठापुट्ठं १४ वेयावच्चं १५ एवंभूयं १६
भूयावत्तं १७ वत्तमाणुप्पयं १८ समभिरूढं १९ सव्वओभइं २० पण्णासं २१ दुप्परिग्गहं २२ ।

इच्चेयाइं वावीसं सुत्ताइं छिण्णच्छेयणइयाइं ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं १, इच्चेयाइं
वावीसं सुत्ताइं अच्छिण्णच्छेयणइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं २, इच्चेयाइं वावीसं
सुत्ताइं तिगणइयाइं तेरासियसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं ३, इच्चेयाइं वावीसं सुत्ताइं चउक्कणइयाइं
ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं ४, एवामेव सपुच्चावरेणं अट्ठासीति सुत्ताइं भवंतीति मक्खायं ।
से तं सुत्ताइं २ ।

१०८ से किं तं सुत्ताइं ? सुत्ताइं उज्जुसुयादियाइं वावीसं भवंति । इह सर्वद्रव्य-पर्याय-नयाद्यर्थ-
सूचनात् सूत्राणि । अमून्यपि च सूत्रार्थतो व्यवच्छिन्नान्येव, यथागतसम्प्रदायतो वा वाच्यानि । एतानि चेव वावीसं
सुत्ताइं विभागतो अट्ठासीति हवंति, कथम् ? उच्यते, “इच्चेयाइं वावीसं सुत्ताइं छिण्णच्छेदणइयाइं, ससमयसुत्तपरि-
वाडीए” त्ति सुत्तं, एत्थं जो णओ सुत्तं छिण्णं छेदणं इच्छइं सो छिण्णच्छेदणओ, जहा—“धम्मो भंगल्लमुक्कट्टं”
[दशवै. अ. १ गा. १] ति सिलोओ सुत्तथओ पत्तेयं छेदनयट्ठिओ ण वितियादिमित्थोए अवेक्खइ, प्रत्येकं कल्पित-
पर्यन्त इत्यर्थः । एयाणि एवं वावीसं ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताणि ठियाणि । तथा—“इच्चेयाइं वावीसं सुत्ताइं
अच्छिण्णच्छेदणइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए” त्ति सुत्तमेव, इह जो णओ सुत्तं अच्छिण्णं छेदणं इच्छइं सो अछि-
ण्णच्छेदणओ, जहा—“धम्मो भंगल्लमुक्कट्टं” [दशवै. अ. १ गा. १] ति मित्थोओ, एत चेव अन्थओ वितियादि-
सिलोओमवेववमाणो त्ति वितियादिया य पदं ति, अन्याऽन्यमापेत्ता इत्यर्थः । एयाणि वावीसं आजीवियगोमाल-
पवत्तियपानंउपरिवाडीए अववररणविभागट्ठियाणि वि अत्थतो अट्ठासंवेववमाणानि हवंति । “इच्चेयाइं” इत्यादि
सुत्तं, नत्थ “तिकणइयाइं” ति नयत्रिकाभिप्रायतथिन्त्यन्त इत्यर्थः, त्रैलोक्याध्वार्जाविका एतान्यन्ते । तथा
“इच्चेयाइं” इत्यादि सूत्रम्, एत्थ “चउक्कणइयाइं” ति नयचतुष्काभिप्रायतथिन्त्यन्त इति भावना । “एवमेवं” इत्यादि
सूत्रम्, एवं चउरो वावीसाओ अट्ठासीति सुत्ताइं भवंति । “से तं सुत्ताइं” ति निगमदशवकम् ॥

१०९. से किं तं पुव्वगते ? पुव्वगते चोद्दसविहे पणत्ते, तं जहा—उप्पादपुव्वं १ अग्गेणीयं २ वीरियं ३ अत्थिणत्थिप्पवातं ४ नाणप्पवातं ५ सच्चप्पवादं ६ आयप्पवादं ७ कम्मप्पवादं ८ पच्चक्खाणं ९ विज्जणुप्पवादं १० अवंझं ११ पाणाउं १२ किरियाविसालं १३ लोगविंदुसारं १४ । उप्पायस्स णं पुव्वस्स दस वत्थू चत्तारि चुल्लयवत्थू पणत्ता १ । अग्गेणीयस्स णं पुव्वस्स चोद्दस वत्थू दुवालस चुल्लवत्थू पणत्ता २ । वीरियस्स णं पुव्वस्स अद्द वत्थू अद्द चुल्लवत्थू पणत्ता ३ । अत्थिणत्थिप्पवायस्स णं पुव्वस्स अद्दारस वत्थू दस चुल्लवत्थू पणत्ता ४ । नाणप्पवादस्स णं पुव्वस्स बारस वत्थू पणत्ता ५ । सच्चप्पवायस्स णं पुव्वस्स दोण्णि वत्थू पणत्ता ६ । आयप्पवायस्स णं पुव्वस्स सोलस वत्थू पणत्ता ७ । कम्मप्पवायस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पणत्ता ८ । पच्चक्खाणस्स णं पुव्वस्स वीसं वत्थू पणत्ता ९ । विज्जणुप्पवादस्स णं पुव्वस्स पणरस वत्थू पणत्ता १० । अवंझस्स णं पुव्वस्स बारस वत्थू पणत्ता ११ । पाणाउस्स णं पुव्वस्स तेरस वत्थू पणत्ता १२ । किरियाविसालस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पणत्ता १३ । लोगविंदुसारस्स णं पुव्वस्स पणु- वीसं वत्थू पणत्ता १४ ।

दस १ चोद्दस २ अद्द ३ अद्दारसेव ४ बारस ५ दुवे ६ य वत्थूणि ।
 सोलस ७ तीसा ८ वीसा ९ पणरस १० अणुप्पवायम्मि ॥ ७९ ॥
 बारस एकारसमे ११ बारसमे तेरसेव वत्थूणि १२ ।
 तीसा पुण तेरसमे १३ चोद्दसमे पण्णवीसा उ १४ ॥ ८० ॥
 चत्तारि १ दुवालस २ अद्द ३ चैव दस ४ चैव चुल्लवत्थूणि ।
 आइल्लण चउण्हं, सेसाणं चुल्लया णत्थि ॥ ८१ ॥

२० से तं पुव्वगते ३ ॥

१०९. से किं तं पुव्वगते इत्यादि । कम्हा पुव्वगतं?, उच्यते, जम्हा तित्थगरो तित्थपवत्तणकाले गणधराणं सब्बमुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगयमुत्तत्थं भासइ तम्हा पुव्व त्ति भणिया, गणधरा पुण सुत्तरयणं करेन्ता आयारादिकमेण रएंति ठवेति य । अन्नायरियमतेणं पुण पुव्वगयमुत्तत्थो पुव्वं अरहया भासिओ, गणधरेहि वि पुव्वगयमुयं चैव पुव्वं रइयं, पच्छा आयारादि । चोदक आह—णणु पुव्वावरिविरुद्धं, कम्हा ? जम्हा आयारणि-
 २५ व्जुत्ताण भणियं—“सव्वेसि आयारो” [मा. ८] गाहा, सत्यमुक्तम्, किन्तु सा ठवणा, इमं पुण अक्खररयणं पडुच्च भणियं, पूर्वं पूर्वाणि कृतानीत्यर्थः । ताणि य उप्पायपुव्वादीणि चोद्दस पुव्वाणि पन्नत्ताणि । पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सब्बदव्वाणं पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पन्नवणा कया, तस्स य पयपरिमाणं एगा पयकोडी १ । वितियं अग्गेणीयं, तत्थ वि मव्वदव्वाण पज्जवाण य सब्बजीवाजीवविसेसाण य अग्गं—परिमाणं चन्निज्जति त्ति अग्गेणीयं,

तस्स पयपरिमाणं छन्नउत्तिं पयसयसहस्साणि २ । ततियं वीरियपवायं, तत्थ वि अजीवाणं जीवाणं सकम्मेतरं वीरियं पवयइ त्ति वीरियप्पवायं, तस्स विसत्तरी य पयसयसहस्साणि ३ । चउत्थं अत्थिणत्थिपवायं, जं लोए जहा वा अत्थि जहा वा णत्थि अथवा सियवादाभिप्पाततो तदेवास्ति नास्तीत्येवं प्रवदति इति अत्थिणत्थिपवायं भणियं, तं पि पदपरिमाणतो सट्ठिं पदसयसहस्साणि ४ । पंचमं णाणपवादं ति, तम्मि मतिणाणादिपंचकस्स गाहयपरुवणा जम्हा कया तम्हा णाणप्पवायं, तम्मि पदपरिमाणं एगा पदकोडी एगपदूणा ५ । छट्ठं सच्चप्पवायं, सच्चं—संजमो सच्चवयणं वा, तं सच्चं जत्थ सभेयं सपडिक्खं च वन्निज्जइ तं सच्चप्पवायं, तस्स पदपरिमाणं एगा पयकोडी छप्पयाहिया ६ । सत्तमं आयप्पवायं आय त्ति—आत्मा, सोऽणोगहा जत्थ णयदरिसणेहिं वन्निज्जइ तं आयप्पवायं, तस्स वि पदपरिमाणं छव्वीसं पदकोडीओ ७ । अट्ठमं कम्मप्पवायं, णाणावरणादियं अट्ठविहं कम्मं पयति-ठिति-अणुभाग-पदेसादिएहिं भेदेहिं अन्नेहि य उत्तरुत्तरभेदेहिं जत्थ वन्निज्जइ तं कम्मप्पवायं, तस्स वि पयपरिमाणं एगा पयकोडी असीतिं च पयसस्सा भवंति ८ । णवमं पच्चक्खाणं, तम्मि सव्वपच्चक्खाणसरूवं वन्निज्जति त्ति अतो पच्चक्खाणप्पवायं, तस्स य पदपरिमाणं चउरासीतिं पयसयसहस्सा भवंति ९ । दसमं विज्जगुप्पवायं, तत्थ अणेगे विज्जातिसया वणिया, तस्स य पदपरिमाणं एगा पयकोडी दस पयसयसहस्सा १० । एकारसमं अवंझं, ति, वंझं णाम-णिप्फलं, ण वंझमवंझं, सफलमित्यर्थः, सव्वे णाण-तव-संजमजोगा सफला वन्निज्जति अप्पसत्था य पमादादिया सव्वे अमुहफला वन्निया अतो अवंझं, तस्स वि पयपरिमाणं छव्वीसं पदकोडीओ ११ । वारसमं पाणाडं, तत्थ वि आउं—प्राणविधानं सव्वं सभेयं अन्ने य पाणा वन्निता, तस्स पयपरिमाणं एगा पयकोडी छप्पन्नं च पदसयसहस्साणि १२ । तेरसमं किरियाविसालं, तत्थ काय-किरियादियादओ विसाल त्ति—सभेया संजमकिरियाओ छंदकिरियाविहाणा य, तस्स य पयपरिमाणं णव कोडीओ १३ । चोदसमं लोगविन्दुसारं, तं च इमम्मि लोए सुअळोए वा विंदुमिअ अक्खरस्स सव्वुत्तमं सव्वक्खरस-न्निवायपरि (? दित)त्तणओ लोगविन्दुसारं भणियं, तस्स य पयपरिमाणं अट्ठत्तेरस पयकोडीओ १४ । से त्तं पुव्वगते ॥

११०. से किं तं अणुओगे ? अणुओगे दुविहे पणत्ते, तं जहा—मूलपदमाणुओगे य गंडियाणुओगे य ।

११०. से किं तमित्यादि । अनुरूपः अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः, सूत्रस्य निजेनाभिप्रेयेन सार्द्धमनुरूपः सम्बन्ध इत्यर्थः । स च द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—मूलप्रथमानुयोगश्च गण्डिकानुयोगश्च ॥

१११. से किं तं मूलपदमाणुओगे ? मूलपदमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्व-भवा देवलोगगमणाइं आउं चवणाइं जम्मणाणि य अभिसेया रायवरसिरीओ पव्वज्जाओ, तवा य उग्गा, केवलनाणुप्पयाओ तित्थपवत्तणाणि य सीसा गणा गणधरा य अज्जा य पवत्तिणीओ य, संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं. जिण-मणपज्जव-ओहिणाणि-ममत्तगुय-णाणिणो य वादी य अणुत्तरगती य उत्तरवेउव्विणो य मुणिणो जत्तिया, जत्तिया मिद्धा, सिद्धिपहो जह य देसिओ, जच्चिरं च कालं पादोव्वगओ. जो जट्ठि जत्तियाइं भत्ताइं छेयइत्ता अंतगडो मुणिवरुत्तमो तमरओघविप्पमुक्को मुक्खमुहमणुत्तरं च पत्तो. एते अन्ने य एवमादी भावा मूलपदमाणुओगे कहिया । से त्तं मूलपदमाणुओगे ।

१११. से किं तमित्यादि । इहैकवक्तव्यताप्रणयनान्मूलं तावत् तीर्थकराः, तेषां प्रथमः—सम्पत्तावाप्ति-
लक्षणपूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । तथा चाह—“मूलपदमाणुयोगे ण” मित्यादि सूत्रसिद्धं यावत्
“से तं मूलपदमाणुयोगे” ।

११२. से किं तं गंडियाणुओगे? गंडियाणुओगे णं कुलगरगंडियाओ तित्थगरगंडियाओ
5 चक्कवट्टिगंडियाओ दसारगंडियाओ वलदेवगंडियाओ वासुदेवगंडियाओ गणधरगंडियाओ
भदवाहुगंडियाओ तवोकम्मगंडियाओ हरिवंसगंडियाओ ओसप्पिणिगंडियाओ उस्सप्पिणि-
गंडियाओ चित्तंतरगंडियाओ अमर-णर-तिरिय-निरयगइगमणविविहपरियट्टणेसु एवमाइयाओ
गंडियाओ आघविज्जंति । से तं गंडियाणुओगे । से तं अणुओगे ४ ।

११२. से किं तमित्यादि । इहैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता गण्डिका उच्यन्ते, तासामनुयोगः—अर्थकथन-
10 विधिः गण्डिकानुयोगः । तथा चाह—“गंडियाणुयोगे ण” मित्यादि । तत्थ कुलगरगंडियासु कुलगराणं विमलवाहणा-
दीणं पुव्वजम्म-णामादि कहिज्जइ । एवं सेसासु वि अभिधानवसतो भावेयव्वं, जाव “चित्तंतरगंडियाओ” चित्राः—
अनेकार्था अन्तरे—ऋषभा-ऽजिततीर्थकरान्तरे गण्डिकाः—एकवक्तव्यताधिकारानुगताः, ततश्च ता अन्तरगण्डिकाश्च
चित्रान्तरगण्डिकाः । एतदुक्तं भवति—ऋषभा-ऽजिततीर्थकरान्तरे तद्वंशजभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगति-
गमना-ऽनुत्तरोपपातप्राप्तिप्रतिपादिकाश्चित्रान्तरगण्डिका इति । एयासिं परवणे पुव्वायरिएहिं इमो विही दिट्ठो—
15 आदिच्चजसाईणं उसभस्स पउप्पए णरवतीणं । सगरसुताण सुवुद्धी इणमो संखं परिकहेइ ॥१॥

चोदस लक्खा सिद्धा णिवतीणिको य होति सव्वट्ठे । एकेकट्टाणे पुण पुरिसजुगा होंतऽसंखेज्जा ॥२॥
पुणरवि चोदस लक्खा सिद्धा णिवतीण दोन्नि सव्वट्ठे । गुण्ठाणे वि असंखा पुरिसजुगा होंति णायव्वा ॥३॥
जाव य लक्खा चोदस सिद्धा पन्नास होंति सव्वट्ठे । पन्नासट्टाणे वि तु पुरिसजुगा होंतऽसंखेज्जा ॥४॥
एगुत्तरा उ ठाणा सव्वट्ठे णेय जाव पन्नासा । एवेकेकगठाणे पुरिसजुगा होंतऽसंखेज्जा ॥५॥१॥

20 विवरीयं सव्वट्ठे चोदस लक्खा उ णिव्वुतो एगो । स च्चैव य परिवाडी पन्नासं जाव सिद्धीए ॥६॥२॥
तेण पर दुलक्खादी दो दो ठाणा य समग वच्चंति । सिवगति-सव्वट्ठेहिं इणमो तेसिं विही होइ ॥७॥
दो लक्खा सिद्धीए दो लक्खा नरवतीण सव्वट्ठे । एवं तिलक्ख चउ पंच जाव लक्खा असंखेज्जा ॥८॥३॥
सिवगति-सव्वट्ठेहिं चित्तंतरगंडिया ततो चउरो । एगा एगुत्तरिया १ एगादिविउत्तरा त्रितिया २॥९॥
ततिएगादित्तिउत्तर ३ तिगमादिविउत्तरा चउत्थेयं ४ । पढमाए सिद्धिको दोन्नि य सव्वट्ठसिद्धम्मि ॥१०॥

25 ततो तिन्नि नरिंदा सिद्धा चत्तारि होंति सव्वट्ठे । इय जाव असंखेज्जा सिवगति-सव्वट्ठसिद्धेहिं १॥११॥
ताहे विउत्तराए सिद्धिको तिन्नि होंति सव्वट्ठे । एवं पंच य सत्त य जाव असंखेज्ज दो वि च्चि २॥१२॥
एग चउ सत्त दसगं जाव असंखेज्ज होंति दो वि च्चि । सिवगति-सव्वट्ठेहिं तिउत्तराए गुणेयव्वा ३॥१३॥
ताहे—तियगाइविउत्तराए अउणचीसं तु तितग ठावेतुं । पढमे णत्थि उ खेवो सेसेसु इमो भवे खेवो ॥१४॥
दुग पण णवगं तेरस सत्तरस दुवीस छ च अट्टेव । वारस चोदस तह अट्टवीस छव्वीस पणुवीसा ॥१५॥

एकारस तेवीसा सियाल सतरि सतहत्तरी तह य । इग दुग सत्तासीई एगत्तरिमेव वावट्टी ॥१६॥
 अउणत्तरि चउवीसा छायालसयं तहेव छव्वीसा । एए रासीखेत्रा तिगअंतंता जहाकमसो ॥१७॥
 सिवगति-सव्वट्टेहिं दो दो ठाण विसमुत्तरा जेया । जावुणतीसट्टाणे उणतीसं पुण छवीसाए ॥१८॥
 विसमुत्तरा य पढमा एवमसंख विसमुत्तरा जेया । सव्वत्थ वि अंतिल्लं अन्नाए आदिमं ठाणं ॥१९॥
 अउणत्तीसं वारे ठावेउं णत्थि पढमए खेवो । सेसेसउडवीसाए सव्वत्थ दुगादिओ खेवो ॥२०॥
 सिवगति पढमादीए वितियाए तह य होति सव्वट्टे । इय एगंतरियाइं सिवगइ-सव्वट्टठाणाइं ॥२१॥
 एवमसंखेज्जाओ चिंतंतरगंडियाओ जेयन्वा । जाव जियसत्तुराया अजियजिणपिया समुप्पन्नो ४॥२२॥४।
 एवं गाहाहिं चिंतंतरगंडियाओ समत्ताओ । इमा य एयासिं ठव्वणा—

एत्तिया लक्खा सिद्धिं गया	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४
एत्तिया लक्खा सव्वट्टं पि गया	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०

एवं जाव असंखा पुरिसजुगा सिद्धा । एसा पढमा १ । अओ परं—

सिद्धा एत्तिया लक्खा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०
सव्वट्टम्मि गया एत्तिया लक्खा	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४

एवं पि असंखेज्जा पुरिसजुगा सिद्धा । एसा वीया २ । अओ परं—

सिद्धा एत्तिया लक्खा	२	३	४	५	६	७	८
सव्वट्टे वि गया एत्तिया लक्खा	२	३	४	५	६	७	८

एवं जाव असंखेज्जा आवल्लिया दुगाइएगुत्तरा दो वि गच्छंति । आवल्लिया दूगमणओ पंचामण्णे ठाणे चिट्ठंति । तइया गंडिया ३ । अतः परं चतस्रो गण्डिका एकोत्तरियादिकाः प्रदर्श्यन्ते—

शिवगतौ	१	३	५	७	९	एवं जाव अमंखेज्जा
सर्वार्थे च	२	४	६	८	१०	एवं जाव अमंखेज्जा

चिंतंतरगंडिया एगाइएगुत्तरिया पढमा जेया १ ।

सिद्धा एत्तिया	१	५	९	एवं जाव असंखेज्जा
सव्वट्टे एत्तिया खेव	३	७	११	एवं जाव असंखेज्जा

एगादिविउत्तरा वितिया चिंतंतरगंडिया २ ।

सिद्धा एत्तिया	१	७	१३	एवं जाव असंखेज्जा
सन्वट्टे एत्तिया चेव	४	१०	१६	एवं जाव असंखेज्जा

चित्तंतरगंडिया एगादितिउत्तरा ततिया ३ ।

ततश्चतुर्थी व्यादिका व्यादिविपमोत्तरमक्षेपा एकोनत्रिंशत् त्रिकान् संस्थाप्य निदृश्यते—

शिवगतौ सिद्धा एत्तिया	३	८	१६	२५	११	१७	२९	१४	५०	८०	५	७४	७२	४९	२९
सन्वट्टे एत्तिया	५	१२	२०	९	१५	३१	२८	२६	७३	४	९०	६५	२७	१०३	०

पुणो वि—

सन्वट्टे	२९	३४	४२	५१	३७	४३	५५	४०	७६	१०६	३१	१००	९८	७५	५५
सिद्धौ	३१	३८	४६	३५	४१	५७	५४	५२	९९	३०	११६	९१	५३	१२९	०

- 10 एवं पुनः पञ्चपञ्चाशदादौ कृत्वा एकोनत्रिंशत् स्थानानि संस्थाप्य व्यादिप्रक्षेपकेण यावत् पश्चिमस्थाने एकाशीतिर्भवति । अनेन [क्रमेण] उत्तरा असङ्ख्येयाश्चित्रान्तरगण्डिका-नेयाः ४ । सेसं गाहाणुसारेणं नेयव्वं जाव असंखेज्जा ॥

शेषं निगदसिद्धं यावत् “से त्तं अणुओगे” ॥

- 15 ११३. से किं तं चूलियाओ ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया, अव-सेसा पुव्वा अचूलिया । से त्तं चूलियाओ ५ ।

११४. दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ । से णं अंगट्टयाए दुवालसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, चोदस पुव्वा, संखेज्जा वत्थू, संखेज्जा चुलवत्थू, संखेज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडि-याओ, संखेज्जाओ पाहुडपाहुडियाओ, संखेज्जाइं पदसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तस्सा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उव-दंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्ज-ति । से त्तं दिट्ठिवाए १२ ।

११३-१४. से किं तमित्यादि । चूडा इव चूडा, इह दृष्टिवादे परिकर्म-सूत्र-पूर्वानुयोगोक्ता-ऽनुक्तार्थ-सङ्ग्रहपरा-ग्रन्थपद्धतयश्चूडा इति । एताश्चाद्यानां चतुर्णामेव पूर्वाणां भवन्ति, न शेषाणामिति । अत एवाह-
“आदिष्टाण”मित्यादि । सङ्ख्या तासां प्रतिपूर्वमियं यथासङ्ख्यम्—

चउ वारसऽट दस या ह्वन्ति चूडा चउण्ह पुन्वाणं । एए य चूलवत्थु सन्वुवरिं किल पढिज्जन्ति ॥१॥

शेषमा निगमनं सूत्रसिद्धमेव । नवरम्—“संखेज्जा वत्थु” त्ति पणुवीसुत्तराणि दो सयाणि । “संखेज्जा 5
चूलवत्थु” त्ति चउतीसं ॥ साम्प्रतमोघतो द्वादशाङ्गविषयमेव दर्शयन्नाह—

११५. इच्चेइयम्मि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा अणंता अभावा अणंता हेऊ
अणंता अहेऊ अणंता कारणा अणंता अकारणा अणंता जीवा अणंता अजीवा अणंता
भवसिद्धिया अणंता अभवसिद्धिया अणंता सिद्धा अणंता असिद्धा पण्णत्ता । संगहणिगाहा-
भावमभावा हेउमहेऊ कारणमकारणा चेव ।

जीवाऽजीवा भवियमभविया सिद्धा असिद्धा य ॥ ८२ ॥

११५. इच्चेयम्मि इत्यादि । इत्येतस्मिन् द्वादशाङ्गे गणिपिटक इति पूर्ववत्, अनन्ता भावाः प्रज्ञप्ता इति योगः,
तत्र भवन्तीति भावाः—जीवादयः पदार्थाः, एते च जीव-पुद्गलानन्तत्वाद् अनन्ता इति । तथा अनन्ता अभावाः, सर्व-
भावानामेव पररूपेणासत्त्वात् त एवानन्ता अभावा इति, स्व-परसत्ताभावा-ऽभावोभयाधीनत्वाद् वस्तुतत्त्वस्य । तथाहि-
जीवो जीवात्मना भावोऽजीवात्मना चाभावः, अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गान्, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्र- 15
त्वादारम्भस्य । अन्ये तु ‘धर्मापेक्षया अनन्ता भावाः अनन्ता अभावाः प्रतिवस्त्वस्तित्व-नास्तित्वाभ्यां प्रतिवद्वाः’
इति व्याक्षते । तथाऽनन्ता हेतवः, तत्र हिनोति-गमयति जिज्ञासिनधर्मविशिष्टानर्यानिनि हेतुः, ते चानन्ताः,
वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वात्, तत्प्रतिवद्गर्भविशिष्टवस्तुगमकत्वाच्च हेतोः, सूत्रस्य चानन्तगम-पर्यायात्मकत्वादिति ।
यथोक्तहेतुप्रतिपक्षतोऽनन्ता अहेतवः । तथाऽनन्तानि कारणानि-वृत्तिवृत्त-तन्त्रादीनि यद्-पटादिनिर्वर्तकानि ।
तथाऽनन्तान्यकारणानि, सर्वकारणानामेव कार्यान्तराकारणत्वात्, न हि वृत्तिवृत्तः पटं निर्धेयतीति । एवं भावा- 20
ऽभावाः हेत्वहेतवः कारणा-ऽकारणानि, जीवाः-प्राणिनः, तथा अजीवाः-द्रव्यशुद्धादयः, तथा भव्याः-अनादिपा-
रिणामिकभव्यभावयुक्ताः, एतेऽनन्ताः प्रज्ञप्ताः । तथा अभव्याः-अनादिपारिणाभिराभव्यभावयुक्ताः एतेऽनन्ताः
प्रज्ञप्ता इति योगः । तथा सिद्धा अनन्ताः, तथा अनन्ता अभिद्धाः प्रज्ञप्ता इति । इह भव्या-ऽभव्यानामानन्त्ये-
भिहिते अनन्ता असिद्धा इति यत् पुनरभिधानं तत् सिद्धेभ्योऽनन्तगुणव्यवहारानार्थमिति ॥

साम्प्रतं द्वादशाङ्गविराधना-ऽऽराधननिष्पन्नं त्रैकालिकं फलसुपदर्शयन्नाह—

२३

११६. इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहेता
चाउरंतं संसारकंतरं अणुपरियट्टिंशु । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले पग्गिा
जीवा आणाए विराहेता चाउरंतं संसारकंतरं अणुपरियट्टिंशु । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं
अणागते काले अणंता जीवा आणाए विराहेता चाउरंतं संसारकंतरं अणुपरियट्टिंशु ।

११६. इच्छेयमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं अतीतकाले अनन्ता जीवा आज्ञया विराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं “अणुपरियट्टिसु” चि अनुपरावृत्तवन्त आसन् । इदं हि द्वादशाङ्गं स्वार्थोभयभेदेन त्रिविधम्, ततश्च ‘आज्ञया’ सूत्राज्ञयाऽभिनिवेशतोऽन्यथापाठादिलक्षणया विराध्य अतीतकाले अनन्ता जीवाः ‘चतुरन्तं संसारकान्तारं’ नारक-तिर्यङ्-नरा-ऽमरविविधवृक्षजालदुस्तरं भवाटवीगहनमित्यर्थः, अनुपरावृत्ता आसन् जमालिवत् ;
- 5 अर्थाज्ञया पुनरभिनिवेशतोऽन्यथाप्ररूपणादिलक्षणया गोश्रमाहिलिवत्, उभयाज्ञया पुनः पञ्चविधानारपरिज्ञानकरणोद्य-
तगुर्वादेशादिलक्षणया गुरुप्रत्यनीकद्रव्यलिङ्गधार्यनेकश्रमणदत्, अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षयाऽऽगमोक्तानुष्ठान-
मेवाज्ञा, एतद्विराधनयैवानुपरावृत्ता आसन् । उक्तं च—“सव्याओ वि गतीओ अविरहिया णाण-दंसणधरेहि”
[] इत्यादि । “इच्छेय”मित्यादि गतार्थमेव । नवरम्—“परित्ता जीवा” इति सङ्ख्येया जीवाः,
वर्तमानविशिष्टविराधकमनुष्यजीवानां सङ्ख्येयत्वात्, “अणुपरियट्टिसु” चि अनुपरावृत्तवन्ते, भ्रमन्तीत्यर्थः । “इच्छेत”-
10 मित्यादि, इदमपि भावितार्थमेव । नवरम्—“अणुपरियट्टिससंति” चि अनुपरावृत्तिप्यन्ते, पर्यट्टिप्यन्ति इत्यर्थः ॥

११७. इच्छेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अतीतकाले अणन्ता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरन्तं संसारकन्तारं वितिवइंसु । इच्छेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरन्तं संसारकन्तारं वितिवयन्ति । इच्छेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणन्ता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरन्तं संसारकन्तारं वितिवतिस्सन्ति ।

- 15 ११७. “इच्छेत”मित्यादि, इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं अतीतकालेऽनन्ता जीवा आज्ञया आराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं “वितिवइंसु” चि व्यतिक्रान्तवन्तः, चतुर्गतिकसंसारोलङ्घनेन मुक्तिमवाप्ता इत्यर्थः । “इच्छेय”मित्यादि गतार्थम् । नवरम्—“विइवयन्ति” चि व्युत्क्रामन्ति । “इच्छेद”मित्यादि गतार्थमेव । नवरम्—“वितिवयिस्सन्ति” चि व्युत्क्रामिप्यन्ते, एतत्प्रभावात् सेत्स्यन्तीत्यर्थः ॥

यदिदमनिष्टेतरभेदभिन्नं फलं प्रतिपादितम् एतत् सदाऽवस्थायित्वे सति द्वादशाङ्गस्योपजायत इत्यत्र आह—

- 20 ११८. इच्छेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं ण कयाइ णाऽऽसी ण कयाइ ण भवति ण कयाइ ण भविस्सति, भुवि च भवति य भविस्सति य, धुवे णिअए सासते अक्खए अब्वए अव-
ड्डिए णिच्चे । से जहाणामए पंचत्थिकाए ण कयाति णाऽऽसी ण कयाति णत्थि ण कयाइ
ण भविस्सति, भुवि च भवति य भविस्सति य, धुवा णीया सासता अक्खया अब्वया
अवड्डिया णिच्चा, एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे ण कयाइ णाऽऽसी ण कयाइ णत्थि ण
25 कयाइ ण भविस्सति, भुवि च भवति य भविस्सति य, धुवे णिअए सासते अक्खए अब्वए
अवड्डिए णिच्चे ।

११८. इच्छेयमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं न कदाचिन्नासीद् अनादित्वात्, न कदाचिन्न भवति सदैव भावात्, न कदाचिन्न भविष्यति अपर्यवसितत्वात् । किं तर्हि ? “भुवि च” इत्यादि, अभूद् भवति भविष्यति च । ततश्चेदं त्रिकालभावित्वाच्चलत्वाद् ध्रुवम्, मेवादिवत् । ध्रुवत्वादेव नियतम्, पञ्चास्तिकायेषु

लोकवचनवत् । नियतत्वादेव शाश्वतम्, समयाऽऽवलिकादिषु कालवद् । शाश्वतत्वादेव वाचनादिप्रदानेऽप्यक्षयम्, गङ्गा-सिन्धुप्रवाहेऽपि पौण्डरीकहृदवत् । अक्षयत्वादेवाव्ययम्, मानुषोत्तराद् बहिः समुद्रवत् । अव्ययत्वादेव स्वप्रमाणेऽवस्थितम्, जम्बूद्वीपादिवत् । अवस्थितत्वादेव नित्यम्, आकाशवत् । साम्प्रतं दृष्टान्तमाह—“से जहाणामए”त्यादि, तद् यथानाम ‘पञ्चास्तिकायाः’ धर्मास्तिकायादयः न कदाचिन्नासन् न कदाचिन्न सन्ति न कदाचिन्न भविष्यन्ति, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च । “ध्रुवे” इत्यादि पूर्ववत् । “एवामेवे”त्यादि निगमनं निगदसिद्धमेव ॥

5

११९. से समासतो चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । तत्थ दव्वओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ । खेत्तओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ । कालओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ । भावओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ ।

११९. “से समासओ” इत्यादि । ‘तद्’ द्वादशाङ्गं समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तमित्यादि प्रायो गतार्थमेव । 10 नवरम्-द्रव्यतः श्रुतज्ञानी उपयुक्तः सन् सर्वद्रव्याणि जानाति पश्यतीति, अत्राभिन्नदशपूर्वधरादिः श्रुतकेवली परिगृह्यते, तदारतो भजना, सा पुनर्मतिविशेषतो ज्ञातव्येति । अत्राह-ननु पश्यतीति कथम् ? कथञ्चन सकललोचर-दर्शनायोगात्, अत्रोच्यते, प्रज्ञापनायां श्रुतज्ञानपश्यत्तायाः प्रतिपादितत्वात्, अनुत्तरविमानादीनां चाऽऽलेख्यकरणात्, सर्वथा चादृष्टस्याऽऽलेख्यकरणानुपपत्तेः । एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयमिति । अन्ये तु “न पश्यति” इत्यभिदधति ॥

साम्प्रतं सङ्ग्रहगाथा आह—

15

१२०. अक्खर १ सण्णी २ सम्मं ३ सादीयं ४ खलु सपज्जवसियं ५ च ।

गमियं ६ अंगपविट्ठं ७ सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥ ८३ ॥

आगमसत्थग्गहणं जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं ।

वित्ति सुयणाणलंभं तं पुव्वविसारया धीरा ॥ ८४ ॥

सुस्सूसइ १ पडिपुच्छइ २ सुणेइ ३ गिण्हइ ४ य ईहाए ५ यावि ।

20

तत्तो अपोहाए ६ वा धारेइ ७ करेइ वा सम्मं ८ ॥ ८५ ॥

मूयं १ हुंकारं २ वा वादक्कार ३ पडिपुच्छ ४ वीमंसा ५ ।

तत्तो पसंगपारायणं ६ च परिणिट्ठ ७ सत्तमए ॥ ८६ ॥

सुत्तथो खलु पढमो, वीओ णिज्जुत्तिमीत्तिओ भणिओ ।

तइओ य णिरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥ ८७ ॥

25

से तं अंगपविट्ठं । से तं सुयणाणं । से तं परोक्खणाणं ।

॥ से तं णंदी सम्मत्ता ॥

१२०. अक्षर सञ्जीत्यादि । इयं गतार्थेन । नवरम्-नान्नाप्येने पथाः गमनिपथाः । ते चैवम्-प्रथम-श्रुतमनक्षरश्रुतमित्यादि ॥८३॥ इदं पुनः श्रुतज्ञानं सर्वातिशयरत्नसमुद्रकल्पम्, तथा पागो गुर्यायनान् पराधीनम्, अतो विनेयानुग्रहार्थं यो यथा चास्य लाभस्तथा दर्शयन्नाह—

आगम० गाहा । व्याख्या—आगमनमागमः, आङो अभिविधि-मर्यादार्थत्वाद् अभिविधिना मर्यादया वा
5 गमः-परिच्छेद आगमः । स च केवलमत्यत्रधिलक्षणोऽपि भवति अनस्तद्व्यवच्छिन्नार्थमाह—शास्यतेऽनेनेति शास्त्रं-श्रुतम् । आगमग्रहणं तु पठितन्त्रादिकुशास्त्रव्यवच्छेदार्थम्, तेषामनागमत्वात् सम्यक्परिच्छेदात्मकत्वाभावादित्यर्थः, शास्त्रतया च रूढत्वात्, तत आगमशासो शास्त्रं च आगमशास्त्रं तस्य ग्रहणमिति समासः । गृहीतिर्ग्रहणम् । यद्
शुद्धेर्गुणैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः करणभूतैरप्रभिर्ये तद् व्रुवते श्रुतज्ञानस्य लाभः श्रुतज्ञानलाभस्तं तदेव ग्रहणं व्रुवते । के ?
पूर्वेषु विशारदाः-विपश्चितः 'धीराः' व्रतानुपालने स्थिरा इत्यर्थः । अयं गाथार्थः ॥८४॥

10 बुद्धिगुणैरप्रभिरित्युक्तं ते चामी—

सुस्तुसति० गाहा । व्याख्या—विनययुक्तो गुरुमुवात् श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते । पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति, तत् श्रुतमशङ्कितं करोतीति भावार्थः । पुनः कथितं सच्छृणोति । श्रुत्वा गृह्णाति । गृहीत्वा च 'ईहते' पर्यालोचयति 'किमिदमित्थम् ? उतान्यथा ?' इति । 'चशब्दः' समुच्चयार्थः । अपिशब्दान् पर्यालोचयन् किञ्चित् स्वनुद्धयाऽप्युत्प्रेक्षते । ततस्तदनन्तरं 'अपोहते च' एवमेतद् यदादिप्रमाचार्येणेति । पुनस्तमर्थमागृहीतं धारयति । करोति च सम्यक्
15 तदुक्तमनुष्ठानमिति, तदुक्तानुष्ठानमपि च श्रुतप्राप्तिहेतुर्भवति, तदावरणक्षयोपशमादिनिमित्तत्वात् तस्येति ।

अथवा यद् यदाज्ञापयति गुरुस्तत् सम्यगनुग्रहं मन्यमानः श्रोतुमिच्छतीति । पूर्वसन्दिष्टश्च सर्वकार्याणि कुर्वन् पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति । पुनरादिष्टः सन् सम्यक् शृणोति । शेषं पूर्ववत् ॥८५॥

बुद्धिगुणा व्याख्यातास्तत्र शुश्रूषतीत्युक्तम् । इदानीं श्रवणविधिप्रतिपादनायाह—

मूअं० गाहा । व्याख्या—'मूकमिति' मूकं शृणुयात् । एतदुक्तं भवति-प्रथमश्रवणे संयतगात्रसूक्ष्मी
20 खल्यासीत् १ । तथा द्वितीये 'हुङ्कारं च' ईपद्वन्द्वेन कुर्यादित्यर्थः २ । तृतीये 'वाढकारं कुर्यात्' वाढमेवमेतन्नान्य-
येति ३ । चतुर्थश्रवणे गृहीतपूर्वा-ऽपरसूत्राभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छं कुर्यात्, कथमेतदिति ४ । पञ्चमे तु मीमांसां-
कुर्यात्, मातुमिच्छा मीमांसा, प्रमाणजिज्ञासेति यावत् ५ । ततः पठे श्रवणे तदुत्तरोत्तरगुणप्रसङ्गपारगमनं चास्य
भवति ६ । परिनिष्ठा सप्तमे श्रवणे भवति, एतदुक्तं भवति-गुरुवदनुभापत एव सप्तमे श्रवणे इति ७ ॥८६॥

एवं तावत् श्रवणविधिरुक्तः । इदानीं व्याख्यानविधिमभिधित्पुराह—

25 मुत्तत्थो० गाहा । व्याख्या—सूत्रार्थमात्रप्रतिपादनपरः सूत्रार्थः, अनुयोग इति गम्यते । 'खलु'शब्दस्तु
एवकारार्थः, स चावधारणे । एतदुक्तं भवति-गुरुणा सूत्रार्थमात्राभिधानलक्षण एव प्रथमोऽनुयोगः कार्यः, मा भूत्
माथमिकविनेयानां मतिमोहः १ । द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पशिकनिर्मुक्तिमित्थः कार्य इत्येवम्भूतो भणितो जिनैश्च-
तुर्दशपूर्वधरैश्च २ । तृतीयश्च 'निरवशेषः' प्रसक्ता-ऽनुमसक्तमप्युच्यते एवंलक्षणो निरवशेषः कार्य इति ३ । 'एवः'
उत्तलक्षणो विधानं विधिः प्रकार इत्यर्थः 'भणितः' प्रतिपादितो जिनादिभिः । क्व ? सूत्रस्य निजेनाभिधेयेन
30 सार्धमनुकूलो योगोऽनुयोगः-सूत्रान्वाख्यानमित्यर्थः, तस्मिन्नुयोग इति गाथार्थः । आह—परिनिष्ठा सप्तम-
इत्युक्तम्, त्रयशानुयोगप्रकाराः, तदेतत् कथम् ? इति, अत्रोच्यते, विनेयगणं विज्ञाय त्रयाणामन्यतमप्रकारेण सप्तवार-

करणादविरोधादित्योद्यविनेयविषयं तावत् सूत्रम्, न पुनः स एव नियमविधिः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृच्छ्रवण एवाशेषग्रहणदर्शनादलं विस्तरेण ॥८७॥

“से त्त”मित्यादि तदेतत् श्रुतज्ञानमिति निगमनम् । “से त्त”मित्यादि, तत् परोक्षमिति निगमनमेव ॥

॥ नन्द्यध्ययनविवरणं समाप्तम् ॥

यदिहोत्सन्नमज्ञानाद् व्याख्यातं तद् बहुश्रुतैः । क्षन्तव्यं कस्य सम्मोहश्छन्नस्थस्य न जायते ? ॥१॥

नन्द्यध्ययनविवरणं कृत्वा यदवाप्तमिह मया पुण्यम् । तेन खलु जीवलोको लभतां जिनशासने नन्दीम् ॥२॥

॥ कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभट्टपादसेवकस्याऽऽचार्यश्रीहरिभद्रस्येति ॥

॥ नमः श्रुतदेवतायै भगवत्यै ॥ ग्रन्थाग्रम् २३३६ ॥

॥ समाप्ता नन्दिटीका ॥





णमो ल्यु णं समणस्स भगवओ महइमहावीरवद्धमाणसामिस्स

णमो अणुओगधराणं थेराणं

मलधारिश्री-श्रीचन्द्रसूरिविनिर्मितं

याकिनीमहत्तराधर्मसूनुश्रीहरिभद्रसूरिप्रणीतायाः

नन्दिसूत्रवृत्तेः टिप्पणकम्

॥ णमो णंदीए भगवतीए ॥

←«e»→

[पृष्ठ १]

.....देरपि सम्भवात् । पं० ८. अनैकान्तिको अनैश्वयिकः । अनात्यन्तिकः व्यवच्छेदभाक् च ।

पं. ९. ऐकान्तिकः नैश्वयिकः । आत्यन्तिकोऽव्यवच्छेदपरः । पं. १२. श्रुतधर्मसम्पत्समन्विता एव प्राय इति 'मापतुपादिभिर्व्यभिचारो मा भूत्' इति प्रायोपहणम् ।

[पृष्ठ २]

पं. ३. यस्येति, इत्थ अथ यं तस्य [यस्य] इत्यनेन इकारलोपः । पं. ४. नन्दन्ति समृद्धिमवानुवन्त्यनयेति नन्दी ॥ पं. ७. नन्दीति यत् कस्यचिद् नाम क्रियते सा नामनन्दी । अज्ञादिषु स्थापिता स्थापनानन्दी ।

पं. ९. ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिरित्यादि, ज्ञातवान् ज्ञः, तस्य शरीरम्, तदेवानुभूतभावत्वात् द्रव्यनन्दिः ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः, नन्दिरिति यत् पदं तदर्थज्ञायकस्य यच्छरीरकं जीवविप्रमुक्तं तद् ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिरित्यर्थः । [भव्यशरीरद्रव्यनन्दिरित्यादि] विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यः, विवक्षितपर्यायार्हः, तथोग्य इत्यर्थः, तस्य शरीरम्, तत्रैव भावनन्दिकारणत्वात् द्रव्यनन्दिर्भव्य-शरीरद्रव्यनन्दिः, यो जन्तुर्नन्दिरिति पदमागामिकाले शिक्षिष्यते न तादात्म्येन तज्जातिरिद्धिं शरीरं भव्यशरीरद्रव्यनन्दिरित्यर्थः ।

पं. ११. भूत-भाविद्रव्यनन्देर्लक्षणाभिधानायाऽऽह-भूतस्येत्यादि । तद् द्रव्यं नन्दनं कथितम् । या कथयन्तम् । इत्याह-यत् 'कारणं' हेतुः । कस्य ? इत्याह 'भावस्य' पर्यायस्य । कथंभूतस्य ? इत्याह-'भूतस्य' उत्तमस्य 'भाविनी वा' भविष्यतः । 'लोके' आधारभूते । तच्च 'सचेतनं' पुरुषादि, 'अचेतनं च' द्रव्यादि भवति । एतदुक्तं भाविनी-यः पूर्व स्वर्गादिष्विन्द्रादित्वेन भूत्वा इदानीं मनुष्यादित्वेन परिणतः सोऽपीन्द्रस्येन्द्रियवर्षावस्य कारणत्वात् सम्भ्रमन्ति द्रव्यत इन्द्रादिरभिधीयते, अमात्यादिपदपरिभ्रष्टामात्यादिवत् । तथाऽपेऽपि च इन्द्रादिकेतोऽपत्येन च इन्द्रादीनि परिभ्रष्टाऽप्येन्द्रादिरव्य-कारणत्वाद् द्रव्यत इन्द्रादिरभिधीयते, भविष्यद्राजकुमारराजवत् । एतदचेतनत्वमपि द्रव्यादेर्भूतभावित्यर्थपर्यायत्वमात्रेण च यत् भावनापेत्यव्यार्थः ॥ पं. १५. भम्भा० गाहा लुगना । नन्दं 'भम्भा' इतिह्रस्वत्वस्येति । भूतन्द-मर्त्यो नु मुग्जविशेषौ । केवलमेकतः सर्वांगोऽन्वय तु विस्तीर्णो मुकुन्दोऽभिधीयते, सर्व्वस्तु इत्यन्तेऽपि स्मः । 'नन्द्या' धर्मत्वात् । 'तलिमा' तिडहिया । शेषं प्रतीतम् ॥

पं. १८. नोभागमतो भावनन्दिः पञ्च ज्ञानानि, वचनरूपं ज्ञानेवत्तन्मत्तं न संज्ञानानि, तेषामन्वयः इत्यन्तर्द-देगचात् । नोराग्यो देशवचनः । अपचेति अत्रान्तागमैकदेश एवार्थं तत्रान्वयत्तत्, संज्ञानानि इत्येवमपि तेषामन्वयः इत्यन्तर्द-देगचात् ।

[पृष्ठ ३]

पं. १. सच्चित्त्यादि, सच्चित्त-शीत-संवृताश्च ता इतर-पिधाश्चेति समासः । तत्रेतराः-अचित्तोष्ण-विगृताः । सच्चित्ता-ऽचित्तादिरूपतया मिश्रत्वम् । एतत्स्वरूपं चोक्तं पूर्वमुनिभिः—

मीसा य गन्भवसही, संवुडवियडा य वंसपत्ताई । सीओसिणाइभेया षणेगहा जोणिभेया उ ॥१॥

मिस्सत्तं जोणीए सुक्कमचित्तं सचेयणं रुहिरं । अहवा सुकं रुहिरं अनेयण-सचेयणा जोणी ॥२॥ []

एवं मिश्रत्वं तिर्यग्-मनुष्यस्त्रीयोनेः । तथा—

अच्चित्ता खलु जोणी नेरइयाणं तहेव देवाणं । मीसा य गन्भवसही, तिविहा जोणी उ सेसाणं ॥१॥

[जिन० संग्र० गा० ३५९, जीवस० गा० ४६]

तिर्यग्-मनुष्यगर्भजव्यतिरिक्तानां सम्मूर्च्छनजतिर्यग्-मनुष्याणां यथा गोकुल्यादीनां सच्चित्ता, काष्ठयुणादीनामचित्ता,
10 गोकुल्यादीनामेव केपाञ्चित् पूर्वकृतक्षते समुद्भवतां मिश्रेति त्रिधात्वम् । तथा—

सीओसिणजोणीया सव्वे देवा य गन्भवक्कंती । उसिणा य तेउकाए, दुह नरण, तिविह सेसाणं ॥१॥

[जिन० संग्र० गा० ३६०, जीवस० गा० ४७]

शीतोष्णयोनिः सर्वे देवा गर्भजास्तिर्यग्-मनुष्याश्च । तेजःकायिका उष्णयोनिः । नारकाणां द्विधा योनिः—तत्राऽऽध-
पृथिवीत्रयोत्पत्तीनां प्रकृष्टोष्णा, चतुर्थ्या कचिन्नरके उष्णा कचिच्छीता, अन्यपृथ्वीत्रये तु शीता । सम्मूर्च्छनजतिर्यग्-मनुष्य-पृथि-
15 व्यादीनां कचिच्छीता कचिदुष्णा कचिन्मिश्रा । तथा संवृता प्रच्छन्ना, विवृता प्रकटा, गोमयादिका संवृतविवृता प्रच्छन्नप्रकाशा ॥

तत्र—एगिदिय-नेरइया संवुडजोणी हवंति देवा य । विंगळिदियाण वियडा, संवुडवियडा य गन्मम्मि ॥१॥

[जिन० संग्र० गा० ३५८, जीवस० गा० ४५]

नवरं नारकाः संवृतयोनयः, तदुत्पत्तिभूतानां निष्कृतानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात् । देवा अपि संवृतयोनयः, “देवसयणिज्जंसि
देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जभागमेत्तीए सरीरोगाहणाए उववण्णा” [] इत्यादिवचनतः पटप्रच्छदितेषु
20 देवशयनीयेषु देवदूप्याभ्यन्तरे संवृतस्वरूपे तेषामुत्पादात् । एकेन्द्रियाणामपि केवलदृष्टेन केनापि प्रकारेण ‘संवृतयोनित्वं’
गुणयोनित्वं भावनीयम् । ‘संवृतविवृता’ आवृता-ऽनावृतस्वरूपा गर्भजतिर्यग्-मनुष्याणामिति । अन्यच्च शङ्खावर्त्ता कूर्मोन्ना
वंशीपत्रा चेति त्रिधा मनुष्यस्त्रीविषया स्यात् । तत्र च—

उत्तमनरमाऊणं नियमा कुम्मुन्नया हवह जोणी । इयराण वंसपत्ता, संखावता उ रयणस्स ॥१॥ []

त्ति वाच्यम् ॥

पं. १३. प्राणा द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥१॥ []

न अजावेयञ्च त्ति, अजावणं—तज्जणं । न परिधेत्तव्वा सद्धट्ठेनेन । परितापः—ऋमः । उद्वणं—विणासो । तत्तथैय
धर्मः ‘खेदजैः’ सर्वजैः ‘लोकं’ जीवास्तिकायात्मकं ‘समेत्य’ विज्ञाय तत्पीडाचकरणतः प्रवेदितः । कीदृशः ? ‘ध्रुवः’ त्रिकालभावित्वाद्
मेर्वादिवदचलः । ध्रुवत्वादेव नित्यः, नियतो वा पश्चास्तिकायादिलोकवत् । नियतत्वादेव ‘शाश्वतः’ अक्षयः । पं. २४.

30 ‘इहना’ संज्ञा ॥ पं. ३०. सकलदुःखानां परमौपधभूतं यत् प्रवचनं—श्रुतं तस्यार्थतः प्रणेतृत्वाद् भगवतः ।

१ जीवति गवादावुत्पद्यमानानां कृत्यादीनामित्यर्थः ॥

[पृष्ठ ४]

पं. ६. पश्चानुपूर्व्या अपश्चिम आघो महावीरः । पं. २२. यत् कर्मक्षयात् प्रमाजालं भगवच्छरीराच्चतसृष्वपि दिक्षु निर्गच्छति तद् भामण्डलमुच्यते, पृष्ठिभागे एव च तत् प्रदर्शयितुं शक्यते प्रतिमायाः ।

पं. ३०. ते पुण दुसमय० गाहा । 'ते' उपशान्त-क्षीग-सयोगिकेवलिनः द्विसमयस्थितिकस्य सातस्य योगप्रत्ययिकस्य बन्धकाः, बन्ध-वेदनारूपद्विसमयस्थितिकस्येत्यर्थः । न पुनः 'साम्प्रयायिकसातस्य' कपायनिमित्तस्य बन्धकाः, तेषां कपायाभावात् ॥ 5

[पृष्ठ ६]

पं. २. बाह्या भ्रमिः चक्रधारा, नेमिरित्यर्थः । पं. ३. चरकादिभिरिति, आदिग्रहणाच्चीरिकादिग्रहः । तत्र घाटिवाहकाः सन्तो ये भिक्षां चरन्ति ते चरकाः, यद्वा ये मुञ्जानाश्चरन्ति ते चरकाः । रथ्यापतितचीरपरिधानाः चीरिकाः, यद्वा तेषां चीरमयमेव सर्वमुपकरणं ते चीरिकाः । सुप्रणिधानमेतदिति, सुष्टु-प्रकर्षेण नियते आलम्बने धानं-धरणं मनः-प्रभृतेरिति सुप्रणिधानं-मनःप्रभृतीनामेकाप्रताकरणमभिधीयते । पं. ११. "सज्जाययुनेमिधोसस्स" ति पाठापेक्षया 'नेमिनिधोपो वा' इत्युक्तवान् । पं. २४. कर्णिका बीजकोशरूपा पद्मसत्का मध्यगण्डिकाशब्दवाच्या ।

[पृष्ठ ७]

पं. २. यथाशक्ति आ प्राणोपरमात् तपश्चरति । पं. १५. कपिल-कणभक्षा-ऽक्षपादादीति, विशेषोऽय-ममीषामुक्तः—

केचै-शैपद्भवानि, अ-नै-पानां तु षोडश । क्रमेणाऽऽधारिका-धारिधारिगन्त्रि-चतुःप्रमाः (?) ॥१॥ [15

कपिलः साङ्ख्यमतप्रणेता । पं. २४. धीवेले० ति [गा. ११] वेदिका-जलयोरन्तरे यद् रमणं तच्छ्रृङ्गा जलदृष्टिलक्षणा वा वेदिकापर्यवसाना मर्यादा वा ।

[पृष्ठ ८]

पं. २३. चित्तकूटस्स ति [गा. १३] "चिती संज्ञानं" चित्तयने संज्ञायते वस्तु यैस्तानि चिन्तानि ।

[पृष्ठ ९]

पं. ५. उदरिय ति [गा. १४] उदरिपिता इति व्याख्यातम् । पं. ११. गुह्यान् गुह्याया इति मातृगुह्यानि, श्रुतरत्नप्ररूपणोपाश्रया वा गुहाः । पं. १३. संवरः प्रत्याख्यानरूपः स एव वरः उखलः-निर्गम्य अन्तर्गता प्रमत्तः ।

[पृष्ठ १०]

पं. १८. 'रूपकं' नाम गार्थैकमात्रं छन्दोविशेषः । पं. २१. विधि-प्रतिषेधद्वारेणेति. "ये कर्मिणा उ देह भवरस ते चैव तत्तिया मोक्त्वे" [जोपनि० गा० ५३] इति वचनात् विधि-आदरार्थः श्रेष्ठः परार्थः मोक्षसाधकैरेषु 25 भगवदादिकल्पः केपाश्चिद् गुरुकर्मणां दूरभव्या-ऽभव्यानां गोशालक-सङ्गमादीनां संस्कारहेतुर्भवति । प्रतिषेधार्थोऽपि-अपराधार्थो-योऽपि कश्चिद् हरि-हरादिर्मिथ्यात्वगोचरः कस्यापि तदाचरणादिमर्मादिना तदभिच्येनेन मोक्षहेतुर्भवति इति निर्दिष्टमर्थो-व्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति ।

[पृष्ठ १४]

पं. २५. सुमुणियनिचा-ऽनिच्चमिति [४०] गाथायां यथा सन्नत्ता वेदुमिति, वेदुदोऽपि विदुमिति अत्रा-अदोऽपि 30

१ कपादा । २ संसिद्धि । ३ शिव । ४ इत्युत्पादि । ५ जेटि० । ६ ३. कपादा । ७ विदुमिति । ८ वेदुमिति । ९ जेटि० । १० अत्रा-अदोऽपि । ११ कपादा । १२ जेटि० ॥ ४ कपादाय, ताऽपि कपादां धारते जेटि० ॥

सर्वाऽप्युच्यते । सचेतनस्य गुणाः पर्यायाश्च वाच्याः अचेतनस्य च । तत्र जीवः अथवा जीवाः तेषामवाद्याः सत्त्ववर्तिवत् गुणाः, नारकत्वादयश्च क्रमवर्तित्वात् पर्यायाः । अचेतनस्यापि वर्गादयः सत्त्ववर्तिवत् गुणाः, नन्-प्राणादयश्च तस्य कमभाधिवान् पर्यायाः । तदुक्तम्—

सहवृत्ति गुणा कमवृत्ति पञ्जवा जीवतिगुण निरग्याई । नण्णाइ पोग्गलगुणा, पञ्जाया नन-पुराणाई ॥१॥ []

5

[पृष्ठ १५]

पं. ८. भाषाभिधेया अर्था इत्यादि, सूत्रस्य हि त्रयो व्याख्याप्रकारा भवन्ति—भाषा विभाषा वार्तिकमिति । तत्र भाषा—
सुत्ते जो जं सुत्तालावगनिष्फन्नं धावर्थमात्रमेव भाषते स भाषको भण्यते १ । जया तस्स सुत्तस्स जो दोहिं वा तिहिं
वा चउहिं वा पणारेहिं अथपयाणि विभासइ सो विभासगो भण्णइ २ । जया सच्चपज्जेहिं अर्थं भासइ तदा व्यक्तीकरणद
वार्तिककरोऽभिधीयते । अत एवोक्तम्—भाषाभिधेया अर्थाः, अल्पभाषणविषया इत्यर्थः, बहुबहुतरभाषणविषयास्त्वितरे इत्यमीषामयं
10 विभागः । पं. १२. सुकुमालेत्यादिगाथा ४२—सुकुमालकोमलं—अतिमृदु तलं—चरणामोभाररूपं येषां ते तथा तान् ।
पादान् दूसगणिस्त्वान् प्रणमामि । 'प्रशस्तलक्षणान्' चक्र-च्छत्र-पद्म-वज्र-चामर-पताका-शङ्ख-मीन-श्रीवत्स-मन्दर-स्वस्तिक-कलश-
वृषभ-सिंह-गजप्रभृत्यन्यतरसासुद्रिकशाखाभिहितलक्षणोपेतान् । प्रावचनिकाः—तत्कालोचितप्रकृष्टागमवेत्तारः सूरयः तेषां सम्ब-
न्धिनः । ये पठनार्थमागता अन्यगच्छीयास्साधवस्ते प्रतीच्छका अभिधीयन्ते, तैः 'प्रणिपतितान्' प्रणतान्, अनेन बाहुश्रुत्यमुक्तम् ।
यद्वा तेषां प्रावचनिकानां दूसगणिनाम्नां सुकुमालादिविशेषणविशिष्टान् पादान् प्रणमामीति देववाचक इदमाह ॥

15

[पृष्ठ १६]

पं. ४. अनुयोजयन्तोऽपि श्रुतादिनोपकुर्वन्तोऽपि अयोग्यं जनं दयालवो न खलु भवन्ति महीयांसः, कथम्भूताः
सन्तः ? न अवगतः परार्थसम्पादने उपायो यैस्तेऽनवगतपरार्थसम्पादनोपायाः सन्तः, येन हि परार्थसम्पादने उपायो ज्ञातो भवति
स एव दयालुर्भवति, नेतरः ॥ पं. ६. लाघवं चाऽस्येति, 'लाघवं' हीलां 'अस्य' अध्ययनश्रुतस्य असावयोग्यः सम्पा-
दयति, तच्च महतेऽनर्थाय । यत उक्तम्—

20 अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्घं शमनीयमिव उवरे ॥१॥

धर्मशास्त्रार्थवैतथ्यात् प्रत्यपायो महान् भवेत् । रौद्रदुःखौघजनको दुःप्रयुक्तादिवौषधात् ॥२॥ []

पं. ८. आमेत्यादि । अल्पाधारं पात्रं सिद्धान्तरहस्यं कर्तुं 'विनाशयति' धर्मादेर्भ्रंशयति, यथाऽपकघटनिक्रिप्तं
जलं तमेव घटं 'विनाशयति' स्वरूपाद् भ्रंशयति ॥ पं. १०. तत्राधिकृतगाथामिति, "सेलघण-कुडग-चालणी"त्यादि
[गा. ४४] प्रागुपन्यस्ताम् । विनेयजनानुग्रहाय चैनां समाख्यां व्याख्यानयामः सम्प्रत्येव वयम् । तद्यथा—सेलघण० गाथायां
25 'सेल' त्ति मुद्रशैलः पापाणविशेषः, घनः—मेघः, मुद्रशैलश्च घनश्च तदुदाहरणं प्रथमम् १ । 'कुटः' घटः २ । 'चालनी' प्रतीता ३ ।
'परिपूर्णकः' सुघरीचिटिकागृहम् ४ । हंस-महिष-मेघ-मशक-जैलका-विडाल्यः प्रतीताः ५-१० । जाहकः—सेहुलकः ११ । गौः
१२ भेरी १३ आगीरी १४ चेति । योग्या-ऽयोग्यशिष्यविषयाणि चतुर्दशैतान्युदाहरणानि इति प्रकृतगाथासङ्क्षेपार्थः ॥

उदाहरणं च द्विविधं भवति—चरितं कल्पितं च । तत्रेह प्रथमं कल्पितमुदाहरणम् । एतच्च भाष्यकारो विवृण्वन्नाह—

पं. १२-१३. उल्लेऊण न सङ्को, गज्जइ इय मुग्गसेलओ रण्णे ।

30

तं संवट्टयमेहो गंतुं तस्सुप्परिं पडइ ॥ १ ॥

रविउ त्ति ठिओ मेहो, उल्लो मि न व त्ति गज्जई सेलो ।

सेलसमं गाहिस्सं निन्विज्जइ गाहगो एवं ॥ २ ॥

१ 'जलोको-बिडालाः सं० ॥

इह काचिदरण्ये पर्वतासन्नप्रदेशे समन्तान्निविडो मुद्रवद् वृत्तत्व-श्लक्ष्णत्वादिधर्मयुक्तः किञ्चिद् भूत्वे निमग्नः किञ्चित्तु सप्रकाशाश्रिकचिकायमानो वदरादिप्रमाणलघूपलरूपो मुद्रशैलः किलाऽऽसीत् । स च 'गर्जति' साक्षेपं जल्पति । कथम् ? इत्याह—अहं 'आर्द्रोर्क्तु' जलेन भेत्तुं केनापि न शक्य इति । तच्च मुद्रशैलस्य सम्बन्धि गर्ववचः कुतश्चिन्मारदकल्पाच्छ्रुत्वा संवर्तको नाम महामेघः 'तद्गर्वमद्याहमपनयामि' इति सम्प्रधार्य तं मुद्रशैलं 'गत्वा' सम्प्राप्य तस्यैवोपरि 'पतति' निरन्तरं मुद्रशैलप्रमाणधाराभिर्वर्षतीत्यर्थः । संवर्तकमेघश्चेत्सर्पिण्यां शुभीभवति काले पूर्वदग्धभूम्याद्यासनार्थं वर्षतीत्यागमे प्रतिपाद्यते, तेन भरतक्षेत्रस्य प्रचुरमपि सर्वमशुभानुभावं भूमिरूक्षता-दाहादिकं प्रशस्तत्वकीयोदकेन संवर्त्तयति—नाशयतीति संवर्तक इत्युच्यते, यतस्तस्य सम्बन्धि जलमतीव भूम्यादेर्द्रावकं वासकं च भवतीति विशेषतस्तस्येह ग्रहणम् । एवं च सप्ताहोरात्राणि महावृष्टिं कृत्वा "टिन्नो मेहो" ति 'स्थितः' वृष्टेरुपरतोऽसौ मेघः । कया बुद्ध्या ? इत्याह—"श्विड" ति 'द्रावितः' खण्डशो नीतो मयाऽसौ मुद्रशैलः इत्यभिप्रायेणेत्यर्थः । पानीये चापसृते सुतरामुज्वलीभूतोऽसौ चिकचिकायमानो मुद्रशैलः पुनरपि गर्जति । कथम् ? इत्याह—"उष्ट्रो मि न व" ति आर्द्रोऽस्यहं न वेति सम्यग् निरीक्षस्व भोः पुष्करावर्तक !, किमित्येवमेव स्थितोऽसि ? तिलतुपत्रि- 10 भागमात्रमपि ममांघ्रापि न भिद्यते इति । ततो लज्जितो विलङ्घीभूतः स्वस्थानमुपाश्रितो मेघः ॥

तदेवं मुद्रशैलोदाहरणमभिधायोपनयमाह—

शैलसममित्यादि । यस्य वचनकोटिभिरपि चित्तं न भिद्यते, एकमन्यक्षरं तन्मध्यान्न परिगमतीत्यर्थः, स एवभूतः शैल-समः—मुद्रशैलतुल्य इत्यर्थः । तं तथाभूतं शिष्यं ज्ञात्वाऽपि कश्चिद् ग्राहयतीति ग्राहको गुरुः—

आचार्यस्यैव तज्जाड्यं यच्छिष्यो नावबुध्यते । गावो गोपालकेनेव कुतार्थेनावतारिताः ॥१॥] 15

'यथा तरीतुं न शक्नुवन्ति ततो गोपालस्यैव तद् जाड्यम्, न तासाम्' इत्यादिश्लौकार्थविभ्रमितमतिगर्वाद् 'अहममुं ग्राहयिष्ये' इति प्रतिज्ञाय समागतः, महता च सरम्भेणाध्यापयितुमारब्धस्तथापि मुद्रशैलोपमः शिष्योऽन्नरमपि न गृह्णाति, न च मनागपि स्वाग्रहप्रस्तत्वेन बुध्यते । ततश्चैवं यथा पुष्करावर्तस्तथैव सुचिरं क्रेशमनुभूय 'निर्विद्यते' परामभ्यते, ततो विलङ्घीभूतो लज्जितश्च निवर्तते तद्ग्राहणादयमाचार्य इति ॥१॥२॥ एवभूतस्य च शिष्यस्य सूत्रार्थदाने आगमे प्रायश्चित्तमुक्तम् । कुतः ? इत्याह—

पं. १४. आयरिण् सुत्तस्मि य परिवाओ, सुत्त-अत्यपलिमंथो ।

अन्नेसिं पि य हाणी, पुट्टा वि न हुट्टया वंझा ॥ ३ ॥

20

एवं शैलसमस्यापि शिष्यस्य सूत्रार्थदानप्रवृत्ते आचार्ये 'सूत्रेऽपि च' आगमे 'परिवादः' अवर्षवादी लोकसमुद्यो भवति । तथा—अहो ! नास्य सूरः प्रतिपादिका शक्तिः, नापि तथाविधं किमपि परिज्ञानम्, सतोऽस्यस्येकं शिष्यमवर्षयितुं न शक्यः आगमोऽप्यमीषां सम्बन्धी निरतिशयो युक्तिविकलश्च, इतरथा कथमपमेकोऽप्यस्माद् नावबुध्यते ! इत्यादि । तथा सूत्रार्थोप- 25 रायसम्भवात् परिगन्थनं—मर्दनं विनाशानं सूत्रार्थपरिमन्थः, तच्छिष्यप्रवृत्तस्य मर्दनकालः सूत्रार्थपरिमन्थस्य परामर्शोप- 25 भवतीत्यर्थः । अपरं च तद्ग्राहणप्रसक्ते सूरौ अन्येषां शिष्याणां सूत्रार्थदाने तदग्रहणार्ह इत्यर्थः । न च सूत्रार्थपरिमन्थे तथापिः शिष्यः किञ्चिदपि ग्राहयितुं शक्यः । कुतः ? इत्यादात्तत्कार्थे इत्यन्तन्नाह—"पुट्टा वि" इत्यर्थः, शिष्यस्य शिष्यस्य शतं पु कर्षेर्बहुधा स्पृष्टाऽपि वन्त्या गौर्न खलु दुग्धदा भवति । यथा "पुट्टाऽपि" शरीरपरिचित्तार्थं इत्यादि शिष्यस्य शिष्यस्य शतं पुट्टादा न भवतीति । एवं मुद्रशैलसमः शिष्योऽपि ग्राहणकुतन्तवि मुक्ता ग्राहणार्थेऽपि नास्मिन् सूत्रार्थपरिमन्थे, तस्य सूत्रार्थपरिमन्थे सूत्रार्थो न दातव्यो, ऐहिका-ऽऽसुम्बिकावयोरेशादिवहुदोषसम्भवाद् । वदन्ति चेत् तर्हि मन्त्रोपनिषदिवदन्ति । अत्रापि 30 ननु प्रेतोऽसौ मुद्रशैलप्रान्तः, केवलं न पापाण-नेवर्दीनां जन्तोऽस्मिन्नावर्षिके च प्रवृत्तिरिति चेत् शक्यं विवर्षयेत्, तस्य, किन्तु पूर्वशुभिरिवाशौकं प्रतिविधानम्, तथा—

चरियं च कर्षियं निय आहरणं दुर्विक्रमेव पण्यत्वं । अथम साहज्या इवामिवा गोपयद्गण ॥१॥ [पिण्डनि० मा० ६३०]
न वि अस्थि न वि य होही उह्यावां मुग्गसेल मेहाणं । उवमा राउ एरा कया भवियत्पनिगोहणद्गण ॥२॥

[उत्तरा० नि० मा० ३०९, अनुमो० पत्र २३२]

इत्यलं प्रसङ्गेनेति ॥३॥ अथ मुद्रशैलप्रतिपक्षभूतं घनदृष्टान्तगाह—

5 पं. १५. वुट्टे वि दौणमेहे न कण्हभोमाउ लोदण उदगं ।
गहण-धरणासमत्थे इय देयमच्चित्तिकारिम्मि ॥ ४ ॥

यावता वृष्टेनाऽऽकाशविन्दुभिर्महती गर्गरी भ्रियते तावत्प्रमाणजलवर्षां भेनो द्रौणमेघ उच्यते । तस्मिन् वृष्टेऽपि सति कृप्या भूमिर्यत्र प्रदेशेऽसौ कृष्णभूमः प्रदेशस्तस्माद् 'न प्रलोठति' वदपि तद् मेघजलं पतितं न उच्छिन्नाऽप्यत्र गच्छति, किन्तु तत्रैवान्तः प्रविशतीति भावः । एवं शिष्योऽपि स कश्चिद् भवति यो गुरुभिरुक्तं वदप्यवधारयति, न पुनरक्षरमपि पार्श्वतो गच्छतीति । एव-
10 म्भूते च सूत्रार्थग्रहण-धारणासमर्थे शिष्ये सूत्रार्थयोः शिष्य-प्रशिष्यपरम्पराप्रदानेनाव्यवच्छेदकारिणि देयं सूत्रार्थजातम्, नान्यस्मि-
न्नन्तरामिहितमुद्रशैलकल्पे इति ॥४॥ अन्वय-व्यतिरेकात्मकत्वादेकमेवेदमुदाहरणम् । अथ द्वितीयं कुटोदाहरणं विवृष्यन्नाह—

पं. १६-१८. भाचिय इयरे य कुडा अपसत्थ-पसत्थभाचिया वुविहा ।

पुप्फाईहिं पसत्था, सुर-तेह्लाईहिं अपसत्था ॥ ५ ॥

वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थवम्मा उ होंति उ अगेज्झा ।

15 अपसत्थवम्मा वि य, तप्पडिक्खा भवे गज्झा ॥ ६ ॥

कुप्पवयण-ओसण्णेहिं भाचिया एवमेव भावकुडा ।

संविग्गेहिं पसत्था, वम्माऽवम्मा य तह चेव ॥ ७ ॥

कुटाः—घटाः । ते च तावद् द्विविधाः—एके आपाकोत्तीर्णा नूतना अन्याप्रियमाणत्वादद्यापि पुष्प-जल-तैलादिनाऽभाविताः,
अन्ये तु व्याप्रियमाणत्वाद् भाविताः । तत्र भाविता द्विविधाः—सुरभिपाटलाकुसुम-पट्टवासादिप्रशस्तवस्तुभिर्भाविताः प्रशस्तभाविताः १
20 सुरा-तैलाद्यप्रशस्तवस्तुभावितास्त्वप्रशस्तभाविताः २ ॥५॥

प्रशस्तभाविताः पुनरपि द्विविधाः—तद्भावं वमयितुं शक्या वाम्याः, तद्विपरीतास्त्ववाम्याः । एवमप्रशस्तभाविता अपि
वाम्या-ऽवाम्यभेदद्वयादेव द्विविधाः । तत्र ये प्रशस्तवाम्याः प्रशस्तभावं वमयितुं शक्यास्तेऽग्राह्या भवन्ति, अनादेयाः असुन्दरा
इति यावत् । तथा येऽप्रशस्तभावं वमयितुमशक्याः अप्रशस्तावाम्यास्तेऽप्यग्राह्या भवन्ति । “तप्पडिक्खा भवे गज्झ” त्ति तेषां-
प्रशस्तवाम्यानामप्रशस्तावाम्यानां च ये प्रतिपक्षाः—प्रशस्तावाम्या अप्रशस्तवाम्याश्च ते ‘ग्राह्याः’ आदेयाः सुन्दरा भवन्ति ॥६॥

25 तदेवं द्रव्यकुटास्तावत् प्ररूपिताः । भावकुटा अपि प्रशस्ता-ऽप्रशस्तगुणजलाधारत्वात् शिष्यजीवा एवमेव भाविता-
ऽभावितादिभेदाद् द्रष्टव्याः । केवलमत्र पक्षे कुप्रवचना-ऽवसन्नादिभिर्भाविता अप्रशस्तभाविता उच्यन्त इत्यव्याहारः । ये तु
संविग्नैरेव साधुभिर्भावितास्ते ‘प्रशस्ताः’ प्रशस्तभाविता इत्यर्थः । “वम्माऽवम्मा य तह चेव” त्ति वाम्या-ऽवाम्यभावना यथा द्रव्य-
कुटपक्षे तथैव भावकुटपक्षेऽपि द्रष्टव्येत्यर्थः । सा चैवम्—प्रशस्तभाविता वाम्या अप्रशस्तभावितास्त्ववाम्याः एते उभयेऽप्यग्राह्याः,
उक्तविपरीतास्तु ग्राह्या इति ॥७॥ तदेवमुक्तो भावितकुटपक्षः । अथाभावितकुटपक्षमधिकृत्याह—

30 पं. १९. जे उण अभाचिया ते चउन्विहा, अहचिमो गमो अन्नो ।

छिद्दकुड भिन्न खंडे सगले य पस्वणा तेसिं ॥ ८ ॥

ये पुनरभाविताः कुटास्ते छिद्र-भिन्न-खण्ड-सकलभेदाच्चतुर्विधाः । अथवा कुटोदाहरणस्य भाविता-ऽभावितपक्षनिरपेक्ष
एवायमन्यच्छिद्र-भिन्नादिको ‘गमः’ प्रकारो वर्तते । तमेवाह—“छिद्दकुडे”त्यादि, इह ‘कुटः’ घटः कोऽपि तावत् छिद्रः भवति, कुप्ने

सच्छिद्रो भवतीत्यर्थः १ अन्यस्तु 'मिन्नः' राजिमान् भवति २ वृत्तीयस्तु 'खण्डः' भग्नकर्णः ३ चतुर्थस्तु 'सकलः' परिपूर्ण एवेति ४ । एतेषां च चतुर्णामपि कुटुम्बेदानां दार्ष्टान्तिकमधिकृत्य प्ररूपणा स्वयमेव कार्या, यथा—कोऽपि शिष्यः श्रुतग्रहणमाश्रित्य छिद्र-घटकल्पो भवति, कश्चित्तु भिन्नघटकल्प इत्यादि वाच्यमिति ॥८॥ अथ क्रमप्राप्तं चालन्युदाहरणमभिव्यक्तुर्मुद्रशैल-छिद्रकुट-चालन्युदाहरणानां परस्पराम्बेदोद्भावकशिष्यमतं च निगच्छिकीपुराह—

पं. २०-२१. सेले य छिद्रु चालणि मिहो कहा सोऽमुद्रियाणं तु ।
छिद्राऽऽह, तथ चिद्रो सुमरिंसु, सरामि नेदार्णि ॥ ९ ॥
एगेण विसइ वीएण नीइ कणणेण, चालणी आह ।
घन तथ आह सेलो, जं पविसइ नीइ वा तुज्झं ॥ १० ॥

5

शैल-छिद्रकुट-चालन्युदाहरणैः प्रतिपादिताः शिष्या अप्युपचारात् तथोच्यन्ते, तस्मादश्यात् । तत्रश्च शैल-छिद्रकुट-चाल-न्यभिधानानां शिष्याणां गुर्वन्तिके व्याख्यानं श्रुत्वोत्थायान्यत्र गतानां 'मिन्नः' परस्परं क्रथा समभवत् । कीदृशी ? इत्याह— 10 छिद्रैत्यादि । छिद्रघटकल्पच्छिद्रशिष्यः प्राह । किम् ? इत्याह—'तत्र' गुरुसमीपे उपविष्टस्तदुक्तमस्मार्षेमहम्, इदानीं तु न किमपि स्मरामि । छिद्रघटोऽपि ह्येवंविध एव भवति, सोऽपि हि स्थानस्थितो मुद्रादिकं प्रक्षिपं धरति, अन्यत्र तुल्यिभ्य नीनस्य तत्र प्राच्यते, अथच्छिद्रेण गलित्वा निःसृतत्वात्, अतस्तत्कल्पः शिष्योऽपीत्यमाहेति भावः ॥९॥

छिद्रकुटकल्पेन शिष्येणैवमुक्ते चालनीकल्पः प्राह—

एगेणेत्यादि । चालनीकल्पः शिष्यश्चालनी । स प्राह—भोः छिद्रकुट ! शोभन्स्त्वं येन गुणसमीपस्थेन चया तावद्वभागिन् 15 तद्वचः पश्चादेव विसृतम्, मम तु गुर्वन्तिके स्थितस्थैकेन कर्णेन विन्दति द्वितीयं तु निर्गच्छति, न पुनः किमपि हृदये स्थितम्, कणिकादिचालन्या अपि हि जलदिकमुपरिभागेन क्षिप्यते, अयोभागेन नु निर्गच्छति, न नु किमपि सतिष्ठते, अतस्तदुपमः शिष्योऽपीत्यमेवाऽऽहेति भावः । तदेवं छिद्रकुट-चालनीभ्यामेवमुक्ते मुद्रशैलः प्राह—यद्यपि ये वादि, मुद्रशैले वदन्ति—पञ्चावत युवाम्, 'यद्' यस्मात् कारणाद् युवयोग्तावत् कर्णयोर्गुणकं किमपि प्रविशति निर्गच्छति च, मम चेतसि कश्चिद्, तदुपरय सर्वथाऽपि मध्ये प्रवेशाभावात्, उपलभ्यैर्द्विविधत्वादेवेति भाव इति ॥१०॥ तदेवं चालन्युदाहरणं परस्परमुच्यते । शैल-छिद्रकुट- 20 चालन्युदाहरणानां परस्परं विशेषश्चाभिहितः । अथ चालनीप्रतिपादनाह—

पं. २२. तावत्सखडरयादिणयं चालणिपरिपयस्यो, न मयत् दयं पि ।
परिपूर्णयस्मि उ गुणा गलेति, दासा च चिद्रिदि ॥ ११ ॥

चालनीप्रतिपक्षो भवतीति शेषः । किं तत् ? इत्याह—तावत्सखडरयादिणयं चालणिपरिपयस्यो, न मयत् दयं पि । तच्च किल वंशं शुम्बादिकं च प्रत्यमतिप्रक्षेपं कुहयित्वा कण्टकाकारं विन्दति, तत्र च विन्दितं यद्यत्कण्टकं तत्र प्रविशति च 25 धवति, किन्तु सम्पन्नं धरति, एवं शिष्योऽपि यो गुरुमिगतावत् सर्वमपि प्रपद्यते, न तु विन्दते, न मयत्, अतस्त्वयं चालनी इति भावः । अथ परिपूर्णयोदाहरणमाह—परिपूर्णयोदाहरणमाह । परिपूर्णो यत्तत्—गुणैर्निद्रित्वादिभिर्गुणैर्निद्रित्वादिभिर्गुणैः किल पूर्णं गान्यते, ततश्च क्वचदस्यदतिष्ठते, पूर्णं तु गतिः कश्चिः एवेति, एवं परिपूर्णयोदाहरणं किल तदुपरय तु परिपूर्णं 30 तत्र हि शून्यस्यविभक्तौ गुणाः सर्वेऽपि प्रवदन् गच्छन्ति, येषाम् तु प्रवदन्प्रवदन्प्रवदन्ति, ते परिपूर्णोदाहरणं इति भावः । अथ तावत्सखडरयादिणयं चालणिपरिपयस्यो, न मयत् दयं पि इति भावः ॥११॥ तावत्सखडरयादिणयं चालणिपरिपयस्यो—

१. "शाकियः प्रविशन्तव्यस्तु भावः मयत् विन्दते इति तत्र चालनीप्रतिपक्षो भवतीति शेषः । तावत्सखडरयादिणयं चालणिपरिपयस्यो, न मयत् दयं पि ।

पं. २३. सत्त्वगुणुप्पामशा दोषा ह न संति जिगमस केह ।

जं अणुवउत्तकहणं अपत्तमात्मज न ह्वेत्ता ॥ १२ ॥

ननु 'सर्वज्ञप्रामाण्यात्' 'सर्वज्ञोऽस्य प्रवर्तकः' इति हेतोरनित्यते दोषाः केनैवैषि न सन्तीत्यर्थः, तत्र कथमस्य कोऽपि दोषान् ग्रहीष्यति ? असत्त्वादेवेति भावः, सत्यम्, किन्तु यन्पि जिनमते दोषा न सन्ति तन्मापनुपयुक्तस्य गुरोरेव कथनं—व्याख्याविधानं 5 तदाश्रित्य दोषा भवेयुरिति सम्बन्धः । अथवा 'अनाजम्' अयोग्यं शिष्यगतीत्यत्र जिनमतेऽपि कुलिशोद्येयिता दोषा भवेयुः निर्दोषेऽपि हि जिनमतेऽपात्रभूताः शिष्या असतोऽपि दोषानुद्भाववस्त्येऽर्थः । तथा न ते नक्तारो भवन्ति । तत्रथा—

पागयभासनिवद्धं को वा जाणइ पणीय केणेयं ? । किं वा चरणेणं तू दाणेण विणा उ हणइ ? ति ॥१॥

काया वया य ते चिय, ते चेव पमाय अयमाया य । मोत्ताहिगारियाणं जोइस जोगीहिं किं कजं ? ॥२॥

[कणभाष्य गा. १३०३, ४९७५]

10 को आउरस्स कालो ? मइलंवरधोयणे य को कालो ? । जइ मोत्सहेउ नाणं को कालो ? तस्सऽकालो वा ? ॥३॥

[निशीथभाष्य गा. १०] इत्यादि ।

असन्तश्च सर्वेऽप्यमी दोषाः,

वाल-खी-मूढ-मूर्खाणां नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुप्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥१॥

पुव्वभणियं पि जं वत्थु भण्णए तत्थ कारणं अत्थि । पडिसंहो य अणुण्णा वत्थुविसोवळंभो वा ॥२॥

15 इत्यादिना शास्त्रान्तरे विस्तरेण निराकृतत्वादिति ॥१२॥ अथ हंसोदाहरणव्याख्यामाह—

पं. २४. अंबत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीरमुदगम्मि ।

हंसो मोत्तूण जलं आवियइ पयं, तह सुसीसो ॥ १३ ॥

दुग्धं जलं च मिश्रयित्वा भाजने व्यवस्थाप्य कोऽपि हंसस्य पानार्थमुपनयति, स च तन्मध्ये चक्षुं प्रक्षिपति, तस्य च जिह्वा स्वभावत एवाम्ला भवति, तेन च जिह्वाया अम्लत्वेन हेतुभूतेनोदकमध्यगतं दुग्धं वित्तुलित्वा 'कूचिकाः' विन्दुरूपा बुद्बुदा भवन्ती- 20 त्यर्थः, ततश्च जलं मुक्त्वा तद् बुद्बुदीभूतं दुग्धमापिवति हंसः । तथा कुशिप्योऽपि गुरोर्जलस्थानीयान् दोषान् परित्यज्य दुग्ध-स्थानीयान् गुणान् गृह्णातीत्यर्थ इति ॥१३॥ अथ महिपोदाहरणं विवृण्वन्नाह—

पं. २५. सयमवि न पियइ महिसो, न य जूहं पियइ लोडियं उदगं ।

चिगगह-चिगहाहि तहा अथक्कपुच्छाहि य कुसीसो ॥ १४ ॥

स्वयूथेन समं वनमहिपो जलाशये कचिद् गत्वा तन्मध्ये च प्रविश्योद्धर्तन-परावर्तनादिभिस्तथा तज्जलमालोडयति यथा 25 कलपितं सन्न स्वयं पिवति, नापि तद्यूथम् । एवं कुशिप्योऽपि व्याख्यानमण्डलिकायामुपविष्टो गुरुणाऽन्येन वा शिष्येण सह विग्रहं—कलहं उदीरयति, विकथाप्रबन्धं वा कश्चिच्चालयति, सम्बद्धा-ऽसम्बद्धरूपाभिरनवरतमुपर्युपरिपृच्छामिश्च तथा कथञ्चिद् व्याख्यानमालोडयति यथा नाऽऽमनः किञ्चित् पर्यवस्यति, नापि शेषविनेयानामिति ॥१४॥ मेपोदाहरणमाह—

पं. २६. अवि गोपयम्मि वि पिवे सुदिओ तणुयत्तणेण तुंडस्स ।

न करेइ कलस तोयं मेसो, एवं सुसीसो वि ॥ १५ ॥

30 'अपि' इति सम्भावेन । जलभृते कचिद् गोप्येऽपि "सुदिओ" ति सङ्कुचिताङ्गः 'मेपः' ऊरणकः पिवेज्जलम्, न च तत् कलपं करोति । केन हेतुना ? इत्याह—'तनुक्त्वेन' अग्रभागे श्लक्ष्णत्वेन 'तुण्डस्य' मुखस्येति, अग्रपादाभ्यामवनस्य तीक्ष्णेन

१ करोति सं० ॥

मुखेन तथाऽसौ जलं पिबति यथा सर्वथैव क्लृपं न भवति । एवं मुशिय्योऽपि तथा गुरोः सकाशान्निभृतः श्रुतं गृह्णाति यथा तस्य परिपद्रो वा न कस्यचिन्मनोवाधादिकं काल्प्यं भवतीति ॥१५॥ मशकञ्जलूकोदाहरणद्वयविवृतिमाह—

पं. २७. मसड च्च तुदं जचाइएहिं निच्छुम्भए कुसीसो चि ।
जलुगा च अद्दुमेतो पियइ सुसीसो वि खुयनाणं ॥ १६ ॥

यथा मशको जत्तू 'तुदति' व्यथयति, ततश्च वक्त्राद्बलादिभिस्त्रिरस्त्र्य दूरीक्रियते, तथा कुशिय्योऽपि जात्यादिद्रोषोद्भू-
नैर्गुरुं 'तुदन्' व्यथमानो 'निकास्यते' परिहृत्यत इति । जट्टका पुनर्न्याऽसृग् विवति, न चासुगन्तं व्यथयते, तथा मुशिय्योऽपि
गुरुन्धः श्रुतज्ञानं 'पिबति' गृह्णाति, न तु तान् जात्युद्बन्धनादिना दूनोतीति ॥१६॥ विडाल्युदाहरणमाह—

पं. २८. छडेउं भूमीए खीरं जह पियइ वुट्टमज्जारी ।
परिसुद्धियाण पासे सिक्कंअइ एवं विणयमंसो ॥ १७ ॥

यथा द्रुष्टमाजारी तथाविधस्वभावतया स्थाल्याः क्षीरं भूमौ छर्दयित्वा पिबति, न पुनस्तत्स्वप्, तथा च सति न तत् 10
तस्यास्तथाविधं किञ्चित् पर्यवस्यति । एवं विनयाद् छर्दयतीति 'विनयचर्मो' विनयकरणार्थकः कुशिय्यो गोष्ठामाह्वयव् परिपु-
थितानां विन्ध्यादीनामिष पाशं 'शिक्षते' श्रुतं गृह्णाति, न तु गुरोः समीपं, तद्विनयकरणमयात् । इह च द्रुष्टमाजारीस्थानीयः
कुशिय्यः, भूमिकल्पान्तु परिपुथिताः शिथ्याः, छर्दिदुग्धपानसदृशं तु तद्रनश्रुतश्रवणमिति ॥१७॥ जाहकोदाहरणमाह—

पं. २९. पाउं थोचं थोचं खीरं पान्नाइं जाहको लिहइ ।
एमेव जियं काउं पुच्छइ महमं, न खेणइ ॥ १८ ॥

यथा भाजनगतं क्षीरं स्नोकं स्तोत्रं पीत्वा 'जाहको' नेक्यको भाजन्तश्च पश्यति वेदि, पुनरपि च स्नोकं तत् पीत्वा
भाजनपाश्यानि वेदि, एवं पुनः पुनस्तावत् करोति यावत् सर्वथैपि क्षीरं पीनमिति । एवं मतिमान् सुमि तोऽयैवनें गुरीभं पां
जित-परिचितं कृत्वा पुनरन्वय गृह्णाति, एवं पुनः पुनस्तावद् विद्वद्भाति यत्कञ्च सर्वथा पुनं गुरोः महाभाद गृह्णाति, न च
गुरुं खेदयतीति ॥१८॥ अथ गौष्टान्त उच्यते—

तत्र च केनापि यजमानेन वेदान्तरीतमथविरोधात्कनरतिविषयवशवत्तदप्येवमप्येवमेव कर्तव्येण तदादर्शितेऽप्येव गौ. प्रदत्ता, 20
प्रोक्ताश्च तेन ते ब्राह्मणाः—वाग्देवणासौ भवत्य्योम्यधेति । तदप्येवमेव च यो सर्वथा विवेके विवेकात् तेषां प्रदत्ता, येषां च
तेन तथैवोक्ताः । तत्र च प्रथमविज्ञानां मध्ये येष्टतत्कर्मोक्तं सौ संपन्नं सौ च सुभावं । तदप्येवमेव च विनयं तेन ।
विम् ! इत्याह—

पं. ३०. अजो दोखिति वल्लं, निरुपणं विं पन्थमि से वरुणि ।
एउचरणगवी उ नया. अउण तावी ए वट्टाणो (१९) ।

तेनैतद्विनित्तम्—एत ! दासकणपोतरो द्रावणः काणे वाहते, तेषु पीयते, न च विदुः अस्ति विदुःप्रायः यद्विदुः
पन्थेवयोऽपि हि तां दास्यति—इति विदुःप्रायः च सामान्यतः प्रवृत्तः । तेनैतद् विदुः विदुःप्रायः च यत्कञ्च सर्वथा
उच्यते । एवं तृतीयदशे उपनिषदि, जलद्वारं तस्मै जलद्वारं भवति तद्विदुः । इति च सामान्यतः प्रवृत्तः । तदा
विदुः यो जलद्वारं यत्कञ्च सर्वथा तस्मै जलद्वारं भवति तद्विदुः । इति च सामान्यतः प्रवृत्तः । तदा
तेषां च नरो यत्कञ्च सर्वथा तस्मै जलद्वारं यत्कञ्च सर्वथा तस्मै जलद्वारं भवति तद्विदुः ।

अन्वैस्तु यैश्चतुर्भिश्चरणैर्गोलिवा तन्मध्ये प्रथमनिजत्वां दुग्वा चारीप्रदानोवायामनिवत्यत् । किम् ? इत्याह—

[पृष्ठ १७]

पं. १. मा से होज्ज अचण्णो, गोवज्जा चा, पुणो वि न दलेज्जा ।
वयमन्नि दोज्जामो पुणो, अणुग्गहो अण्णदुद्धे वि ॥ २० ॥

5 मा भूद् जनमध्ये ममावर्णवादः, गोहत्या वा मा भूत्, इतोऽस्याधारी प्रयच्छामि, यदि तु न दास्यामि तदा सञ्जात-
कलङ्केभ्योऽस्मभ्यं पुनर्नवादिकं किमपि कोऽपि न दास्यति, अपरं चैतस्यै चारीप्रदाने को दोषः ? प्रत्युत गुण एव, यतश्चारी-
प्रदानपुष्टामेनां पुनरपि वारकेणाऽऽगतां वयमेव धोक्ष्यामः, यदि वाऽन्धेनापि ब्राह्मणेन दुग्वायामेतस्यामस्माकमेवानुग्रह इति ॥२०॥

अथोपनयमाह—

पं. २. सीसा पडिच्छगाणं भरो त्ति, ते वि य हु सीसगभरो त्ति ।
न करेन्ति, सुत्तहाणी, अण्णत्थ वि दुल्लहं तेसिं ॥ २१ ॥

10

गुरोर्विनयकर्मणि कर्तव्ये स्वगच्छदीक्षिताः शिष्यास्तावच्चिन्तयन्ति । किम् ? इत्याह—‘प्रतीच्छकानाम्’ उपसम्पन्नानामागन्तुक-
शिष्याणामयं गुरोर्विनयकरणलक्षणः ‘भरः’ आचारः, किमस्माकम् ? तेषामेव साम्प्रतं बल्लभत्वादिति । तेषु च प्रतीच्छका एवं
सम्प्रधारयन्ति—निजशिष्याणामेवायं भरः, किमस्माकमागन्तुकानामथ समागतानामन्येषुर्जिगमिषुणाम् ? इति । एवं सम्प्रधार्य
उभयेऽपि गुरोर्न किञ्चिद् विनय-वैयावृत्त्यादिकं कुर्वन्ति । ततश्च गुरुष्ववसीदसु तेषां सूत्रा-ऽर्थहानिः, अन्यत्रापि च गतानां ‘तेषां’
15 दुर्विनीतानां दुर्लभं सूत्रमर्थश्च । उपलक्षणत्वादन्येऽप्यवर्णवाददादयो दोषाः स्वयमेवाभ्यूह्याः । अयं च दुर्विनीतशिष्योपनयः कृतः ।
सुविनीतविनेयोपनयस्तूक्तविपर्ययेण स्वयमेव कर्तव्य इति ॥२१॥ भेरीदृष्टान्तमाह—

पं. ३-६. कोमुइया तह संगामिया य उब्भूइया य भेरीओ ।
कणहस्साऽऽसि ण्हु तथा, असिवोवसमी चउत्थी उ ॥ २२ ॥

20

सक्क पसंसा, गुणगाहि केसवा, नेमिवंद, सुणदंता ।
आसरयणस्स हरणं, कुमारभंगे य, पुयजुद्धं ॥ २३ ॥
नेहि, जिओ मि त्ति अहं, असिवोवसमीए संपयाणं च ।
छम्मासिय घोसणया पसमइ, न य जायए अन्नो ॥ २४ ॥
आगंतु वाहिखोभो, महिड्ढि मोल्लेण, कंथ. दंडणया ।
अट्टम आराहण, अन्न भेरि, अन्नस्स ठवणं च ॥ २५ ॥

25

आसां भावार्थः कथानकेनोच्यते—द्वारवत्यां नगर्यां वासुदेवस्य राज्यं पालयतो गोशार्पित्रीखण्डमथ्यो देवतापरिगृहीतास्तिन्नो
भेर्य आसन् । तद्यथा—कौमुदिकी साङ्ग्रामिकी औद्भूतिकीति । तत्राऽऽद्या कौमुदीमहोत्सवाद्युत्सवज्ञापनार्थं वाद्यते, द्वितीया
सङ्ग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाद्यते, तृतीया पुनरुद्भूते आगन्तुके कस्मिंश्चित् प्रयोजने सामन्ता-ऽमात्यादि-
लोकस्थैव ज्ञापनार्थं वाद्यते । चतुर्थ्यपि गोशार्पित्रीखण्डमयी भेरी तस्याऽऽसीत्, इयं तु पट्टणमासपर्यन्ते वाद्यते, यश्च तच्छब्दं
शृणोति तस्यातीतमनागतं च प्रत्येकं पाप्मासिकमशिवमुपशान्ति ॥२२॥ इयं च प्रकृतोपयोगिनी चतुर्थी भेरीति तदुत्पत्ति-
30 लिख्यते—कदाचित् सौधर्मदेवलोके समस्तामरसमापुःसरमभिहितं शक्रेण—

घृतवास्कोऽयं मयाऽगृहीत एव मुक्तस्ततो भग्नः । आगीरस्वाह—रणे ! नगरानां नरानि नीजमागया स्वयेन दुःपरिगृहीनोऽयं कृतस्ततो भग्नः । इत्युभयोरपि कलहः समभवत् । पिडिता न तेनाऽऽभीरी । कलहयतोश्च तयोभ्यश्चि भवं नदुःखं तम्, उद्विग्न-शेषेण च घृतेनोत्सूरेऽघोऽप्यूनो लब्धः । इतरेषु च सार्थिकेषु घृतं विक्रीय गतेषु तयोरेकाकिनोर्गन्तव्यतां ननु ममा गन्त्री बलीवदाश्च सर्वं तस्करैरपहृतमिति ॥२६॥ एवं दृष्टान्तमभिधायोपनयमाह—

5 पं. ८. मा निणह्व इय दाडं, उवउज्जिय देहि, किं चिन्तितेसि ? ।
चिन्तामेलियदाणे किलिस्ससे तं च हं चेव ॥ २७ ॥

चिन्तनिकाद्यवस्थायां वितथं प्ररूपयन्नवीयानो वा गुरुणा शिक्षितः शिष्यो जगाद्—स्वयेव ममेतं व्याख्यातम्, पाठितो वा स्वयैवैवंविधमहम्, अतस्तवैव दोषोऽयम्, किं मां शिक्षयसि ? । आचार्यः प्राह—न मयैवमुपदिष्टम् । कुशिष्यो ब्रवीति—हन्त ! साक्षादेव मम पुरस्सरमित्थं सूत्रमर्थं वा दत्त्वा सूरे ! मा निहोपीस्त्वम् । इत्यमुक्त आचार्यः किमप्यन्तर्ध्यायन् पुनरप्युक्तः शिष्या-
10 भासेन—किं बलीवदात् पातित इव चिन्तयसि ? भव्यगत्या 'उपयुज्य' उपयुक्तो भूत्वा देहि सूत्रा-ऽर्थो, 'व्यत्यान्नेडितदाने' वितथ-सूत्रार्थप्रदाने केवलं त्वं अहं च क्लेशमेवानुभवावः । तद्वितथं स्वदोषप्रतिपत्तौ गुरुदोषोद्गावने वाऽऽभीरमिथुनस्येव गुरु-शिष्ययोः कलह एव प्रवर्तते । तथा च सति व्याख्याव्यवच्छित्ति-सूत्रार्थहान्यादयो दोषाः ॥ अत्र प्रतिपक्षः स्वयमेव द्रष्टव्यः । तथाहि—

अन्योऽप्याभीरः किल सकलत्रस्तथैव क्वापि नगरे घृतविक्रयार्थं गतः । कलत्रस्य च द्वारेके समर्पिते भग्ने च 'अहो ! मयाऽनुपयुक्तेन समर्पितोऽयम्' इति वृवाणो झगिति गन्त्याः समुत्तीर्थं कर्परकैर्वृतं संवृणोति । भार्याऽपि धिग् मयाऽनुपयुक्तया दुष्प-
15 सिगृहीतः कृतोऽसौ तेन भग्नः' इति वदन्ती तथैव तत् संवृणोति । ततश्चान्योन्यं कलहेऽजाते उभयसंविख्या घृतं शीघ्रमेव विक्रीतम् । सार्थिकैश्च सह क्षेमेण स्वस्थानं जग्मतुः । एवं गुरु-शिष्या अपि स्वदोषं प्रतिपद्यमानाः परदोषं तु निहुवाना येऽन्योन्यं न विवदन्ते त एव सूत्रार्थप्रदान-ग्रहणयोर्योग्या भवन्ति निर्जरादिलाभमागिनश्चेति ॥२७॥

तदेवं योग्या-ऽयोग्यान् गुरुन् शिष्यांश्चोपदेश्योपसंहारपूर्वकं तत्फलमाह—

20 पं. ९. भणिया जोज्जा-ऽजोग्गा सीसा गुरवो य, तत्थ दोण्हं पि ।
वेयालियगुण-दोसो, जोग्गो जोग्गस्स भासेज्जा ॥ २८ ॥

भणिता योग्या-ऽयोग्या गुरु-शिष्याः । तत्र 'द्वयोरपि' गुरु-शिष्ययोर्विचारितगुण-दोषयोर्योग्यो गुरुर्योग्याय शिष्याय सूत्रा-ऽर्थो भाषेतेति ॥२८॥

पं. १६. 'अज्ञिका' परिज्ञानरहिता । पं. २१. पगईमुद्धेत्यादिगाथा—अज्ञिका प्रकृत्या मुग्धा भवति । कुतः प्रकृत्या मुग्धा भवति ? "मियलावय" ति लावगशब्दः सर्वत्र सम्बध्यते, ततो मृग-सिंह-कुक्कुटशावं—लघु मृगाद्यपत्यं तद्वृत्ता, अत्यन्तजुत्व-
25 साम्यात् तत्सदृशी चेत्यर्थः । सहजरत्नमिवासंस्कृता 'मुखसंज्ञाप्या' मुखप्रज्ञापनीया 'गुणैः' गुरुबहुमानादिभिः समृद्धा । अन्यच्च—

जा खलु अभाविया कुरुमुईहिं न य ससमए गहियसारा । अकिलेसकरा सा खलु वइरं लकोडिसुद्धं व ॥१॥

[कल्पभाष्य गा० ३६८]

पट्कोणविशुद्धं 'वज्रमिव' हीरक इव विशुद्धा या सा खल्वज्ञायकर्षदिति वाक्यशेषः ॥

पल्लवग्राहित्वादिक् च महतेऽनर्थाय, सम्पूर्णश्रुताभावात् । तदुक्तम्—

30 पल्लवग्राहि पाण्डित्यं, क्रयक्रीतं च मैथुनम् । भोजनं च परायत्तं, तिलः पुंसां विडम्बनाः ॥१॥

अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विदोपज्ञः । ज्ञानरुचदुर्विदधं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति ॥२॥ [भर्तृहरित्रिद्यती १-२]
अत्राऽऽद्यपर्षद्भ्यं योग्यम्, तृतीया त्वयोग्येति ॥

[पृष्ठ १८]

पं. १. नाणमित्यादि । पं. २. सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणान्तको बोधो ज्ञानं संविद्युच्यते । करणा-
ऽपादाना-ऽधिकरण-कर्तृसाधनोऽपि ज्ञानशब्दो व्युत्पाद्यः । नवरं कर्तृपक्षे ज्ञान-ज्ञानिनोः कथञ्चिद्व्यतिरेकादात्मैव ज्ञानम्, जानाति 5
स्वं रूपं बाह्यमावांश्चेति ज्ञानम्, प्रदीपवत् स्व-परावभासित्वाद् ज्ञानस्येति भावः । अत एवाऽऽह— पं. ३. स्व-विषयेति
स्व-विषययोः—आत्म-बाह्यश्रेयोः संवेदनं रूपं यत्स्येति विग्रहः ॥ पं. ७. क् च इ च इत्—अनुबन्धो यस्य प्रत्ययस्येति विग्रहः.
कानुबन्धे कानुबन्धे चेत्यर्थः । अजादिगणश्च अञ्च अजाद्यन् तस्मात्, अजादीनां तदव्याकारान्तानां च दापिति खियामा प्रवर्तते ।
पं. १०. कुत्र्याख्येति, 'विध इत्यकारान्तोऽयम्' इति केचिदाहुः तदस्य न सम्मतमिति रूपसिद्धिर्दिशिता ॥

पं. १२. अर्थं० गाहा—इहोपचारादर्थप्रत्यायनहेतुत्वाच्छब्द एव स्वन्वर्थोऽत्र. ततः शब्दमेवार्थप्रत्यायकमर्हन् भावने. न तु 10
साक्षादर्थम्, तस्याशब्दरूपत्वेनाभिलपितुमशक्यत्वात् । गगशृतोऽपि च शब्दात्मकमेव श्रुतं भवन्ति 'नियुगं' सूत्रं यत्तु वा ।
तदर्थुभयोः कः प्रतिविशोः ? इति चेत्, उच्यते—स हि भगवान् विशिष्टमतिमन्यस्यजगदगरेभ्या प्रभूतार्थनर्धमात्रं स्वयमेवाभिधत्ते,
वीजमात्रतया, न वितरजनसाधारणं प्रथगशिमिति, प्रभूतार्थनीर्थकभायितस्य गजव्रैद्वैर्त्तीर्तितया सूत्रकरमिति विदो इति
गाथार्थः ॥ पं. १८. तत्रैति ज्ञानसन्नकमध्ये । आभिनित्तोधिकज्ञाननित्यव्याख्यनर्थः—अभिसुखः—योग्यदेगावस्थितयोरेषी,
अर्थ्याभिसुखः अर्थवलायातत्वेन तन्नान्तर्गिकोऽव इत्यर्थः । 'नियतः' स्वस्वदियकांथी. तेन श्रोत्र-काश-सम्ता-प्राज-स्योमानाभि-

न्द्रियाणां शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः स्वविषया प्रायतया नियन्ताः. न तिनरस्य द्विग्रमित्यद् सूत्र्याति को बोधः शोभितिवोधा,
अभिनित्तोथ एवाऽऽभिनित्तोधिकम्. विनयादिपाठात् स्वार्थं इति शक्ति. यथा विनय एव द्वित्विकमिति । यथा गान स्वार्थितयपम
एव द्वित्त्वा यथाघटमानमन्यथाऽपि व्युत्पाद्यम् । पं. १९. अभिनित्तुच्यते तद्विधायि. तद् तत्त्वोपपत्तेर्येव पत्ते म अर्था,
अभिनित्तुच्यते तद्विद्यत तु मतिज्ञानं कर्मापित. न तु कर्ता, तत् कथमिदं पत्तेर्येव इत्यतः— पं. २०. तस्य स्वर्गीयिन-

रूपत्वादिति, स्वयमेव ज्ञानं नीलादिप्रातकत्वेनामानं व्यवहारमिति, न कर्ता एतन्मते विदो कर्ता विनयि इति भावः । ननु 20
'ओदुनं पचति देचदत्तः' इत्यादिषु भेदेनैव कर्म-कर्तृत्वयुक्तानो भावः समस्तु मतेव भावः को विदो. योऽत्र कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदोनायत्
कथं तदव्यवहारः ? इत्याशङ्कनाऽऽह—भेदोपचारादिति. तत्रि परीतवत् पचतवत्तत्त्वे विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो
उपचर्यते इति भावः । यथा ज्ञानं पत्तेर्येव रूपमभिनित्तुच्यते इति कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो
ज्ञानमुक्तम् । अथवा ज्ञानं अयोपगम जा मा दा तदव्यव इति कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो
'अनेन' प्रसृतज्ञानेन तदावगमजयोपगमेन दाऽर्थापितोऽतः स एव कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो 25
प्रसृतज्ञानात् अयोपगमात् । पं. २२. 'अभिनित्तुच्यते' अथवा तत् कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो
सति आभिनित्तोधिकम् । पं. २३. यथा अशित्तुच्यते अतः कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो

कदाच अयोपगमस्योभिनित्तोधिकत्वात्पत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो
ज्ञानसाधनमाश्रयत्वाद् अयोपगमात् न अशित्तुच्यते अतः कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो
योधिकं च तत् ज्ञानं केन कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो 30
प्रत्ययो लोपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो एव तदव्यवहारो कर्म-कर्तृत्वोपपत्तेर्येव विदो
सुखस्येति ।

- पं. २६. यद्वा श्रुणोतीति श्रुतगाम्येवोच्यते, ज्ञान-ज्ञानिनोः कथनिद्वयमितिकान् श्रुतोपयोगपरिणामयुक्तः श्रुतं भवति, तदत्रापि शब्दस्य श्रुतकारणात् श्रुतोपशमस्य च ज्ञानहेतुत्वात् आत्मनश्च कथयित्वा तस्यतिरेकात् उपचारतः श्रुतं च तद् ज्ञानं चेति समासो युज्यते २ । पं. २८. अवशब्दो अर्थःशब्दार्थः मर्यादार्थः । 'अवधीयते' अर्थाङ्गो निरस्तुतं परिच्छिद्यते रूपि वस्तु 'अनेन' ज्ञानेनेत्यवधिः । यद्वा अव-रूपिद्रव्यमर्यादया धीयते-परिच्छिद्यते नरुननेनेत्यवधिः । पं. २९. अव-धीयते 'अस्माद्' ज्ञानाद् जीवेन साक्षाद् वस्तु इत्यवधिः । पं. ३०. अवधीयते जीवेनारिगन् रति नस्तु इत्यवधिः । अवधानं वाऽवधिः-साक्षादर्थपरिच्छेदनम् । पं. ३२. पर्ययनं-सर्वतः परिच्छेदनं पर्ययः । क पुनरसौ ? इत्याह—

[पृष्ठ १९]

- पं. १. मनसीत्यादि, मनसि ग्राह्ये मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्ययो मनःपर्ययः । पं. ३. यद्वा मनःपर्यायज्ञान-मित्युच्यते । तत्र "इण् गतौ" अयनं आयो लामः प्राप्तिरिति पर्यायाः, परिः-समन्तादायः पर्यायः, मनसः पर्यायास्तेषु ज्ञानम् ।
- 10 यद्वा संज्ञिभिर्जावैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गानांपुद्गलद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमन्याऽऽलम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते । ततश्च जावैर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति-परिच्छिनत्ति मनःपर्यायम्, "कर्मण्यण्" [पा. ३-२-१] तस्य कथञ्चित् कर्तुरनन्यत्वात् कर्तृत्वविवक्षा । कर्ता वा आत्मा यथोक्तानि मनांसि पर्येति अनेनेति मनःपर्यायम्, "अकर्तरि च" (पा. ३-३-१९) इत्यादिना घञ्, तत् पुनस्तदावरणक्षयोपशमजो लब्धिविशेषस्तदुपयोगो वा विषय-ग्रहणात्मकः । यद्वाऽवनं-गमनं वेदनमित्यवः, परिः-समन्तादवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवा मनःपर्यवाः, तेषां तेषु वा
- 15 इदमित्थम्भूतमनेन चिन्तितमित्येवंरूपं ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिति वेति । इदं चेत्यादि, अर्द्धं तृतीयं येषां तेषु तृतीया द्वीपाः, ते च समुद्रौ चार्धतृतीयद्वीप-समुद्राः, तेषामन्तः-मथ्यं तत् तथा, तत्र वर्तन्ते ये तेषु तृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिनः, ते च ते संज्ञिनश्च तेषां मनोगतानि-मनस्त्वेन परिणमय्य मुक्तानि यानि द्रव्याणि तैरेव तान्यालम्बते-आश्रयति अर्थपरिच्छेदकतया यद् ज्ञानं तत् तदालम्बनम् । प. ५. केवलमित्यादि, "केवलमेगं सुद्धं सकलमसाहारणं अणंतं च ।" [विशेषा. गा. ८४] इति वचनात् केवलशब्द एकावर्थपञ्चकवृत्तिरिति क्रमेण व्याचष्टे । तत्र केवलमिति कोऽर्थः ? असहायम् इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षित्वा-
- 20 देकमित्यर्थः, तद्वावे शेषच्छास्त्रस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वाऽसहायम् । अत एवाह-मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम् । केवलं शुद्धं निर्मलमित्यर्थः, सकलावरणमलकलङ्कविगमसम्भूतत्वात् । सकलं वा केवलम्, परिपूर्णमित्यर्थः, सम्पूर्णद्रव्यादिज्ञेयग्राहित्वात् ।
- पं. ६. तत्प्रथमतयैवेति, यो येन भावेन पूर्वं नासीद्विदानीं च जातः स तेन भावेन तत्प्रथम उच्यते तेन प्रथमः, सा चासौ प्रथमता चेति वेति विग्रहः । असाधारणं तादृशापरज्ञानाभावाद् अनन्यसदृशम् । पं. ७. अनन्तं अप्रतिपातित्वेनाविद्यमानपर्यन्तं ज्ञेयानन्तत्वाद्वा अनन्तं केवलमुच्यते ।
- 25 पं. ९. आहृत्यादि, एतेषु मध्ये आदौ मतिश्रुतोपन्यासः किमर्थः ? उच्यते, स्वाभ्यादिकारणपट्टकं प्रतीय मति-श्रुतयो-रुपन्यासः, नवरमाभिनिवोधिकं ह्यौत्पत्तिक्यादिमतिप्रधानत्वान्मतिरप्युच्यते । कालो द्विधा—नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च । स चायं द्विविधोऽध्यनयोस्तुल्य एव, नानाजीवापेक्षया द्वयोरपि सर्वकालमनुच्छेदात्, एकजीवापेक्षया तूभयोरपि निरन्तरसातिरेक-सागरोपमपट्टपट्टिस्थितिकत्वेनात्रैवाभिधास्यमानत्वात् । कारणमपीन्द्रिय-मनोलक्षणं स्वावरणक्षयोपशमस्वरूपं च द्वयोरपि समानम् । उभयस्यापि "सन्वयं सम्मत्तं" [आव० नि० गा० ८३० विशेषा० गा० २७५१] इत्यादिना सर्वद्रव्यादिविषयत्वाद् विषय-
- 30 तुल्यता । पं. १६. तत्र आदेशत इति, आदेशः-प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च । सामान्यतो द्रव्यजातिं जानीते, विशेषतो धर्मास्तिकायादेरेव देशादिविभागं जानीते । पं. १७. इन्द्रियादिपरनिमित्तत्वाद्भयोः परोक्षत्वसमता ।

१ मनःपर्यवव्युत्पादनं नास्ति हारिभद्रयां व्याख्यातम् ॥

पं. १८. ननु यद्यनयोः परस्परमेवं तुल्यता तर्हेकत्र द्वयोरप्युपन्यासोऽस्तु, आदावेव तु तदुपन्यासः कथम् ? इति, उच्यते, मति-श्रुतज्ञानसद्भावे एव शेषावध्यादिज्ञानलाभादादौ तदुपन्यासः, नहि स कश्चित् प्राणी भूतपूर्वोऽस्ति भविष्यति वा यो मति-श्रुतज्ञाने अनासाद्य प्रथममेवावध्यादीनि शेषज्ञानानि प्राप्तवान् प्राप्नोति प्राप्स्यति वेति भावः । तदुक्तम्—

जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिं तुल्लाइं । तम्भावे सेसागि य, तेणाऽऽईए मइ-सुयाइं ॥ [विशेषा० गा० ८५]

भवतु तर्हादौ मति-श्रुतोपादानम्, केवलं पूर्वं मतिः पश्चात्तु श्रुतमित्यत्र किं कारणम् ? उच्यते—मतिपूर्वकत्वादित्यादि ।

पं. २०. मइपुव्वं० गाहा । व्याख्या—मतिः पूर्वं—प्रथममस्येति मतिपूर्वं 'येन' कारणेन श्रुतज्ञानं तेन श्रुतस्थाऽऽदौ 5 मतिः तीर्थकर-गणधरैरुक्तेति शेषः, नह्यवग्रहादिरूपे मतिज्ञाने पूर्वमप्रवृत्ते काप्यभिलाषलापलावितार्थग्रहरूपश्रुतप्रवृत्तिरस्तीति भावः । "विसिट्ठो वा मइमेओ चेव सुयं" ति यदि वा इन्द्रिया-ऽनिन्द्रियनिमित्तद्वारेणोपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव, केवलं परोपदेशादा-गमवचनाच्च भवन् विशिष्टैः कश्चिन्मतिभेद एव श्रुतम्, नान्यत् । यतश्च विशिष्टमत्यंश एव श्रुतं ततो मूलभूताया मतेरादौ विन्यासः, तद्वेदरूपं तु श्रुतं मतिसमनन्तरं भणितमिति गाथार्थः ॥

पं. २३. मति-श्रुतज्ञानानन्तरमवधेस्वपन्यासः कालादिचतुष्टयसाधर्म्यात्, नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च मति- 10 श्रुताभ्यां सहावधेः समानस्थितिकालत्वात् कालसाधर्म्यम् । पं. २४. प्रवाहापेक्षयेति, सर्वजीवानाश्रित्य सर्वाद्भिः एकजीवा-

पेक्षया सागरषट्पट्टिः साधिका स्थितिकालः । पं. २५. यथा च मिथ्यात्वोदये मति-श्रुतज्ञाने अज्ञानरूपं विपर्ययं प्रतिपद्येते

तथाऽवधिरपीति विपर्ययसाधर्म्यम् । पं. २६. य एव मति-श्रुतयोः स्वामी स एवावधेरपीति स्वामिसाधर्म्यम् ।

पं. २७. लाभोऽपि कदाचित् कस्यचिदमीषां त्रयाणामपि ज्ञानानां युगपदेव भवतीति लाभसाधर्म्यम् ।

पं. २८. अवध्यनन्तरं मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासः छद्मस्थादिकारणचतुष्टयात्, तत्र विषयसाधर्म्ये उभयोरपि 15 पुद्गलमात्रविषयतासाधर्म्यं यद्यपि सामान्येन तथाप्यस्य मनोवर्गणाविशेषतो विषयः । पं. ३२. सर्वज्ञानानामुपरि केवलस्यो-

पन्यासः तस्योत्तमत्वात्, सर्वोत्तमं हि केवलज्ञानम्, अतीता-ऽनागत-वर्तमाननिःशेषज्ञेयस्वरूपावभासित्वात् । सर्वज्ञानानां लाभेऽवसान एवात्य लाभान्ना भन्ते निर्देशः । विपर्ययाभावश्च साधर्म्यम् ।

[पृष्ठ २०]

पं. ९. अश्रुते—केवलाद्युत्पत्तौ ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीति उगादिनिपातनाद् अक्षः—जीवः । यद्वा अश्नाति 20 समस्तत्रिभुवनान्तर्वर्तिनो देवलोकसमृद्ध्यादीनर्थान् पालयति भुङ्क्ते चेति निपातनाद् अक्षः—जीवः, अश्नातेभोजनार्थत्वात्, भुजेश्च पालना-ऽन्वयवहारार्थत्वादिति भावः, तमक्षं—जीवं प्रति साक्षाद् गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यद् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।

पं. १०. अत एवोक्तम्—अपरनिमित्तमिति, न परम्—इन्द्रियादि निमित्तं यस्योत्पत्तौ अक्षं—जीवं विमुच्य तदपरनिमित्तम्, अत एवार्तान्द्रियमेतत्, अवध्यादित्रयस्यैव साक्षादर्थपरिच्छेदकत्वेन जीवं प्रति साक्षाद् वर्तमानत्वात् प्रत्यक्षव्यपदेशः ।

पं. ११. विचित्रतां चास्येति, अवध्यादिप्रत्यक्षस्य परेभ्योऽक्षस्य—जीवस्य यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् परोक्षम्, यस्माद् द्रव्ये- 25 न्द्रियाणि द्रव्यमनश्चाक्षस्य—जीवस्य पराणि वर्तन्ते, भिन्नानित्यर्थः । कुतः परत्वम् ? द्रव्येन्द्रिय-मनसोः पुद्गलमयत्वादिति । इदमुक्तं भवति—अपौरुषलिकत्वादमूर्तो जीवः, पौरुषलिकत्वान्मूर्तानि द्रव्येन्द्रिय-मनांसि, अमूर्ताच्च मूर्तं पृथग्भूतम्, ततस्तेभ्यः पौरुषलिकेन्द्रिय-मनोभ्यः यन्मति-श्रुतलक्षणं ज्ञानमुपजायते तद् धूमादेरग्न्यादिज्ञानवत् परनिमित्तत्वात् परोक्षमुच्यते । यद्वा परैः—इन्द्रियादिभिः उक्षा—सन्धन्धनं लिङ्गानुमेये प्राह्य-ग्राहकलक्षणं अस्य ज्ञानस्य तत् परोक्षम् । पं २४. द्रव्येन्द्रियमित्यादि,

अतो-वहिनित्वती, तस्सत्तिसरूवगं च उवगरणं । दर्विदियमियरं पुण लद्भुवओर्गहिं नायव्यं ॥१॥ [

] 30

कर्णपटिकादि बाह्यसंस्थानं बहिर्निर्दृष्टिः, कदम्बपुष्पगोलकागाकृतिभ्रान्तनिर्दृष्टिः, तन्त्रकतिनिरोप-भोगकर्मम् । यथा सद्गुणे सद्गुः तद्गारा तच्छेदनशक्तिश्चेति त्रयं व्याप्रियते, एवं द्रव्येन्द्रियगोचरं निर्दृष्टिरयं तन्त्रकतिभेति त्रयं ज्ञानं प्रति व्याप्रियते ।

पं. २७. नोऽन्द्रियप्रत्यक्षमिति, यत्रेन्द्रियं सर्वथैव न प्रवर्तते किन्तु जीव एव साक्षात् पश्यति तन्नोऽन्द्रियप्रत्यक्ष-मवध्यादि ।

[पृष्ठ २१]

पं. ४. उपचारतः प्रत्यक्षमिति, इहेन्द्रियं श्रोत्रादि, तदेव निमित्तं सहकारिकारणं गत्योत्पिरोस्तदा (ः द्र)लैङ्गिकं शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शविषयज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम् । इदं चेन्द्रियलक्षणं जीवात् परं—व्यतिरिक्तं निमित्तमाश्रित्योत्पद्यते इति धूमादग्निज्ञानमिव वस्तुतोऽर्थसाक्षात्कारिवाभावात् परोक्षमेव, केवलं लोकेऽस्य प्रत्यक्षतया रूढत्वात् संव्यवहारतोऽत्रापि प्रत्यक्षत्वमुच्यते, न परमार्थतः, परमार्थतोऽवध्यादिकमेव प्रत्यक्षम्, इन्द्रियाद्यनपेक्षत्वात् । कथं ज्ञायत इत्यादि, मुख्यतोऽपीन्द्रियप्रत्यक्षं किमिति न स्यादिति वितर्कार्थः । पं. ६. न चेत्यादि, मति-श्रुते विमुच्येन्द्रियज्ञानमपरं न किञ्चिदस्ति यत् प्रगुणन्यायेन मुख्यतः प्रत्यक्षं भवेत् । इन्द्रियज्ञानस्य मति-श्रुताभ्यां पार्थक्ये पृष्ठज्ञानप्रसङ्गः, तस्मादिन्द्रियज्ञानस्य मति-श्रुतयोरेवान्तर्भावः । मति-श्रुते च परोक्षे अभिहिते, तत्परोक्षत्वे इन्द्रियज्ञानस्यापि परोक्षत्वमेव पारमार्थिकम् । पं. ८. आह्वेत्यादि, धूमादग्निज्ञानवत्, न त्वक्षजमिति भावः । इह यदित्यादि, हन्त-! इहापीन्द्रिय-मनोभिर्गृहीते वाक्ये धूमादौ लिङ्गेऽन्यादिविषयं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेकान्तेन परोक्षम्, इन्द्रिय-मनसामात्मनश्च तद्ग्राह्यार्थस्य एकान्तेन परोक्षत्वादिति भावः । पं. १०. यत् पुनरित्यादि, लिङ्गमन्तरेणैव यदि-

न्द्रिय-मनसां वस्तुसाक्षात्कारित्वेन ज्ञानमुपजायते तत् तेषां प्रत्यक्षत्वाद्धोक्तव्यवहारमात्रापेक्षया प्रत्यक्षमुच्यते, अलिङ्गत्वात्, अवध्यादिवत्, न त्वात्मनस्तत् प्रत्यक्षमिति शेषः । इन्द्रिय-मनोभवं ज्ञानमात्मनः परोक्षमेव, परनिमित्तत्वात्, धूमादग्निज्ञानवत् ।

पं. ११. यथेवं यलिङ्गमन्तरेणैव साक्षादिन्द्रिय-मनोनिमित्तं ज्ञानमुत्पद्यते तत् परमार्थतः प्रत्यक्षमस्तु, किं तदपि परोक्षत्वे-नेष्यते? नैवमित्याह—इन्द्रियाणामपीत्यादि, इन्द्रिय-मनांसि ज्ञानजनकत्वेनाऽऽत्मनो व्याप्रियन्ते इति ज्ञाननिमित्तत्वेन साक्षाद् व्याप्रियमाणत्वादुपचारतोऽक्षं—इन्द्रियं प्रति वर्तते इतीन्द्रियप्रत्यक्षमुच्यते, न तत्त्वतः; यतो यदिन्द्रिय-मनोनिमित्तं ज्ञानमुत्पद्यते तदप्यात्मनः, न त्विन्द्रियाणाम्, तेषामचेतनत्वात् । एतेन ये वैशेषिकादयो अक्षं—इन्द्रियं प्रति गतं प्रत्यक्षमितीन्द्रियाणां साक्षाद् घटाद्यर्थोपलब्धेर्घटादिज्ञानं प्रत्यक्षमिच्छन्ति तत्र युज्यत इत्यावेदितम्, इन्द्रियाणामचेतनत्वेन ज्ञानायोगात् । तथाहि—यदचेतनं तत्र जानाति, यथा घटादि, अचेतनानि चेन्द्रियाणि, कुतस्तेषामुपलब्धिः प्रत्यक्षं भवेत्? । एवं मूर्तिमत्त्वात् स्पर्शादिमत्त्वाच्च न जानन्ति । न च वाच्यम्—‘इन्द्रियाणि न जानन्तीति प्रत्यक्षविरोधिनी प्रतिज्ञा, तेषां साक्षात्कारेणाथोपलब्धेरनुभवप्रत्यक्षेण प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात्’ [इति], यतश्चक्षुरादीन्द्रिये करणतया व्याप्रियमाणे वस्तूनामुपलब्धा आत्मैव, न त्विन्द्रियम्, चक्षुरादीन्द्रियोपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मर्तृत्वात् । इह यो येषूपरत्वेऽपि तदुपलब्धानर्थाननुस्मरति स तत्रोपलब्धा दृष्टः, यथा गृहगवाक्षोपलब्धानामर्थानां तद्विगमेऽप्यर्थानुस्मर्ता देवदत्तादिः, अनुस्मरति चेन्द्रियविगमेऽपि तदुपलब्धमर्थमात्मा, तस्मात् स एवोपलब्धा । यदि पुनरिन्द्रिया-प्युपलम्भकानि स्युस्तदा तद्विगमे कस्यानुस्मरणं स्यात्?, न ह्यन्येनोपलब्धेऽर्थेऽन्यस्य स्मरणं युक्तम्, अस्ति चानुस्मरणम्, तस्मान् जानन्तीन्द्रियाणि । ततश्चेन्द्रिय-मनोनिमित्तमात्मनो ज्ञानं परनिमित्तत्वात् परोक्षमति-श्रुतान्तर्भावाच्चानुमानवत् परोक्षं तत्त्वतः, संव्यवहारतस्तु प्रत्यक्षम् । पं. १२. अत एवाह—अत्र बहु वक्तव्यमित्यादि, मनोनिमित्तस्यापि ज्ञानस्य परनिमित्तत्वाद-

नुमानवत् परोक्षत्वं ज्ञेयम् । न च वक्तव्यम्—‘आगमेऽस्य तत् परोक्षत्वं न कचिद् विशेषतोऽभिहितम्’ [इति], यतो मति-श्रुतयोरगमे परोक्षत्वस्य विशेषतो भणनात्, मनोनिमित्तस्यापि च ज्ञानस्य तदन्तःपातित्वादिन्द्रियज्ञानस्येव परोक्षत्वं सिद्धमेवाऽऽह ।

पं. १६. अत एवाह—इह मनोज्ञानमपीत्यादि, योग-क्षेमौ आक्षेप-परिहारौ तुल्यावस्येन्द्रियज्ञानेन सहेति ।

पं. ३०. कायन्ति शब्दयन्ति योग्यतया तद्वेतुकमोपादानत इत्यर्थः ।

[पृष्ठ २२]

पं. ४. उदय० गाहा । व्याख्या—उदयः क्षयः क्षयोपशम उपशम इत्येते चत्वारः कर्मणोऽवस्थाविशेषाः 'यद्' यस्माद् भणिता एते प्रवर्तन्ते इत्यर्थः । कथम्? इत्याह—'द्रव्यं क्षेत्रं कालं भवं च भावं च सम्प्राप्य' इति द्रव्याद्यपेक्षाः सन्तः स्युः, न यतस्तत् इत्यर्थः । तत्र पीतमदिरस्य भक्षितहृत्पूरकस्य वा ज्ञानान्यथात्वं द्रव्याद् भवतीति प्रतीतम्, सण्डूक-ब्राह्मी-कङ्कुणीतैलादिपानादिना क्वचित् कदाचिदज्ञाननिवृत्तिश्च भवति । देवताराधन-मन्त्रादिस्मरणतश्च सा भवतीति भावापेक्षाऽप्यसौ । एवं स्रक्-चन्दनाऽङ्गना-ऽऽरोग्यत्वादिद्रव्य-भावापेक्षः साताद्युदयो भवति । तथा निद्रादिपञ्चक्रोदयो भक्षितमाहिपदधि-वृन्ताकादिद्रव्यस्य जीवस्य तत्त-द्रव्यसपेक्ष्य भवन् द्रव्यापेक्षः । सजलादिक्षेत्रं प्राप्य स एवातिशयेन भवतीति क्षेत्रापेक्षः । निद्रोदयस्यैव रजन्यादिकः कालः विशेषतो ग्रीष्मो वा इति कालापेक्षः । स एवैकेन्द्रियादिभवं प्राप्य पृथिव्यादिवनस्पतीनां विशेषतो निद्रोदय इति भवापेक्षः । स एव चित्तत्वात्ख्यादिभात्रमपेक्ष्य भवन् भावापेक्ष इति । एवं द्रव्यादयः परस्परं सव्यपेक्षाः सन्तः कर्मणामुदय-क्षय-क्षयोपशमोपशमरूपं क्वचित् कदाचिदवस्थाविशेषं जनयन्तीति क्षयोपशमजोऽप्यवधिर्देव-नारकयोर्भवप्रत्ययो भवति, अवश्यं तस्य तत्र भावात् । तिर्यग्मनु- 1
प्याणां भवे सत्यप्यसौ क्षयोपशमज एव, क्वचित् कदाचिदेव भावाद् इति प्रकृतोपयोगि । अन्यच्च तृणाद्याहारस्तजप्रभूतभारोद्बहन-सामर्थ्यं च तिरश्चां भवप्रत्ययं भवति । नारकाणां तादृशमारणान्तिकवेदनाधिसहनसामर्थ्यं भवप्रत्ययं भवति, एवं वीर्यान्तराय-कर्मक्षयोपशमात् केचिन्महासामर्थ्योपेता मनुष्या अपि दृश्यन्ते, केचित् प्रबलवीर्यान्तरायोदयात् तृणकुञ्जीकरणेऽप्यसमर्था इति । एवं सर्वत्र द्रव्याद्यपेक्षया उदयादयः प्रवर्तन्ते इति गाथार्थः ॥

अवधानमवधिः—इन्द्रियाधनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम् । अवधेरैव ज्ञानमवधिज्ञानम् । अथवा अवधिः—मर्यादा, तेनाव- 1
धिना—रूपिद्रव्यमर्यादात्मकेन ज्ञानमवधिज्ञानम् । तद् भवप्रत्ययं नारक-देवानाम्, गुणप्रत्ययं मनुष्य-तिरश्चाम् ।

[पृष्ठ २३]

पं. १. तद् द्विविधं सत् षोढा आनुगामुकादिभेदात् । आ—अभिविधिना अनुगमनशीलमानुगामुकम्, यत्र उत्पन्नं ततो देशान्तरगतमपि ज्ञानिनं यदनुगच्छति लोचनवत् तदानुगामुकम् १ । यत्र क्षेत्रे उत्पन्नं तत्रस्थ एव पश्यति नान्यत्र गत इति, यत् तद्देशस्थितस्यैव भवति स्थानस्थदीपवत्, तत् तद्देशनिवन्धनक्षयोपशमजत्वाद् देशान्तरगतस्य तु भ्रंशाद् अनानुगामुकम् २ । 20
वर्द्धमानकं यदङ्गुलासंख्येयभागादिविषयमुत्पद्य पुनः वर्द्धि—विषयविस्तरणात्मिकां याति यावदलोके लोकप्रमाणान्यसंख्येयानि खण्डार्दानि ३ । हीयमानकं यद् ज्वन्येनाङ्गुलासंख्येयभागविषयम् उत्कर्षेण सर्वलोकविषयमुत्पद्य पुनः संकलेशवशात् क्रमेण हानि—विषयसङ्कोचात्मिकां याति यावदङ्गुलासंख्येयभागस्ततोऽपि प्रतिपतति, येन त्वलोकस्य प्रदेशोऽपि दृष्टस्तस्य न हीयते ४ । प्रतिपाति क्रियन्तमपि कालं स्थित्वा ततो ध्वंसनस्वभावं यदित्यर्थः ५ । अप्रतिपाति आमरणान्तभावि यदित्यर्थः ६ । अत्र चाप्रतिपाति ज्ञानमनुगाम्येव भवति, आनुगामुकं त्वप्रतिपाति प्रतिपाति च भवतीत्युभयोर्विशेषः । तथा प्रतिपाति प्रतिपतयेव, 25
पतितमपि च देशान्तरे गतस्य कदाचिज्जायते, न चेत्थमनानुगामुकम्, यत् इदं यत्र देशे तिष्ठतः समुत्पन्नं तत्रैव तिष्ठतश्चयते न वा, च्युतमपि देशान्तरे पुनरप्युत्पत्तिप्रदेशे समयातस्य भवतीति प्रतिपात्यनानुगामुकयोर्भेदः । पं. १५. तच्च फट्ट-कावधित्वादिति, अपवरकादिजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्थानानीवाऽवधिज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यान्यवधिज्ञाननिर्गमस्थानानीह फट्टकान्युच्यन्ते, तानि चैकत्रीवस्य संख्येयान्यसंख्येयानि च भवन्ति, तैर्यदवधिज्ञानं जीवस्य तत् फट्टकावधीत्युच्यते । तत्र सकल-जीवोपयोगे सत्यपि साक्षादेकदेशेनैव दर्शनादात्मप्रदेशान्तर्गतमुच्यते १ । सर्वात्मप्रदेशक्षयोपशमभावे सत्यन्यौदारिकशरीरैकदेशेनैव 30
दर्शनादौदारिकशरीरान्तर्गतमुच्यते २ । एकदिगुपलम्भाद् ज्ञानोद्योतितक्षेत्रान्तर्दृष्टैरवधिमत् एगदिगुद्योतितक्षेत्रान्तर्गतमुच्यते ३ ।

पं. १९. आत्ममध्यगतादिभेदेन मध्यगतमपि त्रिधा—तत्र सर्वाण्योपयोगे सत्यपि मध्य एव सर्वकष्टकविद्युद्विसद्भावान्

साक्षान्मध्यभागेनोपलब्धेरात्ममध्यगतमग्नीयते १ । सर्वांगनः प्रयोगःपण्योमादिदोषोऽपि कश्चिद्गम यभागेनोपलब्धोद्गमिक-
शरीरमध्यगतमुच्यते २ । सर्वदिगुपलभादवभिज्ञानप्रकाशितो मध्य एव जामिनः सत्त्वान् क्षेत्रा यमनर्माग्नीयते ३ ।

पं. २४. अन्तगतं भ्रूयोऽपि पुरतोऽन्तगतादिभेदान् मिया-पुरतः अगेवभागेऽस्मिन् पाणुकापेयादीनाम् । मार्गतः
पृष्ठतः । पासउ त्ति पार्श्वतः । पं. २९. उल्का दीपिका, केजुभेति या प्रसिद्धा । मणिं न त्ति प्रदीपशिक्षा मणिविशेषः,
आदिप्रहणादन्योऽप्येवंजातीयो ग्राह्यः । प्रदीपः कलिकारूपः । प्रेरयन् प्रेरयन् आकर्षन् आकर्षन् ।

[पृष्ठ २४]

पं. २. नान्यत्रेति, पृष्टि-पार्श्वयोः । पं. ५. मार्गतोऽन्तगतसूत्रे-उल्कादिकं अणुकड्डेमाणे अणुकड्डेमाणे ति
अनुकर्षन् अनुकर्षन् गच्छेत् । पं. ८. पार्श्वतोऽन्तगतसूत्रे-उल्कादिकं प्रदीपान्तं ज्योतिर्वस्तु पार्श्वतः कृत्वा परिकड्डेमाणे
परिकड्डेमाणे त्ति परिकर्षन् परिकर्षन् गच्छेत् । पं. १३. मध्यगतसूत्रे-मस्तकस्थेन ज्योतिर्वस्तुना यथा कश्चिद् गच्छेत्
सर्वत्र तत्प्रकाशितमर्थं पश्येत्, एवं मध्यगतावधिज्ञानिन्यपि योग्यम् । पं. २४. विशुद्धफड्डकैरिति, विशुद्धक्षयोपशमजन्य-
फड्डकानि विशुद्धफड्डकान्युच्यन्ते, तैरित्यर्थः ।

[पृष्ठ २६]

पं. ७. द्रव्यलेश्योपरञ्जितमिति, तत्र—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्थेव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥१॥ []

साचिव्यं-सान्निध्यम् । पं. ११. जाचइया० गाहा-त्रिसमयाहारक इति वाक्यम् । यद्वा आहारयतीत्याहारकः, त्रीन्
समयानाहारकत्रिसमयाहारक इति व्युत्पत्तिः । पं. १९-२४. योजनेत्याधार्यापट्कम्-यो मत्स्यो योजनसहस्रायामः स्व-
देहस्यैवैकदेशे उत्पद्यमानः स प्रथमे समये आयामं सङ्क्षिपति । तं च सङ्क्षिपन् प्रतरं करोति, कथम्भूतम् ? इत्याह-‘सङ्ख्या-
तीताख्याङ्गुलविभागवाह्यमानं’ वाह्येनाङ्गुलासङ्ख्येयभागसूक्ष्ममित्यर्थः । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह-स्वकेति, मत्स्यदेह-
विस्तीर्णम्, शरीरान्तःसम्बद्धत्वाद्दूर्वाधस्तिर्यक् च यावान् मत्स्यदेहस्य विस्तरस्तावांस्तज्जीवप्रदेशप्रतरस्यापीत्यर्थः । एवं चाऽऽयामतो
विष्कम्भतश्च मत्स्यशरीरपृथुत्वतुल्योऽङ्गुलासङ्ख्येयभागवाह्यश्चायं प्रतरो भवतीत्येष प्रथमसमयव्यापारः, प्रतरमेतावन्मात्रं
करोति । द्वैर्धेणापि, कुतः ? जीवसामर्थ्यात्, ततो द्वितीयसमये ‘तं’ प्रतरमायामतो विष्कम्भतश्च संक्षिप्याऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग-
वाह्यं मत्स्यशरीरपृथुत्वायामां सूचिं करोति । ततस्तृतीयसमये या निजतनुपृथुत्वेन दीर्घा सूचिः तामपि सूचिं सङ्क्षिप्याङ्गुला-
सङ्ख्येयभागमात्रावगाहनो भूत्वा निर्जाणमत्स्यभवायुर्दीर्घपरभवायुश्चाविग्रहगत्या मत्स्यशरीरस्यैवैकदेशे ‘पनकः’ सूक्ष्मवनस्पति-
जीवविशेषो भवति । अस्मादुत्पादसमयात् तृतीयसमये यद् देहमानमङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रं एतस्य पनकस्य, तद् ज्वन्मवधेर्विषय-
भूतं ‘क्षेत्रं’ तज्ज्ञेयद्रव्याधारम् । एतेन तज्ज्ञेयद्रव्याधारत्वेनैव क्षेत्रमवधेर्विषय उच्यते, न तु साक्षात्, तस्यामूर्तत्वात्, अवधेस्तु मूर्त-
विषयत्वादिति । पं. २६. स एव चेत्यादि, यो हि योजनसहस्रायामो महाकायो मत्स्यस्त्रिभिश्च समयैरात्मानं सङ्क्षिपति
स किल प्रयत्नविशेषादतिसूक्ष्ममवगाहनां कुरुते, नान्यः, अनेन ‘किमिति मत्स्योऽतिमहान् गृह्यते ? तृतीयसमयसंक्षिप्तश्च’
इत्येतस्य द्वयस्योत्तरमदायि । द्वौ च गत्वाऽन्यत्र यद्युत्पद्यते विग्रहेण च गच्छति तदा जीवप्रदेशाः किञ्चिद् विस्तरं यान्तीत्यवगाहना
स्थूलतरा स्यादित्यविग्रहगत्या स्वशरीरदेश एवोत्पादित इत्येतत् स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । पं. २७. किं त्रिसमयाहारको
गृह्यते ? अत्रोत्तरमाह-प्रथमेत्यादि । पं. २८. त्रिसमयाहारकव्यविषये केचनाऽऽचार्या व्याचक्षते, यदुत-द्वौ तावन्म-
त्स्यस्य समन्वितिनौ आयसमयौ गृह्येते-आयामसंहरणेन प्रतरकरणमित्येकः, तत्संहरणेन सूचिं यत्र करोति स द्वितीय इत्यायाम-

१ ऋदुष्टेति जे० ॥ २ मत्स्यशरीरपृथुत्वमायामो यस्या. जेटि० ॥

विष्कम्भयोः संहरणसमयद्वयम्, तृतीयसमयस्तु सूचिसंहरण-पनकत्वेनोत्पादश्चेति त्रयम्, ततश्च त्रयः समया यस्यासौ त्रिसमयः, अविग्रहेगोत्पत्तेराहारकश्च; एवं च सति प्रत्युताऽतिसूक्ष्मपनकश्चायं सिद्धो भवति, तथा च सति "तिसमयाहारगस पगगजीवस्से"ति सूत्रकारवचनमारार्थितं भवति, किञ्चेह यथा सूक्ष्मः सूक्ष्मरोऽसौ भवति तथा कर्तव्यम्, एतच्चास्मिन् व्याख्याने सविशेषं सिध्यति, उत्पादसमय एव यतो यस्मादसौ पनकजीवोऽतिजघन्यावगाहनो भवति, न शेषसमयेषु, द्वितीयादिष्वीपन्महत्त्वात्, जघन्यावगाहनश्च सूत्रे प्रोक्तः, ततोऽतिसूक्ष्मत्वसिद्धेस्तस्य पनकदेहस्य समानमेव किलावधेर्विषयभूतं जघन्यं क्षेत्रं भवतीति । न युक्तमिदं 5
कैषाञ्चिद् व्याख्यानम्, त्रिसमयाहारकत्वस्य पनकविशेषणत्वेनोक्तत्वात्, मत्स्यसमयद्वयस्य च पनकसमयव्यायोगात्; योऽपीत्यमपि जघन्यावगाहनालामलक्षणो गुण उद्भाव्यते सोऽपि न युक्तः, यस्मान्नेऽतिसूक्ष्मेगातिमहता वा किञ्चित् प्रयोजनम्, किं तर्हि ? योग्येन, योग्यश्च स एव तद्वैतृभिर्दृष्टो यः प्रथमं जघन्यावगाहनः संस्तस्मिन्नेव भवे समयत्रयमाहारं गृह्णाति ।

[पृष्ठ २७]

पं. ४. सर्ववह्निजीवाः 'निरन्तरं' सततं नैरन्तर्येणेत्यर्थः 'यावदिति' यत्प्रमाणं 'क्षेत्रम्' आकाशं वक्ष्यमाणविशिष्टसूची- 10
रचनया रचिताः सन्तः 'भृतवन्तः' व्याप्तवन्तः । पं. ५. भूतकालनिर्देशश्चाजितस्वामिकाल एव वक्ष्यमाणयुक्त्या प्रायः सर्ववहवोऽनलजीवा भवन्त्यस्यामवसर्पिण्यामित्यस्यार्थस्य ह्यापनार्थः । अनलजीवोत्पत्तेर्महावृष्ट्यादिव्याघाताभावे समस्तभरतैरावत-
विदेहलक्षणपञ्चदशसु कर्मभूमिषु सर्ववहवो वादराग्निजीवा भवन्तीति । किमविशेषेण सर्वदैव एतास्वेते भवन्ति ? नैवम्, किन्त्व-
जितजिनेन्द्रकाले, अजितजिनेन्द्रस्याप्युपलक्षणत्वादवसर्पिण्यां द्वितीयतीर्थकरकाले अग्निजीवा वहवो भवन्ति ।

पं. १२. कुतः ? तदारम्भकपुरुषवाहुल्यादिति, तेषां-वादराग्निजीवानां आरम्भकाः-उत्पादकाः सन्धुक्षण-ज्वालनाद्या- 15
रम्भकरणात् तदारम्भका ये पुरुषास्तेषां वाहुल्यात् । कोऽर्थः ? सर्वेभ्योऽप्यतीता-ऽनागतेभ्यो वहवः प्रचुरा गर्भजमनुष्यास्तदा भवन्ति स्वभावादेवेति । आह-किमेतैरेव वादराग्निर्जावैः सर्ववह्निजीवपरिमाणं पूर्यते ? आहोश्चित् सूक्ष्माग्निभिः सह ? , यदि तैस्सह तदा तेऽविशिष्टा अपि गृह्यन्ते ? आहोश्चित् केचिदेव विशिष्टाः ? इति, उच्यते-स्वभावाद् यदा सूक्ष्माग्निजीवा अप्युत्कृष्ट-
पदिनः स्युः । इदमत्र हृदयम्-अनन्तानन्तास्ववसर्पिणीषु मध्ये स एव कश्चिद् द्वितीयतीर्थकरकालो गृह्यते यत्र सूक्ष्माग्निजीवा उत्कृष्टपदिनः प्राप्यन्ते, ततश्च तैर्वादैरैः सूक्ष्मश्चाग्निर्जावैरुत्कृष्टपदिभिर्मिलितैः सर्ववह्निजीवानां परिमाणं ग्राह्यम् । अत एवाह- 20
सूक्ष्माश्चेति । तत्रैवेति तेष्वेव मध्ये गृह्यन्ते । पं. १३. तेषां चावस्थानं बहुतरक्षेत्रपूरकं बुद्ध्या पोढा यद्यपि सम्भवति तथापि 'पञ्चाऽनादेशाः षष्ठस्त्वादेशः' इति वक्तुमाह-तेषां चेति, अयमर्थः-तैः सर्वैरप्यग्निर्जावैः समचतुरस्रो घनो द्विभेदः स्थाप्यते, कथम् ? इति, उच्यते-एकैकाकाशप्रदेशे एकैकाग्निजीवरचनया स्वावगाहे चाऽसह्येयाकाशप्रदेशलक्षणे एकैकाग्निजीवरचनयेति । अत्र स्थापना ३३३ । एतेषां नवानामग्निजीवानां प्रत्येकमेकैकाकाशप्रदेशे व्यवस्थापितानामधस्तादुपरिष्ठाच्चान्येऽपि नव नव जीवा इत्यमेव व्यवस्थाप्यन्ते, एष कल्पनया सप्ताविंशत्या सद्भावतस्त्वसह्येयैरग्निर्जावैरैकैकाकाशप्रदेशान्वयस्थापितैर्घनो मन्तव्यः । द्वितीयोऽपि 25
घन इत्यमेव द्रष्टव्यः, केवलमिहासंख्येयाकाशप्रदेशेष्वेकैकजीवो व्यवस्थाप्यते । एवमेकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनया असह्येय-
प्रदेशात्मकस्वावगाहस्थापनया च प्रतरोऽपि द्विभेदः, सूचिरपि द्विभेदा । तत्र घन-प्रतरपक्षश्चतुर्भेदः पञ्चमैकैकाकाशप्रदेशस्थापितै-
कैकजीवलक्षणसूचिपक्षोऽपि न ग्राह्यः, दोषद्वयानुपज्ञात् । तथाहि-पञ्चविधयाऽप्यनया स्थापनया स्थापिता अग्निर्जावाः पदस्वपि दिक्वधिज्ञानिनोऽसत्कल्पनया भ्रम्यमाणाः स्तोकमेव क्षेत्रं सृष्टान्तोऽप्येको दोषः, एकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनायामागम-
विरोधश्च द्वितीयो दोषः, असह्येयाकाशप्रदेशानन्तरणाऽऽगमे जीवावगाहनिषेधात् । पं. १५. असत्कल्पनया प्रतिप्रदेशा- 30
चगाहोऽप्यस्त्विति चेत्, नैवम्, कल्पनाऽपि सति सम्भवेऽविरोधिन्येव कर्तव्या, किं विरोधिन्या ? इत्यालोच्याऽऽह-पृष्ठः श्रुतादेश इति, असह्येयाकाशप्रदेशलक्षणे स्वावगाहे पङ्क्त्या एकैकजीवस्थापनेन यः सूचिलक्षणः षष्ठः पक्षोऽयं श्रुते आदिष्टत्वाद् प्रायः,

लम्बनत्वादवधेरित्ययं भावार्थः । पं. २९-३०. “ओही०” गाहा । सू. २९ गा. ५३ । “नमिभो एगो” ति पाठः, पाठान्तरे “वमिभो दुविहो” ति पाठः ।

[पृष्ठ ३१]

- पं. ५. नेरइय० गाहा [सू० २९ गा. ५४] । यस्य नेरन्तरेण सर्वाभोगिनोऽवधेरवदान् जीवोऽभ्यन्तरे वर्तते
5 सोऽभ्यन्तरावधिः । तथा च [आवश्यक]चूर्णिः—‘अभन्तरावही नाम’ जत्थ से टियस्स ओहिजाणं समुण्णं तओ ठाणाओ
आरब्ध सो ओहीनाणी निरंतरसंवद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं वा खेत्तं ओहिणा जाणइ पाराइ एसा अभन्तरावही” [विभाग १ पत्र
६३] अवधिमत्तः ‘वहिः’ बाह्योऽवधिः । अयमर्थः—“जत्थ से टियस्स ओहिनाणं समुण्णं तम्मि ठाणे सो ओहिनाणी न किञ्चि
पासइ, तं पुण ठाणं जाहे अंतरियं होइ अंगुल-विहत्थिमाईहि संखेजेहि असंखेजेहि वा जोयणेहि ताहे पासइ, एसा वैहिरावही”
[आवश्यकचूर्णि विभाग १ पत्र ६२-६३] । एवं चावधेर्द्विविधे नारका देवास्तीर्थकराथावधिज्ञानस्यावाद्या भवन्ति,
10 अवध्युपलब्धस्य क्षेत्रस्यान्तर्वर्तन्ते, अभ्यन्तरवर्तिन एव भवन्ति, अत एवावाद्यावधय एवैते प्रतिपाद्यन्ते, अभ्यन्तरावधय इत्यर्थः,
अवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य प्रदीपा इव निजनिजप्रभापटलस्य नैते वहिर्भवतीति भावः । तथाऽवधिना ‘पश्यन्ति’ अवलोकयन्ति, खलु-
शब्दस्यावधारणार्थत्वात् ‘सर्वत एव’ सर्वास्वेव दिक्षु विदिक्षु च, न तु देशत इत्यर्थः । ‘शोपाः’ तिर्यग्-मनुष्याः ‘देशेनेति’ एक-
देशेन पश्यन्ति, तत्र वाक्यावधारणविधेरिष्टतः प्रवृत्तेः शोपा एव देशतः पश्यन्ति, न तु शोपा देशत एवेति द्रष्टव्यम्, शोपास्तिर्यग्-
मनुष्याः सर्वतो देशतश्च पश्यन्तीति भावः । ननु ‘अवधेरवाद्या भवन्ति’ इत्यवध्युपलब्धक्षेत्रस्याभ्यन्तरे नारकादयो वर्तन्ते इत्युक्ते
15 सति ‘पश्यन्ति सर्वतः’ इति किमर्थं भण्यते ? ये ह्यवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य मध्ये वर्तन्ते ते सर्वतः पश्यन्त्येवेति गतार्थः वादतिरिच्यते ?
अत्रोच्यते—यो ह्यसम्बद्धवलयकारक्षेत्रप्रकाशकावधिर्भवति तद्वान् साध्यादिरवध्युपलब्धक्षेत्रस्यान्तः स्थितोऽपि न सर्वतः पश्यति,
अन्तरालादर्शनात्, अतस्तद्वचवच्छेदार्थं कर्तव्यं ‘पश्यन्ति सर्वतः’ इति ॥

- अथवा पूर्वार्द्धमन्यथा व्याख्यायते—तत्र के नियतावधयः ? के वाऽनियतावधयः ? इति प्रश्ने नारक-देव-तीर्थकरा अवधेर-
वाद्या भवन्तीति । कोऽर्थः—अवधिज्ञानवन्त एवामी भवन्ति, अवधिज्ञानं नियमेनैषां भवतीत्यर्थः । तत्रापि किममी तेनावधिना सर्वतः
20 पश्यन्ति ? देशतो वा ? इति संशये सत्याह—“पासंति” इत्याद्युत्तरार्द्धम्, अस्य व्याख्या तथैवेति । तत्रैतत् स्यात्—“भवप्रत्ययो
नारक-देवानाम्” [तत्त्वार्थ. अ. १ सू. २२] इत्यादिवचनात् तथा—“तिहिं नाणेहिं समग्गा तित्थयरा जाव होति गिहवासे ।”
[आव० भाष्य गा. ११० पत्र १८७] इत्यादिवचनात् पारभविकावधिसमन्वागमात् सिद्धमेव नारक-देव-तीर्थकराणां नियतावधिर्त्वं
तत् किमनेन ? ‘पश्यन्ति सर्वत एव’ इत्येतदस्तु, नैवम्, भवप्रत्ययादिवचसा सिद्धेऽमीषां नियतावधित्वे “ओहिस्सऽवाहिरा होति”
त्ति कालस्य नियमोऽयं विधीयते । इदमुक्तं भवति—भवप्रत्ययादिवचनात् सिध्यति नियमेन नारकादीनामवधिमत्त्वम्, परं न ज्ञायते
25 ‘किमाभवक्षयममीषामवधिर्भवति ? आहोस्वित् कियन्तमपि कालं भूवाऽसौ प्रतिपतति ? इति, ततश्च “ओहिस्सऽवाहिरा होति”
इत्यनेन कालनियमः क्रियते, ‘सर्वदा’ सर्वकालममीषामवधिर्भवति, न त्वन्तरालेऽपि प्रतिपततीति । आह—यथेवं तीर्थकृतां सर्वकाला-
वस्थायित्वमवधेर्विरुध्यते, केवलोत्पत्तौ तदभावात्, न, तेषां केवलोत्पत्तावपि वस्तुतस्तत्परिच्छेदस्याप्यनष्टत्वात् सुतरां केवलज्ञानेन
सम्पूर्णानन्तधर्मात्मकवस्तुपरिच्छित्तेः लघ्वस्थकालस्य चाविवक्षितत्वाददोषः ॥ इत्यवधिज्ञानं समाप्तम् ॥

[पृष्ठ ३३]

- 30 अथ मनःपर्यव्रजाने किञ्चिदुच्यते— पं. ७. उत्पत्तिस्वामीत्यादि. उत्पत्तेः स्वामी तस्य मार्गगा—अन्वेषणा
‘कौटिल्येदमुपजायते ? इत्येवंरूपा तस्या द्वारं तेनेति विग्रहः । पं. १३. उक्तं चेत्यादि, अयमत्र सम्बन्धः—राज्ञोपनीतं

१-२ अभन्तरलद्धी इति पाठः आव० चूर्णा ॥ ३ वाहिरलंभो आव० चूर्णा ॥

यत् सिंहासनं तत्रोपविष्टो भगवत्पादपङ्क्तिं वोपविष्टो ज्येष्ठोऽन्यो वा गगधरो द्वितीयपौरुष्यां सङ्घचयाऽतीता भवाः—असङ्घचेयास्तानपि कथयति, असङ्घचेयभवेषु यदभवद् यद् भविष्यति तत् सर्वं कथयति । 'यद् वा' यद् वस्तुजातं परः पृच्छेद् अभिलाष्यपदार्थगोचरं तत् सर्वं कथयति । किं बहुना ? 'न च' नैव "ग"मिति वाक्यालङ्कारे "अगाइसेसि" ति अनतिशयी अवध्याद्यतिशयरहित इत्यर्थः विजानाति 'यथैष गणधरश्छन्नस्थः' इति, अशेषप्रश्नोत्तरप्रदानसमर्थत्वात् तस्येति भाव इति गाथार्थः ॥ पं. १६. अत्रार्थे उत्तरत्रयमदायि । पं. २६. त्रीणि योजनशतानीत्यादि, हिमवांश्च शिखरी च हिमवच्छिखरिणौ तयोः पादा इव पादाः—अप्रभागास्तेषु प्रतिष्ठिताः—व्यवस्थिता एकोरुकादयोऽन्तरद्वीपाः । क्षेत्रसमासादिप्रन्थादेतत्स्वरूपं विज्ञेयम् । पं. २९. एकेषां मते पुद्गलद्रव्योपचयाद् यकाऽऽहारादिविषया शक्तिरुत्पद्यते सा पर्याप्तिरुच्यते । पं. ३०. सम्प्रति च—'तत्रेत्यादिना इत्येके' पर्यन्तेनापरमतेन पर्याप्तिस्वरूपमुक्तम् ।

[पृष्ठ ३४]

पं. ५. आसां युगपदिति ।

वेडेव्वा-ऽऽहाराणं शरीर अन्तो उ (? अंतमुहु), पण इगिसमया । पिह पण अन्तमुहुत्ता, उरले आहार सामइया ॥१॥

पं. ११. ये मिथ्यात्वात् सम्यक्त्वस्य प्रतिपत्त्यभिमुखाः, न तु सम्यक्त्वस्य परित्यागाभिमुखाः, ते जीवाः सम्यग्मिथ्या-दृष्टयोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं भवन्ति । पं. १२. किमित्येवं तल्लक्षणं व्याख्यायते ? इत्याह—यत् उक्तमिति ।

मिच्छंता संकंती अविरुद्धा होइ सम्म-मीसेसु । मीसाओ वा दोसुं सम्मा मिच्छं न उण मीसं ॥ १ ॥

इति गाथा परिपूर्णा । यतः सम्यक्त्वपुञ्जाद् मिश्रपुञ्जगमनं निषिद्धमनयेति भावः । संयतस्य सर्वप्रमादरहितस्य विविधद्विमत इदमुत्पद्यते, शेषश्च सम्यग्दृष्टिपर्याप्तकादिविशेषणकलापः सामर्थ्यलब्धोऽप्युच्यते प्रपञ्चितज्ञशिष्यावबोधार्थम् । पं. २६. अस्यां व्युत्पत्ताविति, ऋज्वी चासौ मतिश्चेति कर्मधारयरूपायाम्, यद्वा ऋज्वी—साक्षात्कृतेषु मनोद्रव्येषु अनुमितेषु चार्थेष्वल्पतरविशेष-विषयतया मुग्धा मतिः—विषयपरिच्छित्तिर्यस्य प्रमातुः स ऋजुमतिः । विपुलमतिरपि प्रमातैव ।

[पृष्ठ ३५]

पं. १२. द्रव्यत् इत्यादि । अनन्तप्रादेशिकान् मनस्त्वपरिणतानन्तस्कन्धसमूहमयमनोद्रव्यरूपान् स्कन्धान् जानाति । 20 क्षेत्रतस्तु ऋजुमतेरर्द्धतृतीयाङ्गलहीनो मनुष्यलोको विषयः । स एव विपुलमतेः सम्पूर्णा निर्मलतरः । कालतत्त्वेतावति क्षेत्रे भूत-भाविनोः पल्योपमासंख्येयभागयोरतीता-ऽनागतानि संज्ञिमनोरूपाणि मूर्त्तद्रव्याणि विषयः । भावतस्तु तत्पर्याया रूपादय-श्चिन्तनानुगुणा परिणतिरूपा ऋजुमतेर्विषयः । चिन्तनीयं तु मूर्त्तमूर्त्तं वा त्रिकालगोचरमपि बाह्यमर्थमनुमानादेवेति, 'यत् एत-त्परिणतीन्येतानि मनोद्रव्याणांति एतद्व्यथानुपपत्तेः अमुकोऽनेनार्थश्चिन्तितः' इति लेखाक्षरदर्शनात् तदुक्तार्थमिवाप्रत्यक्षं मनोद्रव्य-दर्शनाच्चिन्त्यमर्थमनुमिमीते । विपुलमतेश्चायं विषयः स्फुटतरः बहुतरविशेषाध्यासितत्वेन विमलतरोऽयस्यैः । तेन मनोगतद्रव्यस्कन्धान् 25 तद्रतचिन्तानुगुणान् सर्वपर्यायराश्यन्तभागरूपानन्तान् रूपादीन् पर्यायान् चिन्तनीयवाह्यपटादिवस्तुगतांश्च जानाति सविशेषान्, पल्योपमासङ्घचेयभागरूपे काले ये तेषां मनस्त्वपरिणमितमनोद्रव्याणां भूता अनागताश्च चिन्तनानुगुणाः पर्यायास्तान् सविशेषान्

१ वाक्या-ऽऽहारकयोस्तु शरीरपर्याप्तिः अन्तर्मुहूर्त्तम्, पय पर्याप्तयः एकैकसामयिक्यः । औदारिके पय पर्याप्तयः पृथग् आन्तर्माहूर्त्तियः, आहारपर्याप्तिः एकसामयिकी ॥ इति भावार्थगर्भा छाया । अत्रार्थे एषाऽपि प्रन्थान्तर्गता गाथाऽवधेया—वेडव्विय पज्जती शरीर अंतमुहु, सेम इगिसमया । आहारे इगिसमया सेसा, अंतमुहु ओराले ॥ १ ॥ इति । विचारसत्तिकायां तु मतमेदेन पर्याप्तिस्वरूपं दृश्यते—'उरल-विडव्वा-ऽऽहारे छण्ह वि पज्जति जुगवमारंभो । तिण्ह वि पडमिगसमए, वीआ पुण अंतमोहुत्ती ॥ ४४ ॥ पिहु पिहु असंयत्तमदयधंतमुहुत्ता उराल चडरो वि । पिहु पिहु समया चडरो वि हुंति वेडव्विया-ऽऽहारे ॥ ४५ ॥ छण्ह वि सममारंभे पडमा गमण, वि अंतमोहुत्ती । ति तुरिअ समए समए नुरेसु, पण-छट्ट इगिसमए ॥ ४६ ॥' इति ॥ २ इयं गाथा कल्पलघुभाष्ये ११४ गाथासमा ॥

- जानाति । पं. १५. "वज्जे" ति वागान् चिन्तनीयघटादीन् घाम्पदर्शितान्मानान् जानाति, न न सांजातिव्यर्थः । अनुमाना-
देव चिन्तनीयममूर्त्तमप्याकाशादिकं वस्तु अवगच्छति, दृश्यस्थामूर्त्तं साक्षात् पश्यति क्लिपेति भावः । पं. १८. अथ मनः-
पर्यायदर्शनं भिन्नं नोक्तं कथं 'पश्यति' इत्युच्यते ? सत्यम् . अचक्षुर्दर्शनाद्यं मनोस्त्वानोर्दृश्यं दर्शनविषयस्य दृश्यम्, तेनास्य
दर्शनसम्भवः । अयमर्थः—परस्य घटादिकमर्थं चिन्तयतः साक्षादेव मनःपर्यायज्ञानी मनोऽप्याणि तावज्जानाति, तान्येव च
5 मानसेनाचक्षुर्दर्शनेन विकल्पयति, अतो मानसाचक्षुर्दर्शनापेक्षया पश्यतीत्युच्यते । तत्रैकरथेन मनःपर्यायज्ञानेनः प्रमातुर्मनःपर्याय-
ज्ञानादनन्तरमेव मानस[म]चक्षुर्दर्शनमुत्पद्यते इत्यसावेक एव प्रमाता मनःपर्यायज्ञानेन मनोऽप्याणि जानाति, तान्येव चाचक्षुर्दर्शनेन
मानसेन पश्यतीत्यभिधीयते । पं. १९. एतदेवाऽऽह—एकप्रमात्रपेक्षयेति, ज्ञानानन्तरमाकित्वाच मानसाचक्षुर्दर्शनस्येति
कृत्वा सूत्रे पश्यतीत्युपन्यस्तम् । ओघतो वेति, विशेषोपयोगापेक्षया जानाति, सामान्याश्रोपयोगापेक्षया पश्यतीत्युक्तम् ।
पं. २१. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदात् त्रिधा मनःपर्यायज्ञानिनः क्षेत्रविषयो द्रष्टव्यः । तत्र ऋजुमतेरधोविषयोऽमुष्या रत्नप्रभायाः
10 पृथिव्या उपरिमाधस्थान् क्षुल्लकप्रतरान् यावन्मनोगतान् भावान् जानाति, ऊर्ध्वं यावज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितलम्, तिर्यक् च
मनुष्यलोकान्तम् । सोऽपि ऋजुमतेरर्द्धतृतीयाङ्गुलहीनः, इतरस्य सम्पूर्णः । शेषद्रव्याद्विषयं कथितं सुगमं चेति समुदायार्थः ।
वैशाखस्थानस्थं प्रसारितपादं कटिस्थकरयुग्मं पुरुषमिव लोकं व्यवस्थाप्य सर्वमिदं भावनीयमिति । पं. २३. प्राकृत-
चूर्ण्यक्षराणि च व्याख्येयानि एतदनुसारतः । रुचकाभिधानात् तिर्यग्लोकमध्याद् अधो यावन्नव योजनशतानि रुचकादेव चोर्ध्वं
नव योजनशतानि यावद् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलस्तावदेव समुदितोऽष्टादशशतयोजनमानस्तिर्यग्लोक इति । पं. २८. संवट्टो
15 कायव्वो ति संवर्त्तः—सङ्कोचनम् ।

[पृष्ठ ३६]

- पं. ३. तिरियल्लोयमज्जाउ ति रुचकाभिधानात् तिर्यग्लोकमध्याद् अधो यावन्नव योजनशतानि तावदमुष्या रत्नप्रभाया
उपरिमाः क्षुल्लकप्रतराः, क्षुल्लकत्वं च तेषामधोलोकप्रतरापेक्षया । तेभ्योऽपि येऽधस्तादधोलोकग्रामान् यावत् तेऽधस्तातः क्षुल्लक-
प्रतराः । पं. ५. अहव ति रयणप्पहपुढवीए इति न योज्यम् । पं. ६. अत्र पक्षे अण्णे इत्यादि ।
20 पं. ७. सन्वतिरियल्लोगवत्तिणो ति अष्टादशशतयोजनवर्तिनः । पं. ८. ताण चैव ति नवयोजनशतमध्यवर्तिनाम् ।
इमं च ति अधोलौकिकग्रामेषु मनःपर्यायज्ञानवाधात्वतः, यतस्तिर्यग्लोकस्थो मनःपर्यायज्ञानी पश्यतीत्यत्र मते आपन्नम् ।
अन्यच्च—

अहलोइयगामेसुं तिथयरा केवली य विजंति । जाण विजयाण मज्जे मेरुस्स य पच्छिमदिसाए ॥ १ ॥

- पं. १३. अपान्तरालगतावप्युत्पत्तिस्थानमप्रान्नुवन्तोऽपि संज्ञिनोऽभिधीयन्ते, तदायुष्केति आगामिभवायुष्कोदयवशात् ।
25 पं. १४. तेऽपि चेति इन्द्रियपर्याय्या पर्यायत्वभावात् पञ्चेन्द्रियव्यपदेशं लभन्ते, परं मनःपर्याय्या पर्याया एव पञ्चेन्द्रिया
प्रात्याः । पं. १६. हेतुवादोपदेशेनेति, हेतुः—निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्, तस्य वदनं—वादस्तद्विषय उपदेशः—प्ररूपणं
हेतुवादोपदेशः, तेन विकलेन्द्रियाः—द्वीन्द्रियादयः सचेष्टाकाः संज्ञिनः, पृथिव्यादय एव निश्चेष्टा असंज्ञिनः । हेतुवादश्चायम्—
संज्ञिनो द्वीन्द्रियादयः, हेयोपादेयेषु निवृत्ति-प्रवृत्तेः, देवदत्तादिवत्, तथा च तापादिसन्तताश्चायासमाश्रयणादि कुर्वन्तो दृश्यन्ते ।
पं. १८. विपुलमतिर्ऋजुमतेः सकाशात् जानाति पश्यति क्षेत्रमायाम-विष्कम्भावाश्रित्याभ्यधिकतरकम्, बाह्व्यमाश्रित्य
30 विपुलतरकम्, 'विशुद्धतरं' निर्मलतरं 'वितिमिरतरकं' तिमिरकल्पतदावरणस्य विशिष्टतरक्षयोपशमसद्भावात् ।
पं. २१. विशुद्धतरमित्यत्र दृष्टान्तपुरःसरं विशुद्धतरत्वं भावयति यथा चन्द्रेत्यादिना—कारणविशेषात् कार्यविशेषः किल
भवन्नुपलभ्यते, यथा चन्द्रकान्तादिविमलप्रकाशकद्रव्यविशेषाद् विमलप्रकाशयुक्तो द्रष्टा विमलं पश्यति, स एव चन्द्रकान्तादि-

विमलतरप्रकाशकद्रव्यविशेषाद् विमलप्रकाशयुक्तद्रष्टुः सकाशाद् विमलतरं पश्यति, एवं प्रकृतेऽपि तपश्चरण-विनय-ध्यानादि यः कारणभेदः ततस्तद्वशाद् विष्कम्भितोदयं यन्मनःपर्यायज्ञानस्याऽऽवरणम्—आवारकं कर्म तस्य मन्द-मन्दतरविशेषभावो भवति । यस्य तपश्चरणाद्यल्पं तस्य मन्दस्तदावरणविष्कम्भितोदयविशेषः, यस्याल्पतरं तस्य सोऽपि मन्दतरः, यस्य तपश्चरणादिभेदः प्रकृतः तस्य विष्कम्भितोदयविशेषोऽपि विमलः, यस्य तपश्चरणादि प्रकृततरं तस्य तदावरणविष्कम्भितोदयत्वमपि विशिष्टतर-मित्यक्षरगमनिका । पं. २३. उपशान्तं नाम विष्कम्भितोदयं यदावरणं तस्य विशेषादपि । तदावरणेति, तिमिरकल्पं 5 यत् तदावरणं तस्य क्षयेण सह उपशमः—उदीर्णानां कर्मणां क्षयेण वेदनकृतः अनुदीर्णानां चोपशमेन विष्कम्भितोदयत्वेन क्षयोपशमस्तस्य विशेषाद् 'वितिमिरतरं' आवरणतितिमिररहितम् । पं. २५. अथवेति प्राग्वह्यं यत् तदावरणं कर्म तस्य क्षयोपशमः प्रागुक्तस्तस्य प्राधान्याद् विशुद्धतरम् । बध्यमानावरणस्य विशेषस्तारत्नयेन यत्र तद् वितिमिरतरम् । पं. २६. अन्ये तु 'तदावरणस्य बध्यमानाभावेन वितिमिरं तदुच्यते' इत्याहुः । पं. २७. अथ 'वितिमिरादिविशेषणं क्षेत्रं जानाति पश्यति' इति कथमुच्यते ? क्षेत्रं ह्याकाशम् तस्य चामूर्त्तत्वात् कथं तद्विषये छत्रस्थस्य पश्यत्तासम्भवः ? इत्याशाङ्क्याह— 10 तात्स्थ्यादिति, क्षेत्रस्थं द्रव्यमपि क्षेत्रमुच्यते । समर्थितं मनःपर्यायज्ञानम् ॥

[पृष्ठ ३७]

केवलज्ञानमधुना । तत्र— पं. १६. कस्मिन् सिन्धे य० गाहा । नाम-स्थापना-द्रव्यसिद्धव्युदासेन शेषाः कर्मसिद्धा-दयश्चतुर्दशमी सिद्धभेदाः । तत्र कर्मणि सिद्धः कर्मसिद्धः, कर्मणि निष्ठां गत इत्यर्थः । एवं शिल्पसिद्धादिव्यपि वाच्यम् । नवरं कर्म-शिल्पयोर्विशेषोऽयम्—आचार्योपदेशाद् यद् न जातं तदनाचार्योपदेशजं सातिशयमनन्यसाधारणं कर्मोच्यते, यदाचार्योपदेशजं 15 ग्रन्थनिबन्धाद्वा उपजायते तत् सातिशयं कर्मापि शिल्पमुच्यते । अयं वाऽनयोर्विशेषः—यत् किल पीठफलक-मञ्चादिनिर्माणं तस्मिन्नेव क्षणे प्रारब्धं तदैव निष्पाद्यतेऽकालहीनं तत् कादाचित्कं शिल्पम्, न पुनः प्रासादादिवन्नित्यं प्रतिदिनं यत् क्रियते, प्रासादादि-निर्माणगादिकं तु बहुदिनसाध्यत्वादाचार्योपदेशजत्वात् सातिशयं नित्यव्यापारत्वात् शिल्पमपि कर्मोच्यते । अत एव बुद्धिप्रस्तावे वक्ष्यति—“कादाचित्कं वा शिल्पम्, नित्यव्यापारः कर्म” [पत्र ७७ पंक्ति २६] इति । कर्मसिद्धादिदृष्टान्तास्त्वान्यथाकाद 20 ज्ञेयाः । स्त्रीदेवताधिष्ठिता विद्या ससाधना च । पुरुषदेवताधिष्ठितो मन्त्रोऽसाधनश्च । योगोऽदृश्यीकरण-पादप्रलेपादिगोचरः । तत्र 20 योगसिद्धः पादलिप्ताचार्यवत्, आगमसिद्धो गौतमवत्, अर्थसिद्धो मम्मणवणिवत्, यात्रासिद्धो हन्तूमानवत्, अभिप्रायः—बुद्धिः तसिद्धः चाणक्या-ऽभयकुमारादिवत्, तपःसिद्धो दृढप्रहारिवत्, कर्मक्षयसिद्धो निरञ्जन-ऋषभादिवत् ।

पं. १९. सितं वद्मिति, सेतति—वञ्चति जीवमिति सितम् नान्युपधत्वात् [कातन्त्र ४-२-५१] के सितम्, “पिञ्ज वन्धने वा” भावे के सितमिति । पं. २८. सह योगेनेति—जीवव्यापारेण वर्तन्ते सयोगाः, योगा मनोवाक्याया एव, तेऽस्य सन्तीति सयोगी । 25

[पृष्ठ ३८]

पं. ५. तत्प्रथमतयेति, यो येन भावेन पूर्वं नासीद् इदानीं च जातः स तेन भावेन तत्प्रथम उच्यते, तस्याप्राप्तपूर्वत्वात्, प्राप्तस्य पुनर्ध्वसाभावात् । पं. ६. अन्यथा प्रतिपाद्यत इति, द्वैविध्यमिति शेषः ॥ पं. २७. अनन्तरभवगतो-पाधिभेदेनेति. अनन्तरभवगतश्चासावुपाधिभेदश्च स तथा तेन । उपाधिः—विशेषणम् ।

[पृष्ठ ३९]

पं. १. अचिन्त्यशक्तिसमन्वितं च तद् अविस्वादि च तद् उडुपकल्पं च—नौकल्पं नत् तयेनि समासः ।

पं. ४. तीर्थान्तरसिद्धा नाम ये सुविधिप्रभृतीनामष्टानां ज्ञान्तिनाशान्त्वानां विनानामन्तरेण ज्ञानियमग्यादिनाऽनासज्ञानादि-
सन्मार्गाः सन्तः सिद्धाः । तीर्थान्तरकालस्य च गानमिदम्—

चउभाग चउभागो तिलि चउभाग पलियमेगं च । चउभागं चउभागो चउभागो चउभागो ॥ १ ॥

[प्रननन० गा. ४३१] ति ।

5 पं. ७. स्वयं—ब्राह्मनिमित्तमन्तरेण जातिस्मरणादिना बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वयम्बुद्धसिद्धाः । प्रत्येकम्—अन्यान्यं
बाह्यं—वृषभादि कारणं दृष्ट्वा बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते प्रत्येकबुद्धसिद्धाः । पं. ११. उपधिः पुनः स्वयम्बुद्धानां
चोलपट्ट-मात्रकवर्जः पात्रादिर्द्वादशविधः । प्रत्येकबुद्धानां पुनर्जवयो रजोहरण-मुसवसिकारूपो द्विविध उपधिः, उक्कटतथोल-
पट्ट-मात्रक-कल्पत्रिकवर्जो नवविधः । पं. १२. स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं स्याद्वा न वा । प्रत्येकबुद्धानां पुनस्तन्नियमतो
भवत्येव, जघन्यत एकादशाङ्गानि, उक्कटतो भिन्नदशपूर्वाणि । लिङ्गप्रतिपत्तिः स्वयम्बुद्धानां यदि पूर्वाधीतं श्रुतं नास्ति ततो
10 नियमाद् गुरुसमीपे भवति, अथ श्रुतं समस्ति ततो देवता लिङ्गं प्रयच्छति गुरुसमीपे वा प्रतिपद्यन्ते । यदि चैकाकिविहारयोग्यता
इच्छा च समस्ति तत एकाकिन एव विचरन्ति, अन्यथा गच्छ एवाऽऽसते । प्रत्येकबुद्धानां पुनर्लिङ्गं देवतैव प्रयच्छति, लिङ्गवर्जिता
वा भवन्ति । यदुक्तम्—“रूपं पत्तेयबुहा” [आव० नि० गा० ११५१] इति । अत्र सङ्ग्रहगाथा यथा—
सुरलिङ्गे पुण्वसुए अनियय-नियया सवुद्ध-पत्तेया । अनिमित्तेयरोही, वारस नव उवहिणो हुंति ॥१॥ []

पं. १६. तीर्थकरीसिद्धाः स्तोकाः १ तीर्थकरीतीर्थे ‘नोतीर्थसिद्धाः’ तीर्थान्तरे सिद्धा ये प्रत्येकबुद्धसिद्धा इत्यर्थः ते
15 सङ्घ्यातगुणाः २ तीर्थकरीतीर्थे ‘नोतीर्थकरीसिद्धाः’ सामान्यकेवललिखियः ताः सङ्घ्येयगुणाः ३ तीर्थकरीतीर्थे ‘नोतीर्थकरसिद्धाः’
सामान्यकेवलपुरुषास्ताभ्यः सङ्घ्येयगुणाः ४ । पं. १८. यथा तीर्थकराः स्त्रीलिङ्गे भवन्त्येवं नपुंसकलिङ्गेऽपि किं ते स्युः ?
इत्याशङ्क्याऽऽह—न तु नपुंसकलिङ्गा इति, तीर्थकृतः स्युरिति वाक्यशेषः । प्रत्येकबुद्धा अपि स्त्री-नपुंसकलिङ्गे न भवन्ति, किन्तु
पुंस्येव । तीर्थकर-प्रत्येकबुद्धवर्जाः केचन नपुंसकलिङ्गसिद्धा भवन्ति । रजोहरणादिलिङ्गधारिणो ये सिद्धास्ते स्वलिङ्गसिद्धाः ।
परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धा अन्यलिङ्गसिद्धाः । नवरं यदाऽन्यलिङ्गिनामपि भावतः सम्यक्त्वादिप्रतिपन्नानां केवलज्ञानमुत्पद्यते तदैव च
20 कालं कुर्वन्ति तदेदम् । अन्यथा यदि दीर्घमायुरात्मनः पश्यन्ति तदा साधुलिङ्गमेव प्रतिपद्यन्ते । एवं गृहलिङ्गसिद्धा अपि
मरुदेवीप्रभृतयः इत्थमेव वक्तव्याः । सिद्धकेवलिनोऽपि गुणाष्टकं भवति । यदुक्तम्—

सम्मत्त १ नाण २ दंसण ३ वीरिया ४ ऽवाहा ५ तहा य अवगाहो ६ ।

अगुरुलह् ७ सुहुमत्तं ८ अट्ट गुणा हुंति सिद्धस्स ॥ १ ॥ []

पं. २२. वत्तीसा० गाहा । एतद्विवरणम्—यदा एकसमयेन एकादश उत्कर्षेण द्वात्रिंशत् सिध्यन्ति तदा द्वितीयेऽपि समये
25 द्वात्रिंशत्, एवं नैरन्तर्येण अष्टौ समयान् यावद् द्वात्रिंशत् सिध्यन्ति, तत ऊर्ध्वमवश्यमेवान्तरं भवतीति । यदा पुनस्त्रयस्त्रिंशत्
आरभ्य अष्टचत्वारिंशदन्ता एकसमयेन सिध्यन्ति तदा निरन्तरं सप्त समयान् सिध्यन्ति, ततोऽवश्यमेवान्तरं भवति । एवं यदा
एकोनपञ्चाशत्तमार्दि कृत्वा यावत् पष्टिरेकसमयेन सिध्यन्ति तदा निरन्तरं षट् समयान् सिध्यन्ति, तदुपरि अन्तरं समयादि
भवति । एवमन्यत्रापि योज्यम् । यावद् अष्टशतमेकसमयेन यदा सिध्यति तदाऽवश्यमेव समयाद्यन्तरं भवतीति । अन्ये तु
व्याचक्षते—अष्टौ समयान् यदा नैरन्तर्येण सिद्धिस्तदा प्रथमसमये जघन्येनैकः सिध्यति उक्कटतो द्वात्रिंशदिति, द्वितीयसमये
30 जघन्येनैक उक्कटतोऽष्टचत्वारिंशत्, तदेवं सर्वत्र जघन्येनैकः समयः उक्कटतो गाथार्थोऽयं भावनीय इति ॥

[पृष्ठ ४०]

पं. १३. क्रमोपयोगादाविति, आदिशब्देन एकोपयोगमतस्य परिग्रहः ।

पं. २९. इह्राऽऽई० गाहा । व्याख्या—ननु यद्येकस्मिन् समये केवलज्ञानोपयोगोऽन्यस्मिन् समये केवलदर्शनोपयोग इष्यते तर्हेयं क्रमोपयोगत्वे केवलज्ञान-दर्शनयोः 'सन्धिबन्धं' प्रतिसमयं सान्त्वत्वं प्राप्नोति, तथा च सति तयोः समयोक्तमपर्यवसितत्वं हीयते । अथवा यः कष्टशतानि कृत्वा ज्ञानावरणादिक्रयो विहितः सः 'मिथ्या' निरर्थकः 'जिनस्य' भगवतः प्राप्नोति, समयात् समयादूर्ध्वं केवलज्ञान-दर्शनोपयोगयोः पुनरप्यभावात् ; नह्यपनीतावरणौ द्वौ प्रदीपौ क्रमेण प्रकाश्यं प्रकाशयतः किन्तु युगपदेव । अथवा केवलज्ञान-दर्शनयोः 'इतरेतरावरणता' परस्परमावारकत्वं प्राप्नोति, कर्मरूपावरणाभावेऽपि अन्यतरसद्भावेऽन्यतराभावादिति । अथ इतरेतरावरणता नेष्यते तर्ह्यन्यतरोपयोगकालेऽन्यस्य निष्कारणमेवाऽऽवरणं स्यात्, तथा च सति "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा" [प्रमाणवार्त्तिक ३-३४] इत्यादि प्रसज्यत इति ॥ ४ ॥

[पृष्ठ ४१]

पं. ९. तथा एकतरस्मिन्—ज्ञाने दर्शने वा अनुपयुक्त एकतरानुपयुक्तः, तस्मिन् एकतरानुपयुक्ते केवलनिष्पद्यमाने ज्ञानानुपयोगकाले तस्य केवलिनोऽसर्वज्ञत्वं प्राप्नोति, दर्शनानुपयोगकाले त्वसर्वदर्शित्वं प्रसजति, तच्चासर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वं च नेष्टं जैनानाम्, सर्वदैव केवलिनि सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्वाभ्युपगमादिति । सूरिराह—ननु छद्मस्थस्यापि दर्शन-ज्ञानयोरेकान्तरे उपयोगे सर्वमिदं दोषजालं समानमेव । अत्रापि हि शक्यते एवं वक्तुम्—ज्ञानानुपयोगे तस्याज्ञानित्वम्, दर्शनानुपयोगे पुनरदर्शनित्वम्, तथा मिथ्याऽऽवरणक्षयः इतरेतरावरणता वा निष्कारणावरणत्वं वेत्यादि 'बहुविधाकाः' बहुविधा दोषा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

पं. १३. भण्णईत्यादिगाथाः विवृता ग्रन्थकृता किञ्चित्, सुगमाश्च ॥

[पृष्ठ ४२]

पं. ४. तद्वित्थं बुभुक्षिता जरद्भवीव वुशगृहे प्रविशन्ती निविडयुक्तिलगुडादिवातैर्निवार्यमागाऽपि परस्य दुराग्रहवुद्धिर्न निवृत्ते, ततश्चक्षुषी निर्माल्य धृष्टतया पुनरप्याह—तुले उभयावरणे० गाहा । द्विविधोपयोगभावे इष्यमाणे जिनस्य प्रथमतः उद्भवः—उत्पादः कस्य ? ज्ञानस्य ? दर्शनस्य वा ? इति, आवरणक्षयस्य युगपद्भावात्, ततो जिनस्य द्विविधोपयोगाभावः प्राप्नोति इति प्रश्नः, युगपद्भावानिष्टौ एकोऽपि न प्राप्नोति ॥ १३ ॥

पं. १४. अथैवं सूरिः परं दुरभिनवेशमसुखन्तमवलोक्य युगपदुपयोगद्वयपक्षं मूलत एवोन्मूलयितुं क्रमोपयोगसाधकं व्यक्त- 20 मेव सिद्धान्तोक्तमादर्शयन्नाह—

भणियं पि य पन्नत्ती-पन्नवणाईसु, जह् जिणो समयं ।

जं जाणइ न वि पासइ तं अणु-रयणप्पभाईणि ॥ १६ ॥

ननु 'पन्नप्फ्यां' भगवत्यां प्रज्ञापनायां च स्फुटं 'भणितमेव' उक्तमेव, यथा—'जिनः' केवली परमाणु-रूपप्रभादीनि वस्तूनि "समयं जं जाणइ" त्ति यस्मिन् समये जानाति "न वि पासइ तं" ति तस्मिन् समये नैव पश्यति, किन्त्वन्यस्मिन् समये जानाति अन्यस्मिन्सु पश्यति । इयमत्र भावना—इह भगवत्यां तावदद्यादशयतस्याऽऽत्मोद्देशके स्फुटमेवोक्तम्, तद्यथा—“उत्तम्ये णं भंते ! मणुस्से परमाणुपोगलं किं जाणइ न पासइ ? उदाहु न जाणइ न पासइ ? गो० ! अत्येगएण् जाणइ न पासइ, अत्येगएण् न जाणइ न पासइ, एवं जाव असंखेज्जपएसिए खंवे ।” इह छद्मस्यो निरतिशयो गृह्यते । नत्र श्रुतज्ञानी उपयुक्तः श्रुतज्ञानेन परमाणुं जानाति न तु पश्यति, श्रुते दर्शनाभावात् । अपरस्तु न जानाति न पश्यति । “एवं आशोहिण् वि” आधोवधिकः—न्यूनावधिकः । “परमाहोहिण् णं भंते ! मणुस्से परमाणुपोगलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ ? जं समयं पासइ तं समयं 30

जाणइ ? नो इणट्टे समट्टे । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गो० ! सागारे से नाणे भवइ, अजागारे से दंराणे भवइ, से तेणट्टेणं एवं वुच्चईत्यादि । केवली णं भंते ! मणूसे परमाणुपोगलं जं समयं जाणइ तं समयं पाराइ ? जं समयं पाराइ तं समयं जाणइ ? णो इणट्टे० । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गो० ! सागारे से नाणे भवइ, अजागारे से दंराणे भवइ, से एणणट्टेणं एवं वुच्चई" त्यादि [पत्र ७५५] । एवं प्रज्ञापनोक्तमपि द्रष्टव्यम् । तदेवं सिद्धान्ते स्फुटाभरैर्युगपदुपयोगे निपिन्नेऽपि किमिति सर्वानर्थमूलं
5 तदभिमानमुत्सृज्य क्रमोपयोगो नेष्यते ? इति ॥ १६ ॥

[पृष्ठ ४३]

पं. १५. सूत्रक्रमोद्देशत इति, नन्द्यादिमूत्रे इत्यमेव तस्य निर्देशात् । शुद्धित इति, केवलस्य हि सर्वावरणक्षयसम्भ-
वत्वेन सर्वोत्कृष्टत्वात् सर्वोपरिवर्तिनी विशुद्धिः । लाभत इति, लाभोऽपि केवलस्य शेषज्ञानानन्तरं पश्चादेव भवतीति मनःपर्याय-
ज्ञानादनन्तरं केवलज्ञानमुपन्यस्तम्, अतस्तदर्थसूचकोऽयमथशब्दः । 'अथ' अनन्तरं केवलज्ञानमुच्यते । कथम्भूतम् ? इत्याह—
10 सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि—जीवादीनि, तेषां परिणमनानि परिणामाः—प्रयोग-वित्तसोभयजन्या उत्पादादयः सर्व-
द्रव्यपरिणामाः, तेषां भावः—सत्ता स्वलक्षणं वा तस्य विविधं विशेषेण वा ज्ञपनं—प्रबोधनं विज्ञप्तिः, अथवा विविधं विशेषेण वा
ज्ञानम्—अबबोधः परिच्छित्तिर्विज्ञप्तिः, तस्याः केवलज्ञानादभेदेऽपि विवक्षितभेदयोः कारणं—हेतुर्विज्ञप्तिकारणम्, सर्वद्रव्य-क्षेत्र-
काल-भावास्तित्वपरिच्छेदकमित्यर्थः । तच्चानन्तज्ञेयविषयत्वेनानन्तपर्यायत्वादनन्तम् । शब्दज्ञावात् शब्दतम्, सततोपयोगमित्यर्थः ।
तथा 'अप्रतिपाति' अव्ययम्, सदाऽवस्थावीत्यर्थः । समस्तावरणक्षयसम्भूतत्वाद् 'एकविविधं' भेदविमुक्तम् । 'केवलं' परिपूर्णम्,
15 समस्तज्ञेयावगमात्, मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वाद् असहायं वा केवलम्, तच्च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानमिति गाथार्थः ॥

पं. ३०. केवलनाणे० गाहा । इह समुत्पन्नकेवलज्ञानस्तीर्थकरादिः 'अर्थान्' धर्मास्तिकायादीन् मूर्त्ता-ऽमूर्त्ता-ऽभिल्या-
ऽनभिलष्यान् केवलज्ञानेनैव 'ज्ञात्वा' अवबुध्य, न तु श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकत्वात् केवलिनश्चावरणस्य सर्वथा क्षीणत्वेन
तत्क्षयोपशमाभावात्; नहि सर्वविशुद्धे पटे देशविशुद्धिः सम्भवति, तद्वदिहापीति भावः । ततः किम् ? इत्याह—'तत्र' तेषामर्थानां
मन्वे ये प्रज्ञापनायाः—प्ररूपणाया योग्याः 'तान्' अभिलष्यान् भापते, नेतराननभिलष्यान् । प्रज्ञापनीयानपि न सर्वानेव भापते,
20 तेषामनन्तत्वात्, आयुस्तु परिमितत्वात्, किं तर्हि ? योग्यानेव भापते प्रहीतृशक्यपेक्षया, यो हि यावतां योग्य इति, यत्र
वाऽभिहिते शेषमनुक्तमपि विनेयोऽभ्यूहति । तदपि योग्यं भापते, यथा ऋषभसेनादीनामुत्पादादिपदत्रयोपन्यासेनैव शेषमिति ।
तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिर्भाष्यमाणस्तस्य भगवतः "वद्भोग" त्ति वाग्योग एव भवति, न तु श्रुतम्, नाम-
कर्मोदयजन्यत्वात् । तत्र नामकर्मैह भाषापयोत्तिसामर्थ्यं शरीरनाम वा, तस्योदयजन्यत्वाद् वाक्परिस्पन्दस्य, श्रुतस्य च क्षायोपशमि-
कत्वात् । ज्ञानमप्यस्य केवलिनः क्षायिकत्वात् केवलमेव, न भावश्रुतम् । आह—ननु वाग्योगो वाक्परिस्पन्दो वाग्वीर्यमित्यनर्था-
25 न्तरम्, अयं च भवतु नामकर्मोदयजन्यः, भाष्यमाणस्तु पुद्गलात्मकः शब्दः किं भवतु ? इति चेत्, उच्यते—सोऽपि श्रोतृणां भाव-
श्रुतकारणत्वाद् द्रव्यश्रुतमात्रं भवति, न तु भावश्रुतम् । तर्हि किं तद् भावश्रुतम् ? इत्याह—"सुयं हवइ सेसं" ति ज्ञानं यत् छन्नस्थानां
गणधरादीनां श्रुतप्रथानुसारि ज्ञानं तदेव केवलगतज्ञानापेक्षया 'शेषम्' अन्यद् भावश्रुतं भवति, क्षायोपशमिकोपयोगात्, न तु
केवलगतं ज्ञानम्, तस्य क्षायिकत्वादिति । अथवा "सुयं हवइ सेसं" इत्यन्यथा व्याख्यायते—तद् भग्यमानं शब्दमात्रं तत्काल
एव श्रुतं न भवति, किं तर्हि ? शेषं कालमिति वाक्यशेषः । इदमुक्तं भवति—तत् केवलिनः शब्दमात्रम्, श्रोतृणां श्रवणानन्तर-
30 लक्षणे शेषकाले श्रोतृगतज्ञानकारणत्वेनोपचारात् 'श्रुतं' द्रव्यश्रुतं भवति, न तु भणनक्रियाकाल इति । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते—
स केवलिनः सम्बन्धी वाग्योगः श्रुतं भवति । कथम्भूतम् ? 'शेषं' गुणभूतमप्रधानम्, औपचारिकत्वादिति । अन्ये तु पठन्ति—
"वद्भोग सुयं हवइ तेसि" ति, तत्र 'तेषां' भाषमाणानां सम्बन्धी वाग्योगः श्रोतृगतश्रुतकारणत्वात् श्रुतं भवति, द्रव्यश्रुत-
मित्यर्थः । अथवाऽन्योऽर्थः—'तेषामिति' श्रोतृणां तानाश्रित्येत्यर्थः, भाषकगतं वाग्योग एव श्रुतं वाग्योगश्रुतं भवति, भावश्रुतका-

रणत्वाद् द्रव्यश्रुतमेवेत्यर्थः । अथवा तानर्थान् भाषते केवली, वाग्योगश्रायं शब्दराशिरस्य भाषमाणस्य भवति, तेषां श्रोतृणां भावश्रुतकारणत्वात् श्रुतमसौ भवति । पदघटनाकृत एव विशेषः, अर्थः स एवेति गार्थार्थः ॥

[पृष्ठ ४४]

पं. १४. अनयोश्चेत्यादि, 'मतिपूर्वकत्वात् श्रुतस्य विशिष्टमत्यंशरूपत्वाद्वा श्रुतात् प्रथमतो मतिज्ञानमेवोच्यते' इत्यादिकं प्रयोजनमुक्तम् [पत्र १९ पं. १८] । पं. २६. स्वामित्वादिभिर्विशेषाभावाद् मति-श्रुतयोरैकतैव प्राप्ता, न भेदः स्यात्, 5 तथा च सति न परोक्षद्वैविव्यसिद्धिः ज्ञानपञ्चकसिद्धिर्वा, धर्मभेदे हि वस्तूनां भेदः स्यात्, धर्माभेदे तु घट-तत्स्वरूपयोरिवाभेद एव श्रेयानिति पराशयः । अत्राऽऽचार्यः प्रत्युत्तरयति लक्षणभेदादित्यादिना, यद्यपि स्वामि-कालादिभिर्मति-श्रुतयोरैकत्वं तथापि लक्षण-कार्य-कारणभावादिभिर्नात्वमस्त्येव, घटा-ऽऽकाश-धर्मा-ऽधर्मादीनामपि हि सत्त्व-प्रमेयत्वा-ऽर्थक्रियाकारित्वादिभिः साम्ये-ऽपि लक्षणादिभेदाद् भेद एव । यदि पुनर्वहुभिर्धर्मैर्भेदे सत्यपि कियद्धर्मसाम्यमात्रादेवार्थानामेकत्वं प्रैथेत तदा सर्वं विश्वमेकं स्यात् । किं हि नाम तद् वस्त्वस्ति यस्य वस्त्वन्तरैः सह कैश्चिद् धर्मैर्न साम्यमस्ति, तस्मात् स्वाम्यादिभिस्तुल्यत्वेऽपि लक्षणा- 10 दिभिर्मति-श्रुतयोर्भेदः । ते च मति-श्रुतभेदनिवन्धना लक्षणादयः सम्पिण्डचैकगाथयोच्यन्ते । सा चैयम् —

लक्षणभेदाद् हेड-फलभावओ भेय-इंदियविभागा । वाग-ऽक्खर-मूएयरभेया भेओ मइ-सुयाणं ॥१॥ [विशेषा० गा० ९७]

'लक्षणभेदाद्' भिन्नलक्षणत्वान्मति-श्रुतयोर्भेदः । तथा मतिज्ञानं हेतुः श्रुतं तु तत्फलं—तत्कार्यमिति हेतु-फलभावात् तयो-र्भेदः । तथा "भेय" त्ति विभागशब्दो अत्रापि युज्यते, ततश्च भेदानां विभागः—विशेषो भिन्नत्वं भेदविभागस्तस्मादपि मति-श्रुतयो-र्भेदः । अवग्रहादिभेदादष्टाविंशत्यादिभेदं हि मतिज्ञानं वक्ष्यते, "अक्खर सण्णी सम्म"मित्यादिवक्ष्यमाणवचनाच्चतुर्दशादिभेदं 15 च श्रुतज्ञानमिति भेदविभागात् तयोर्भेद इति भावः । "इंदियविभाग" त्ति तत्त्वतः श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, श्रेण्डियविषयमपि मतिज्ञानमित्येवं वक्ष्यमाणादिन्द्रियविभागाच्च तयोर्भेदः । "वागे"त्यादि, वल्कश्च अक्षरं च मूकं च वल्कादिप्रतिपक्षभूतानीतराणि च वल्का-ऽक्षर-मूकेतराणि तैर्योऽसौ भेदस्तस्मादपि मति-श्रुतयोर्भेद इत्यर्थः । तथाहि—

"अन्ने मन्त्रंति मई वागसमा, सुंवसरिसयं सुत्तं ।" [विशेषा० गा० १५४] इत्यादिना ग्रन्थेन कारणत्वाद् वल्कसदृशं मतिज्ञानम्, शुम्भसदृशं तु श्रुतज्ञानम्, कार्यत्वादित्यभिहितम् । तत्र वल्कः—पलाशादित्वग्रूपः, शुम्भं तु इतरशब्देनेहोपात्तम्, 20 तज्जनिता दवरिकोच्यते । ततश्चायमभिप्रायः—यथा वलनादिसंस्कृतो विशिष्टावस्थाप्राप्तः सन् वल्को दवरिकेत्युच्यते, तथा परो-पदेशार्हद्वचनसंस्कृतविशिष्टावस्थाप्राप्तं सद् मतिज्ञानं श्रुतमभिधीयत इत्येवं वल्केतरभेदान्मति-श्रुतयोर्भेदः । तथा—

"अन्ने अगक्खर-ऽक्खरविसेसओ मइ-सुयाइं भिदन्ति ।

जं मइनाणमगक्खरमक्खरमियरं च सुयनाणं ॥१॥" [विशेषा० गा० १६२]

इत्यक्षरेतरभेदात् तयोर्भेदः । तथा—

"स-परप्पच्चायणओ भेओ मूएयराग वाऽभिहिओ ।

जं मूयं मइनाणं स-परप्पच्चायणं सुत्तं ॥१॥" [विशेषा० गा० १७१]

इति वचनान्मूकेतरभेदाद् मति-श्रुतयोर्भेद इति गार्थार्थः ॥

[पृष्ठ ४५]

पं. १. तत्रानयोर्लक्षणभेदाद् भेदं तावत् सूत्रकोरः प्राह 'अभिनिवृध्यन्ते' इत्यादिना—यद् ज्ञानं कर्तुं वन्तु कर्मतापन्न- 30 अभिनिवृध्यन्ते—अवगच्छति तद् ज्ञानमाभिनिवोधिकम्, मतिज्ञानं तदित्यर्थः, यर्जावः शृणोति तन् श्रुतम् इत्येवं सूत्रोक्तलक्षण-भेदाननयोर्भेदः । यदि 'यदात्मा शृणोति तन् श्रुत'मिति श्रुतस्य लक्षणमुच्यते तर्हि शब्दमेव जावः शृणोतीति सकृत्-

जगत्प्रतीतमेवेति स एव श्रुततां प्राप्नोति. नाऽऽत्मनः परिणामविशेषः भवत्येते. तन्मोक्षोक्तिः श्रुतम्, ज्ञानज्ञानिनोर्भेदात् जीवः श्रुतोतीति कृत्वा श्रुतकारणत्वात् श्रुतशब्दः स्यादुपचारतः । पं. २. पञ्चम-परिणामि मति श्रुतयोर्लक्षणभेदमाह एतदुक्तमित्यादिना—इन्द्रियाणि च मनश्च तानि निमित्तं यस्य तत् तथा. इन्द्रिय-मनोसंज्ञेया निज्ञानमुपजायते नन् श्रुतम्, श्रुतज्ञानमित्यर्थः । इन्द्रिय-मनोनिमित्तं च मतिज्ञानमपि भवत्यतस्तद्वचनस्येदार्थमाह—श्रुतग्रन्थानुसारिणेति, श्रुतम् इति श्रुतं-शब्द उच्यते, स च सङ्केतगोचरपरोपदेशरूपः श्रुतग्रन्थसम्बन्धिने गृह्यते. तदनुसारेण यदुपजायते तत् श्रुतज्ञानम्, नान्यत् । एतदुक्तं भवति—सङ्केतकालप्रवृत्तं श्रुतग्रन्थसम्बन्धिने वा घटादिशब्दमनुसृत्य वाच्य-ज्ञानकभावेन संयोग्य 'घटो घटः' इत्यादन्तर्जपाकार-मन्तःशब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादिनिमित्तं यद् ज्ञानमुदेति तत् श्रुतज्ञानमित्यर्थः । शेषमिन्द्रिय-मनोनिमित्तमश्रुतानुसारेण यदवप्रवृत्तिद्वि ज्ञानं तन्मतिज्ञानमित्यर्थः । तदुक्तम्—

इन्द्रिय-मनोनिमित्तं जं विज्ञानं सुयाणुसारेण । निययत्युत्तिसमर्थं तं भावसुयं, मई सेसं ॥१॥ [विशेषांगा० १००]

- 10 सुगमा । नवरमिन्द्रियादिनिमित्तं यद् ज्ञानमुदेति तत् श्रुतज्ञानम् । तच्च कथम्भूतम् ? निजकार्योक्तिसमर्थम्, अभिलाष्य-वस्तुविषयमित्यर्थः, स्वरूपविशेषणमेतत्, शब्दानुसारिणो ज्ञानस्य निजकार्योक्तिसामर्थ्याभ्यामिचारात् । अत्राऽऽह कश्चित्—ननु यदि शब्दोल्लेखसहितं श्रुतज्ञानमिष्यते, शेषं तु मतिज्ञानम्, तदा वक्ष्यमाणस्वरूपोऽवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात्, न पुनरीहा-ऽपायादयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात्, मतिज्ञानभेदत्वेन चैते प्रसिद्धाः, मतिज्ञानभेदानां चेहा-ऽपायादीनां साभिलाषत्वेन श्रुतज्ञानप्राप्तिश्च स्यादित्युभयलक्षणसङ्कीर्णता, अत्रोच्यते—यद्यपीहादयः साभिलाषास्तथापि न तेषां श्रुतरूपता, श्रुतानुसारेण एव साभिलाष-ज्ञानस्य श्रुतत्वात् । अथावग्रहादयः श्रुतनिश्चिता एव सिद्धान्ते प्रोक्ताः, तत्र, पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमन्तरेव ते समुपजायन्त इति श्रुत-निश्चिता उच्यन्ते, न पुनर्व्यवहारकाले श्रुतानुसारित्वमेतेष्वस्ति, तदा हि अभ्यासपाटववशात् परोपदेशसङ्केतितशब्दानुसरणमन्त-रेणैवाक्षरादिप्रवाचने ईहादिप्रवृत्त्यनुपलक्षणात् कथं श्रुतानुसारित्वं तत्र सङ्गच्छते ? अमुकस्मिन् ग्रन्थे एतद्विषयमभिहितमित्येवं श्रुतग्रन्थानुसरणं विनाऽपि पट्वभ्यासवशादनवरतं विकल्पपरम्परापूर्वकविधिवचनप्रवृत्तिदर्शनाच्च । यत्र तु श्रुतानुसारित्वं तत्रे-हादिषु श्रुतरूपताऽस्माभिरपि न निषिध्यते, तस्मात् श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतत्वाभावादीहा-ऽपाय-धारणानां मतिज्ञानत्वमेव, न श्रुतज्ञानत्वम् । किञ्च—नेह मति-श्रुतयोः परमाणु-करिणोर्वाऽऽत्यन्तिको भेदः समन्वेषणीयः, यतः प्रागिहैवोक्तम्—विशिष्टः कश्चिन्मति-विशेष एव श्रुतमिति वल्कसदृशं मतिज्ञानं तज्जनितदवरिकारूपं श्रुतज्ञानम् । न च वल्क-शुम्भयोः परमाणु-कुञ्जरवदात्यन्तिको भेदः, किन्तु कारण-कार्यभावकृत एव, स चेहाप्यस्ति, मतेः कारणत्वेन श्रुतस्य तु कार्यत्वेनाभिधास्यमानत्वात् । न च कारण-कार्ययोरे-कान्तिको भेदः, कनक-कुण्डलादिषु मृत्पिण्ड-कुण्डादिषु च तथाऽदर्शनात् । तस्मादवग्रहापेक्षयाऽनभिलाषत्वाद् ईहापेक्षया तु साभिलाषत्वात् साभिलाषा-ऽनभिलाषं मतिज्ञानं अश्रुतानुसारि च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिने वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽननुसरणात् । श्रुतज्ञानं तु साभिलाषमेव श्रुतानुसार्येव च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिने वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्यमनुसरणादिति स्थितम् ॥ पं. ५. इत्थं लक्षणभेदाद् भेदोऽभिहितः । सम्प्रति हेतु-फलभावाद-नयोर्भेदं दर्शयति “मइपुञ्चं सुयं, न मई सुयपुञ्चिया” इत्यनेन—यदि ह्येकत्वं मति-श्रुतयोर्भवेत् तदा एवम्भूतो नियमेन पूर्व-पश्चाद्भावो घट-तत्स्वरूपयोरिव न स्यात्, अस्ति चायम्, ततो भेद इति भावः । पृ धातुः पालन-पूरणयोरर्थयोः पठ्यते, तस्य च पिपतीति पूर्वमिति निपात्यते । पूर्वशब्दश्चायमिह कारणपर्यायो द्रष्टव्यः, कार्यात् पूर्वमेव कारणस्य भावात्, सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्व-पुरुषार्थसिद्धिरित्यादौ तथादर्शनात् । ततश्च मतिपूर्वं श्रुतमिति कोऽर्थः ? श्रुतज्ञानं कार्यं मतिस्तु तत्कारणम्, कार्य-कारणयोश्च मृत्पिण्ड-घटयोरिव कथञ्चिद् भेदः प्रतीत एव । पं. ६. किमिति पुनर्मतिः पूर्वं कारणमस्य श्रुतस्य ? इत्याह—तथा चेद-मित्यादि, अनुप्रेक्षादिकालेऽभ्युह्याभ्युह्य श्रुतपर्यायवर्धनेन मत्स्यैव श्रुतज्ञानं पूर्यते—पोष्यते, पुष्टिं नीयत इत्यर्थः, तथा मत्स्यैवान्यतस्तत् प्राप्यते—गृह्यतेऽन्यस्मै दीयते वा, न मतिमन्तरेणेत्यर्थः, तथा गृहीतं सदेतत् परावर्तन-चिन्तनद्वारेण मत्स्यैव पाल्यते—स्थिरीक्रियते,

अन्यथा मत्यभावे तद् गृहीतमपि प्रणश्येदेवेत्यर्थः । श्रुतज्ञानस्यैते पूरण-प्रापण-पालनादयोऽर्था विशिष्टाभ्यूह-धारणादीनन्तरेण कर्तुं न शक्यन्ते, अभ्यूहादयश्च मतिज्ञानमेवेति सर्वथा श्रुतस्य मतिरेव कारणं श्रुतं तु कार्यं इति कारण-कार्यरूपत्वाद् मति-श्रुतयोर्भेदः । पं. १३. भावश्रुतान्मतिर्नास्तीति, भावश्रुतपूर्विका मतिर्न भवतीत्यर्थः, द्रव्यश्रुतप्रभवा तु भवतु, को दोषः ? ।

पं. १४. यद्वेति, भावश्रुतान्मतिर्नास्ति, कार्यतथैव निषिध्यते, न पुनः क्रमेणेति । क्रमशस्तु मतिर्नास्तीत्येवं न, किन्तु क्रमशो मतिरस्त्येवं, क्रमेण जायमानां मतिं को निवारयति ? । तथाहि—मत्या श्रुतोपयोगो जन्यते, तदुपरमे तु निजकारणात् प्रवृत्ता पुनरपि मतिरवतिष्ठते, पुनस्तथैव श्रुतं तथैव च मतिरित्येवं क्रमेण भवन्ती मतिरिष्यत एव, यस्मात् श्रुतोपयोगात् श्रुतस्य मताववस्थितिर्भवति, श्रुतोपयोगोपरमे क्रमायातं मत्यवस्थानं न निवार्यते, अन्यथा आमरणान्तं केवलश्रुतमात्रोपयोगप्रसङ्गात् ।

पं. १६. अथ श्रुतस्य परो मतिपूर्वतां विधटयन्नाह—

**नाणाणऽण्णाणाणि य समकालां जओ मइ-सुयाइं ।
तो न सुयं मइपुव्वं मइनाणे वा सुयन्नाणं ॥ १ ॥**

इह मति-श्रुते वक्ष्यमाणयुक्त्या द्विविधे—सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानस्वरूपे, मिथ्यादृष्टेस्त्वज्ञानस्वभावे । तत्र ज्ञाने अज्ञाने वैते प्रत्येकं समकालमेव भवतः, तत्क्षयोपशमलाभस्याऽऽगमे युगपदेव निर्देशात् । यतश्चैते ज्ञाने अज्ञाने च मति-श्रुते पृथक् पृथक् समकाले भवतः ततो न श्रुतं मतिपूर्वं युज्यते, नहि सममेवोत्पन्नयोः सत्येतररोविषागयोरेव पूर्व-पश्चाद्भावः सङ्गच्छते । अथोत्सृज्योऽप्यसदा-प्रह्वशात् स पूर्व-पश्चाद्भावो न त्यज्यते इत्याह “मइनाणे वा” इत्यादि । इदमुक्तं भवति—मतिज्ञाने समुत्पन्ने तत्समकालं च श्रुत-ज्ञानेऽनन्युपगम्यमाने श्रुताज्ञानं जीवस्य प्रसज्यते, श्रुतज्ञानानुपादेऽद्यापि तदनिवृत्तेः, न च ज्ञाना-ऽज्ञानयोः समकालमवस्थिति-रागमे कचिदप्यनुमन्यते, विरोधात्, ज्ञानस्य सम्यग्दृष्टिसम्भवेत्वात्, अज्ञानस्य तु मिथ्यादृष्टिभावेत्वादिति गार्थार्थः ॥ १ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह—

पं. १७. **इह लद्धिमइ-सुयाइं समकालां, न तूवओगो सिं ।
मइपुव्वं सुयमिह पुणं सुओवओगो मइप्पभवो ॥ २ ॥**

ननु ध्यान्यविजृम्भितमिदं परस्य, अभिप्रायापरिज्ञानात् । तथाहि—द्विविधे मति-श्रुते—तदावरणक्षयोपशमरूपलघ्वितः उपयोग-तश्च । तत्रेह लब्धितो ये मति-श्रुते ते एव समकालं भवतः, यस्त्वनयोरुपयोगः स युगपन्न भवत्येव, किन्तु केवलज्ञान-दर्शनयोरिव तथास्वाभाव्यात् क्रमेणैव प्रवर्तते । अत्र तर्हि लब्धिमङ्गीकृत्य मतिपूर्वता श्रुतस्योक्ता भविष्यतीति चेत्, नैवमित्याह—मतिपूर्वं श्रुतम्, इह तु श्रुतोपयोग एव मतिप्रभवोऽङ्गीक्रियते, न लब्धिरिति भावः । श्रुतोपयोगो हि विशिष्टमन्तर्ज्ञापाकारं श्रुतानुसारि ज्ञानमभिधीयते, तच्चावग्रहेहादीनन्तरेणाऽऽकस्मिकं न भवति, अवग्रहादयश्च मतिरेवेति तत्पूर्वता श्रुतस्य न विरुध्यत इति गार्थार्थः ॥ २ ॥

तदेवं मतिपूर्वं श्रुतमिति समर्थितम् । परस्तु मतेरपि श्रुतपूर्वताऽऽपादनेनाविशेषमुद्भावयन्नाह—

**सौऊण जा मई भे सा सुयपुव्व ति तेण न विसेसो ।
सा दन्वसुयप्पभवा भावसुयाओ मई नत्थि ॥ ३ ॥**

परस्मात् शब्दं श्रुत्वा तद्विषया ‘भे’ भवतामपि या मतिरूपयते सा ‘श्रुतपूर्वा’ श्रुतकारणैव, शब्दस्य श्रुतत्वेन प्रागुक्त्यात्, तस्याश्च मतेः शब्दप्रभवत्वेन भवतामपि सिद्धत्वात् । ततश्च “न विसेसो” ति अन्योन्यं पूर्वभावितार्थां मति-श्रुतयोर्न विशेषं द्यर्थः, तथा च सति “न मई सुयपुव्विय” ति यदुक्तं प्राक् तदयुक्तं प्राप्नोतीति भावः । अत्रोच्यते—परस्माच्छब्दमाकर्ष्य या मति-

१ श्रुताज्ञान जेटि० ॥ २ श्रुतं पूर्वं यस्याः जेटि० ॥

टी० १७

मतिज्ञानं भवति, तथा च सत्यनन्तरमवधारणव्याख्यानमुपपन्नं भवति । “सेसयं तु मइनाण”मिति सामान्येनैवोक्ते शेषस्य सर्वस्याप्युत्सर्गेण मतिव्ये प्राप्ते सत्यपवादमाह—“मोक्षुणं दन्वयुयं” ति पुस्तकादिलिखितं यद् द्रव्यश्रुतं तद् ‘भुक्त्वा’ परित्यज्यैव शेषं मतिज्ञानं द्रष्टव्यम्, पुस्तकादिन्यस्तं हि भावश्रुतकारणत्वाच्छब्दवद् द्रव्यश्रुतमेवेति कथं मतिज्ञानं स्यात् ? इति भावः । न केवलं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतम्, किन्तु यत्र शेषेषु चतुर्षु चक्षुरादीन्द्रियेषु श्रुतानुसारिसाभिलाषविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः सोऽपि श्रुतम्, न त्वक्षरलाभमात्रम्, तस्येहा-ऽपायाद्यात्मके मतिज्ञानेऽपि सद्भावादिति । आह—यदि चक्षुरादीन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुतं तर्हि यदाद्य-गाथावयवे ‘श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम्’ इत्यवधारणं कृतं तन्नोपपद्यते, अश्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेरपीदानीं श्रुतत्वेन समर्थितत्वात्, नैतदेवम्, शेषेन्द्रियाक्षरलाभस्यापि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरूपत्वात्, स हि श्रुतानुसारिसाभिलाषज्ञानरूपोऽत्राधिक्रियते, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि चैवभूतैव श्रुतमुक्ता, ततश्च साभिलाषविज्ञानं शेषेन्द्रियद्वारेणाप्युत्पन्नम्, योग्यतया श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव मन्तव्यम्, अभिलाषस्य सर्वस्यापि श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्यत्वादिति । अत्राह—ननु “सोइंदिओवलंद्दी होइ सुयं” तथा “अक्खरलंभो य सेसेसु” इत्युभयवचनात् श्रुतज्ञानस्य सर्वेन्द्रियनिमित्तता सिद्धा, तथा “सेसयं तु मइनाण”मिति वचनात् तुशब्दस्य समुच्चयाच्च मतिज्ञानस्यापि सर्वेन्द्रियकारणता प्रतिष्ठिता, भवद्भिस्त्रिन्द्रियविभागान्मति-श्रुतयोर्भेदः प्रतिपादयितुमारब्धः स चैवं न सिध्यति, द्वयोरपि सर्वेन्द्रियनिमित्ततायास्तुत्यत्वप्रतिपादनादिति, अत्रोच्यते, साधूकं भवता, किन्तु यद्यपि शेषेन्द्रियद्वारायातत्वात् तदक्षरलाभः शेषेन्द्रियोपलब्धिरुच्यते, तथाप्यभिलाषात्मकत्वात्सौ श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्य एव, ततश्च तत्त्वतः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेवायम् । तथा च सति परमार्थतः सर्वे श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, मतिज्ञानं तु तद्विषयं शेषेन्द्रियविषयं च सिद्धं भवति, अत इत्थमिन्द्रियविभागाद् मति-श्रुतयोर्भेदो न विहन्यत इत्यलं विस्तरेणेति पूर्वगतगाथासङ्क्षेपार्थः ॥

पं. २६. आवरणभेदाच्चेति, मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणलक्षणगणभेदात् तदावार्थस्यापि भेदः ।

[पृष्ठ ४६]

पं. ७. ननु यथा मति-श्रुताभ्यां सन्म्यग्दृष्टिर्घटादिकं जानीते व्यवहरति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि, तत् किमिति तस्य सत्कं सर्वमप्यज्ञानमुच्यते ? इत्याशङ्क्याऽऽह—

सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जदिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छिद्विट्ठिस्स अण्णाणं ॥ १ ॥

सच्च असच्च सदसती, तयोः अविशेषणं—अविशेषः तस्माद्भेदोः, मिथ्यादृष्टेः सन्म्यग्दृष्टिर्व्यवहारमात्रेण ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञानमुच्यते, सतो ह्यसत्त्वेनासद् विशिष्यते, असतोऽपि च सत्त्वेन सद् भिद्यते । मिथ्यादृष्टिश्च घटे सत्त्व-प्रमेयत्व-मूर्त्तत्वादीन् स्तम्भ-रम्भा-ऽम्भोरुहादिव्यावृत्तादींश्च पटादिधर्मान् सतोऽप्यसत्त्वेन प्रतिपद्यते, ‘सर्वप्रकारैर्घट एवायम्’ इत्यवधारणात् । अनेन अवधारणेन सन्तोऽपि सत्त्व-प्रमेयत्वादयः पटादिधर्माः ‘न सन्ति’ इति प्रतिपद्यते, अन्यथा सत्त्व-प्रमेयत्वादिसामान्यधर्मद्वारेण घटे पटार्दानामपि सद्भावात् ‘सर्वथा घट एवायम्’ इत्यवधारणानुपपत्तेः । ‘कथञ्चिद् घट एवायम्’ इत्यवधारणे त्वनेकान्तवादाभ्युपगमेन सन्म्यग्दृष्टित्व-प्रसङ्गात्, तथा पट-पुट-नट-शकटादिरूपं घटेऽसदपि सत्त्वेनायमभ्युपगच्छति, ‘सर्वैः प्रकारैः घटोऽस्यैव’ इत्यवधारणात् । ‘स्यादस्त्यैव घटः’ इत्यवधारणे तु स्याद्वादाश्रयणात् सन्म्यग्दृष्टित्वप्राप्तेः । तस्मात् सदसतोर्विशेषाभावात्सन्म्यग्दृष्टेर्व्यवहारमिथ्यादृष्टेर्विधेः अज्ञानम् । तथा विपर्यस्तत्वादेव भवहेतुत्वात् तद्विधेः अज्ञानम् । तथा पटद्वय-तिव्यादिदहन-जलापवगाहनादिषु संसारहेतुषु मोक्षहेतुषु बुद्धेर्दया-प्रशम-त्रसचर्या-ऽऽकिञ्चन्यादिषु तु मोक्षकारणेषु भवहेतुत्वात्त्वदमायती यदच्छोभयमान् तस्याज्ञानम् । तथा ३० विरत्यभावेन ज्ञानफलाभावाद् मिथ्यादृष्टेरज्ञानमिति गाथार्थः ॥

पुत्रि सुयपरिकम्भियमइस्सं जं संपयं सुयाईयं ।

तन्निस्सियमियरं पुण अगिस्सियं मइचउकं तं ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० १६९]

तत्रापि प्रायो वैनयिकीवर्जं द्रष्टव्यम्, तस्यां श्रुतनिश्चितत्वस्यापि भावात् ।

पं. १३. मतिज्ञानमेवाधिकृत्य

प्रश्नसूत्रमाहेति वदन् [४६] सूत्रे से किं तं आभिणिवोहियनाणं इति पाठोऽशुद्ध इत्याचष्टे, किन्तु “से किं तं मइनाणं

इत्ययं भवति । पं. १९. आह—इदमपीत्यादि, कथं पुनरत्रौत्तिक्यादिवुद्धिचतुष्टयेऽवग्रहादयः सम्भवन्ति ? तत्र यथा ते

भवन्ति तथा दर्शयते—

किं पडिकुकुडहीणो जुञ्जे ? विवेणऽवग्रहाहो, ईहा ।

किं सुसिल्लिडुमवाधो दप्पणसंकंतविं ति ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ३०४]

इह हिन्दऽऽगमे—

भर्तृसिद्ध १ मिह २ कुकुड ३ तिल ४ वालय ५ हत्थि ६ अगड ७ वणसंहे ८ ।

पदम् ९ अगड १० हत्थि ११ अगडिज १२ संत विण्णे १३ ॥ [विशेषा० गा० ३०४]

भरतशिला १ 'मेण्डः' मेयः २ 'कुक्कुटः' ताम्रचूडः ३ "तिल" त्ति तिलाः ४ "वालुग" त्ति वालुकायाः सम्बन्धिनी वरत्रा ५ हस्ती ६ "अगडे" त्ति 'अवटः' कूपः ७ वनखण्डः ८ पायसं ९ "अइय" त्ति अजिकायाः—छगलिकायाः पुरीपगोलिकाः १० "पत्ते" इति पिप्पलपत्रम् ११ "खाडहिल" त्ति तिलहडिका १२ 'पञ्च पितरश्च' तव राजन् ! पञ्च जनकाः १३ ॥ तथा—महुसित्थेयादि । "महुसित्थ" त्ति 'मधुसित्थकं' मदनं १ मुद्रिका २ अङ्गश्च ३ 'नाणकं' व्यवहारार्हं रूपकलक्षणम् ४ "भिक्षु चेडगनिहाणे" इति भिक्षुः ५ चेटकनिधानं ६ शिक्षा च ७ अर्थः ८ शखं ९ "इच्छा य महं" त्ति इच्छा च मम १० शतसहस्रः ११ । एवं चाऽऽद्यसङ्ग्रहगाथायाः सम्बन्धीनि सप्तदश एतानि चैकादश मीलितान्यष्टौविंशतिर्भूलज्ञातान्यौपत्तिकयां बुद्धाविति ॥

भरहसिल पणित० गाधाए ताव—उज्जेणी नगरी । जणवए तत्थ णडाणं गामो । तत्थ एगस्स नडस्स भज्जा मया । तस्स य पुत्तो डहरगो । नडेण अण्णा आणीया । सा तस्स दारगस्स ण वड्ढति विणय-भोयणाइए । तेण दारएण भणितं—ममं ण लट्ठं चंडसि जइ, तहा ते करेमि जहा मम पादेसु पडसि त्ति । तेण रत्तिं पिता सहसा भणितो—एस गोहो त्ति गोहो त्ति । तेण णातं 'महिला विणट्ठ' त्ति सिद्धिरागो जातो । सा भणति—मा पुत्त ! एवं । तेण भणितं—ण लट्ठं वड्ढसि । सा भणति—वडीहामि । 10 अहं पि लट्ठं करीहामि । सा वड्ढितुमारद्धा । अण्णदा छाहीए चेव 'एस गोहो गोहो' त्ति भणिते 'कहिं ?' त्ति पुट्ठो नियदेहछाहिं दरिसेत्ति । ततो पिता से लज्जितो । 'सो वि एवंविधो' त्ति तीसे घणरागो जातो । सो वि विसर्भोतो पिताए समं जेमेत्ति । अण्णया पिताए समं उज्जेणिं गतो, दिट्ठा नगरी । निग्गता पिता-पुत्ता । पिता पुणो वि अइगतो 'किं पि ठवियगं विस्सरितं' त्ति । सो सिप्पाए नदीए पुल्लेण नगरिं सखं आलिहत्ति । तेण णगरी सचचरा लिहिता । ततो राया एत्ति । तेण राया वारितो, भणितो—मा राउलमज्जेणं एहि त्ति । रण्णा कोउहल्लेणं पुच्छितो । सचचरा सखा कहिया । रण्णा भणितो—कहिं वससि ? त्ति । तेण 15 भणितं—अमुगगामे । पिता से आगतो । ते गता । रायगो य एग्गणगाणि पंच मंतिसयाणि, एगं मग्गति 'जो य मज्जव्वाणो होज्ज' त्ति चित्तियं—एस होज्ज त्ति । तस्स परिकखगणिसितं इमाणि पेसेत्ति—

भरहसिल १ मेण्ड २ कुक्कुड ३ तिल ४ वालुग ५ हत्थि ६ अगड ७ वणसंडे ८ ।
परमण्ण ९ पत्त १० लिंडग ११ खाडइला १२ पंच पियरो य १३ ॥

लेहं विसज्जेत्ति, जहा—तुभं गामस्स वाहिं महल्लां सिला तीए मंडवं करह । ते अइण्णा । सो दारओ रोहओ लुहा- 20 इओ, पिता से गामेण समं अच्छत्ति, उस्सुरे आगतो । सो रोयइ—अहे लुहाइया अच्छामो । सो भणति—तुमं सुहिओ सि । किह ! । तेण से कहियं । भणति—वीसत्था अच्छह, हेट्ठा खंभे ठवेत्ता थोवथोवं खगह भूमीं । खता, उयल्लवगकतोवयारं मंडवे खो निवेदितं । केण कयं ? । रोहगदारएणं ? । ततो मेण्डओ पेसितो—एस पक्खेण अग्गुगाहियं एत्तिओ चेव पच्चयिगेयओ । तेहिं भरहो पुच्छितो । तेण वि विरुक्खेण समं बंधावितो, जवसं दिण्णं, तं चरंतस्स ण हायति वलं, विरुगं पेच्छंस्स भण्ण ण वड्ढति त्ति २ । एवं कक्कुडो अदाएण समं जुज्जावितो ३ । 'तिलसमं तेहं दायव्वं' त्ति तिन्या अदाएण मिया ४ । वानुयाए—वरहपडिच्छं देह 25 ५ । हत्थिमि—जुण्णहत्थी गामे लूटो, हत्थी 'अप्पाउओ मरिहिति' त्ति अम्पितो, 'मतो' त्ति ण जिवेदियव्वं । हत्थी मतो । तेहिं निवेदितं—जहा ण चरति ण ऊससत्ति न नीससत्ति । रण्णा भणितं—मतो ! । तेहिं भणितं—तुभं भग्गत्ति ६ । अगटे—आरण्णओ ण तीरइ एक्कल्लतो आणेतुं, णागरं अगडं देह ७ । वणसंडे—पुव्वपासे गतो गामो ८ । परमण्णं—कगिसउट्ठाए पया-लुट्ठाए त्ति ९ । एवं परिकखऊण समादिट्ठं—रोहगेणं आगतव्वं, तं पुण ण सुक्कपक्खे ण कम्हपक्खे, ण गइं न दिवा, न

१ अत्र यद्यपि टिप्पनककृतता "अर्थः ८ शखम् ९" इति पृथग् व्याख्यान "अष्टविंशतिर्भूलज्ञातान्यौपत्तिकयां बुद्धौ" इति निर्दिष्टमिति तथाऽप्युदाहरणनिरूपणादसरे पूर्वार्थाव्याख्यापरम्परानुसारि 'अर्धशखम्' इत्येकमेवोदाहरणमुपन्यस्तं वदन्ते । तत्र निर्दिष्टमपि विपरीतकृतता "अर्थः ८ शखम्" इति व्याख्याय उदाहरणसदृश्यां चाद्यादिसति निर्दिष्टमपि उदाहरणोक्तिरनादसरे अर्धशखमितिर्भूलज्ञातान्यौपत्तिकयां बुद्धौ इति विद्वद्भिर्विचारणीयमिति ॥

छायाए न उण्हेणं, न छत्तेणं न आगासेणं, न पादेहिं न जाणेणं, न पंयेणं न उण्पहेणं, ण ण्हाएणं ण मल्लिणेणं ति । पच्छा
अंगोह्वलीं काऊग चक्रमञ्जभूमीए एडिक्रगे एगं पादं काऊग चालणीणिहिउत्तमंगो संञ्जासमयम्मि अमावासाए आगतो । रण्णा
पून्तितां “गंधय्यसुरवसदो” इत्यादीमां गाथां स पपाठ । आसण्णे य सोवितो । जामविउद्वेण रण्णा सदाइतो—सुत्तो ? जग्गसि ? ।
भगति—सामि ! जग्गामि । सो सुत्तो विवुद्धो उट्ठितो । रण्णा भणितो—जग्गसि ? ति । जहा आणवेह । किं तुण्हिक्को अच्छसि ? ।
5 तेण भगितं—चित्तेमि । किं चित्तेसि ? । भगति—अस्सत्थपत्ताणं किं विटो महल्लो ? उदाहु छिधा ? । किह ते चित्तितां ? । भगति—
दो वि समागि १० । चित्तिण जामे छालियालिडियाओ वातेणं ११ । तइए खाडइला जत्तिया पंडरगा तेत्तिया ‘कालगा,
जत्तियं न पुंछं तत्तियं सरिरं पि आयामेणं १२ । चउत्थे जामे सदावितो वायं ण देति, तेण कंवियाए छित्तो उट्ठितो । भगति—
किं जग्गसि ? सुवसि ? । भगति—जग्गामि । किं करेसि ? । चित्तेमि । किं चित्तेसि ? । चित्तेमि—कतिहिं सि तुमं जातो ? ति ।
कतिहिं ? । तेण भगितं—पंचहिं । केण केण ? । रण्णा वेसमणेणं चंडालेणं रयएणं विंछिण्णं । तेण माया पुच्छिया, निव्वंवे कहियं
10 जहा—रायधीयमयत्तगओ रण्णा, उदत्थे वेसमणजक्खपडिमासव्वंगालिगगाभिप्पायसंपायगाओ वेसमणेणं, उउण्हाणसम-
णंत्तमेव चंडालंरयगदंसणे तदभिदासभावाओ तजायत्तगमवि, तथा विंछियभक्खगदोहले जाए कणिक्कामयस्स तस्स मक्ख-
णंत्तमसंपायगाओ विंछिण्ण वि । सो पुच्छित्तो—किह ते णायं ? ति । सो भगति—येन यथा न्यायेन रज्जं पालेसि तेण
एवमेव रायपुत्तो ति. वेसमणो दाणेणं. गेत्तेणं चंडालो, सक्खस्सहरणेणं रयओ, पुण जेण ममं कंवियाए घट्ठिहंसि तेण
विंछित्तो ति १३ । तट्ठे मया. मत्तेमि उवरिं उवित्तो. भोगो य से दिण्णो १ ।

सरडे—सण्णं वोसिरंतस्स सरडा भंडंता । एगो तस्स अहिट्टाणस्स हेट्टा विलं पविट्ठो पुंछेण छिक्को । घरं गतो अद्धितीए दुव्वलो जातो । वेज्जो पुच्छित्तो भणति—जति सतं देह । दिण्णं । तेण घडए सरडो छूट्ठो लक्खाए विलिपित्ता विरेयणं दिण्णं । वोसिरियं, सरडो कप्परे दिट्ठो, लट्ठीहत्तो ॥ वितितो सरडो—भिक्खुणा खुड्डतो पुच्छित्तो—एस सरडो किं सीसं चालेति ? । तेण भणितं—तुमं जोएति, किं भिक्खू ? भिक्खुणि ? त्ति ६ ॥

कागो—तच्चणिएण खुड्डतो पुच्छित्तो—अरहन्ताः सर्वज्ञाः ? । चाढं । तो केत्तिया इहं कागा ? ।

सट्ठिं कागसहस्सा इहइं वेण्णात्तडे परिवसंति । जदि ऊगगा पवसिता, अब्भहिता तत्थ पाहुणगा ॥ १ ॥

वितितो—निहिम्मि दिट्ठे महिलं परिक्खति—रहस्सं धरेति ? न व ? त्ति । सो भणति—ममं पंडरओ कागो अहिट्टाणं पविट्ठो । ताए सहज्जिताणं कहित्तं, जाव रण्णा सुतं । पुच्छित्तो । कहियं । रण्णा से मुक्कं, मंती य निउत्तो ॥

ततिओ—विट्ठविक्खरणे भागवतो खुड्डगं पुच्छति । खुड्डगो भणति—एस चित्तेति 'एत्थ विट्ठू अत्थि ? णत्थि ?' त्ति ७ ॥

उच्चारे—धेज्जातियस्स भज्जा तरुणी गामंतरं निज्जमाणी धुत्तेण समं लग्गा । गामे ववहारो । विभत्ताणि पुच्छिताणि 10 आहारं । विरेयणं दिण्णं, तिलमोदगा । इतरो धाडितो ८ ॥

गतो—हत्थी महत्तिमहालओ । जो तोलेति तस्स सयसहस्सं देमि । णावाए तोलेति । लंछिता णावा । उत्तारेऊग पाहाणाणं भरिया जाव सा रेहा । पाहाणा तोलिया । एत्तियं तुलति । जितो ९ ॥

घतणो—भंडो सव्वरहस्सितो । राया देवीए गुणे क्कहेति—गिरामयं ति । सो भणति—न भवति । किह ? । जता पुप्फाणि केसरणि वा ते ढोएति तद् त्ति । विण्णासितं । णाए हसितं । निव्वंवे कहियं । निव्विसतो आगतो । उवाइणाणं भारेण 15 उवट्ठितो । उड्डाहभीयाए रुद्धो १० ॥

गोलतो णक्कं पविट्ठो जतुमतो । सलागाए तावेत्ता कड्ढित्तो ११ ॥

खंभो तलागमच्चे । जो तडे संठित्तो वंधति तस्स एत्तियं दिज्जति । तडे खीलयं वंधिऊग परियंचिऊग वद्धो । जितो १२ ॥

खुड्डए—परिव्वाइया भणति—जो जं करेति तं मए कायव्वं कुसलकम्मं । खुड्डतो गतो भिक्खस्स । पडहतो वारितो । 20 गतो राउलं । दिट्ठो । सा भणति—कतो गिलामि ? । तेण सागारियं दाइतं जिता, काट्टण य पडमं छिहियं । सा ण तरति । जिता १३ ॥

मग्ग त्ति—एगो भज्जं गहाय पवहणेण गामंतरं वच्चति । सा सरोरचित्ताए ओत्तिग्गा । तांसे ख्वेग वागमंतरी विज्जया । इतरी रडति । ववहारो । दूरं हत्थो पसारितो । णातं १४ ॥

इत्थि त्ति—मूलदेवो अप्पवित्तिज्जओ वच्चति । इतो य एगो पुरिसो समहिलो आगच्छंतो दिट्ठो । तीए ख्वे मुच्छित्तो 25 एगन्ते उव्वत्तिऊग अच्छट्ठ । तेण वित्तियण्ण भण्णाति महिलइत्तो—मम महिला वितातुकामा, एयं विसज्जेदि ति । तेण विसज्जिता । सो तेण समं अच्छति । इतरी वि मूलदेवेण समं रमिऊग आगया ।

निगंतूण य तत्तो पडयं घेतूण कंडरीयस्स । धुत्ती भणति हसंती पियं खु णे दारओ जातो ॥ १ ॥ १५ ॥

पति त्ति—दोण्हं भाउगाणं एगा भज्जा । लोमे कोट्टं—दोह वि सन्ना । रण्णा सुतं, परं विस्सयं गतो । अरओ भण्णि—कतो एयं होहि ? त्ति, अवस्स विसेसो अत्थि । तेण लेहो दिण्णो, जहा—गामं गंतव्वं । एगो पुव्वेगे, एगो अवंगेगे भज्जाए अट्ठी- 20 वितो । ताए जो पितो सो अवरं पेसियो, जो वेसो सो पुव्वं पेसितो । वेस्सस्स आगच्छंतम्म वधंतम्म दि निट्ठान्ते रूरो । जम-

द्वहंतंयु पुणो वि पट्टविऊग समगं पुरिसा पेसिता । ते णं भणंति—ते दहं अपडुगा । 'एसो मंदसंघयणो' त्ति भणितुं तं पवग्गा । एवं नातं १६ ॥

पुत्ते जाते एगो वागियतो भज्जाहिं समं अन्नं रज्जं गतो । तत्थ मतो । तातो दो वि भणंति 'पुत्तो' त्ति पुत्तनिं वयदारो न छिज्जति । अमच्चो भणति—द्वहं विरिंचितुं दासगं दो भागे करेह करकचएणं । एगा भणति—एवं होतु । भगति—एतासेव पुत्तो, मा मारिज्जड । तीसेव दिण्णो १७ ॥

मधुरिसये—काइ कोलिगिणी उब्भामइलिया । तेणेव विहाणेण दरिसितं । णाता उब्भामइल त्ति १८ ॥

मुद्धियाए—पुरोहितो निक्खेवए घेतूणं अण्णेसिं न देति । अण्णदा दमएण ठवियं । पडियागतस्स ण देति । सो पिसा कतो । अमच्चो वीधीए जाति । भगति—देहि भो पुरोहित । मम तं सहस्सं । तस्स किवा जाता, रण्णो कहितं । रण्णा भणितुं देहि । 'ए गेहामि' त्ति भगति । अण्णदा रायाए समं जूयं रमति, नाममुद्दागहणं । रायाए सलक्खगं गहाय मणूसस्स ह 10 दिण्णो । [मज्जा से मरिगया—] अमुगं कालं साहस्सो णउलओ दमएण ठवितो तं देहि, इमं अभिण्णगणं । दिण्णो, आणितं एवमेव णउलओ मज्जे कतो । सो सदावितो । पच्चभिण्णगतो । एतेदिक्खणं त्ति १९ ॥

इच्छा—एगाए भक्तारो मतो । वड्डिपउत्तं न उगमति । मित्तो भणितो—उगमेहिं । तेण भणितं—मञ्ज वि भागं देहि । ताए भणितं—जं तुमं इच्छसि तं ममं देज्जसि । तेण उगमितं, सतं दिण्णं । सा णेच्छति । ववहारो । आणावितं । दो पुंजका कता । कतरं तुमं इच्छसि ? । भणति—वड्डं । ताहे भणितो—एतं चेव इमं देहि—त्ति दवावितो २६ ॥

सतसहस्सं ति—एगो परिभट्टओ । तस्स सयसाहस्सं खोरं । सो भगति—जो ममं अपुञ्चं सुणावेति तस्स एतं देमि । अण्णदा एगं नगरं गतो, तत्थ उग्वोसेति । सिद्धपुत्तेण सुतं, भगति—

मञ्ज पितुं तुञ्ज पिता धारेति अण्णणं सयसहस्सं । जति सुयपुञ्चं तो देहि, अह न सुयं सुयसु तो खोरं ॥ १ ॥

जितो २७ ॥ उप्पत्तिया गया ।

पं. २०, २२. वैनयिक्यामुदाहरणदर्शनाय “निमित्ते” इत्यादिगाथाद्वयम्—निमित्तं १ अर्थशास्त्रं च २ “लेहे” इति लेखनं ३ गणितं च ४ कूपः ५ अश्वश्च ६ गर्दभः ७ लक्षणं ८ ग्रन्थिः ९ अगदं १० गणिका च रथिकश्चेति ११ शीता शाटी दीर्घं च तृणं अपसव्यकं च क्रोञ्चस्य इत्येकमेव १२ । नवरम्—अतीमितायामपि शीता शाटीत्याहुः, शीतं ते कार्यम्, दीर्घं तृणं द्वाराभिमुखं कुर्वतां ‘गच्छ, दीर्घं मार्गं प्रतिपद्यस्व’ क्रोञ्चाप्रादक्षिण्येनोत्तारणं ‘प्रतिकूलं सम्प्रति ते राजकुलम्’ इत्युपाध्यायेनावगम्यते बुद्ध्या । नीत्रोदकं च १३ गौणः घोटकः पतनं च वृक्षादित्येकमेव १४ । एवं वैनयिक्यां सर्वांग्रेण चतुर्दश ज्ञातानि ।

निमित्ते—एगस्स सिद्धपुत्तस्स दो सीसगा निमित्तं सिक्खंति । अण्णदा तण-कट्टस्स वच्चंति । तेहिं हत्थिपदा दिट्ठा, एगो भगति—हत्थिणियाए पदा, कहं ? काइएण । सा य हत्थिणी काणा, कहं ? एगपासेण तगाइं खादिताइं । तहा काइएणवणात्तं—जहा इत्थी पुरिसो य विल्लगाणि । सो वि णातो [‘जुवागो’ त्ति] । सा य ‘गुन्विणि’ त्ति णाता, हत्थाणि थंभित्ता उट्ठिता । 15 दारतो से भविस्सति, जेण दक्खिणपादो गुरू । पोत्ता रत्ता, दसिता रुक्खे लगा । णदीतीरे एगाए थेरीए पुत्तो पवसियओ तस्स आगमणं पुच्छिता । तत्थ य घडतो भिण्णो, तत्थ य एगो भगति—

तज्जातेण य तज्जायं, तन्निमेण य तन्निभं । तारूवेण य तारूवं, सरिसं सरिसेण निदिसे ॥ १ ॥ [गणिविद्यागा. ७५]

‘मतओ’ त्ति परिणामेति । वित्तियो भगति—जाहि वुड्ढे ! सो घरं आगतेट्टओ । सा गता, दिट्ठो पुंवाताओ । सा जुवल्यं रूवए य गहाय आगता, सक्कारितो । वित्तियओ भगति—मम सन्भावं गुरू न कहंति । तेगं पुच्छिता । तेहिं जहाभूतं 20 कहितं । एगो भगति—‘विवत्ती’ मरणं । एगो भगति—‘भूमिजो भूमिं चेव मिलितो’ एवं सो वि दारतो । भणितं च—“तज्जाएण त तज्जातं” सिलोगो १ ॥

अत्थसत्थे—कप्पओ दधिकुंडा उच्छुकलावग एवमादि २ ॥

लेहे जहा—अट्टारसल्लिविजागतो ॥ एवं गणिए वि ॥ अण्णे भणति—वट्टेहिं स्मंतेण अक्खराणि सिक्खविना गणियं च । अयं भावार्थः—खट्टिकामया गोलकास्तथोपाध्यायेन भूमौ पातितः कुमारगामकुरिअगाय यथा नृमावअगग्गुपदन्ते ३ । ४ ॥ 25

कूवे—खायजाणएणं पमाणं भणितं—जहा एदूरे पाणितं ति । तेहिं खायं । तो दोलीं तस्स कहितं । ‘पामे आट्टण्ट’ नि भणिता । थासगसदेण जलमुद्धाइतं ५ ॥

आसे—आसवाणियगा चारवड्डं गता । सव्वे कुमारा धुट्ठे वड्डे य गिहंति । वानुदेवेण जो दृय्ये लम्भगुणो सो गहितो ६ ॥

गहमे—राया तरुणपितो । अण्णत्थ उद्धाइतो सिणपट्टिए जग्गिसे । निम्मा पंडितो । येणं पुत्तति । वेमन्निं । एगं 30

१ पूर्वसातः ॥ २ तरुणप्रियः ॥

पिनिर्भितेण आणितओ । तेण कहियं । धेरो भगति-मुयह गदभे, जत्थ गदभा उरिसवन्ति लेइंति य तत्थ पाणितं । खइतं, पीता य । अण्णे भणंति-उरिसवगाए चैव जलासतगमणं ७ ॥

लक्खणे-पारसविसए आसरक्खओ । धीताए तस्स समं संपत्ती । ताए भणितो-वीसत्थाणं घोळचम्मं पाहणाणं भरेऊणं रुक्खाओ मुयाहि, तत्थ जो ण उत्तसति तं लएहि; पडहयं च तालेहि, बुञ्जावेहि य खक्खरेणं, जो ण उत्तसति तं लएहि । सो वेनगगकांठे भगति-मम दो देहि अमुगं च अमुगं च । तेण भणितं-सव्वे गेण्हाहि, किं ते एतेहि ? । णेच्छति । भज्जाए क्कणं-धीता से दिज्जड । सा नेच्छति । सो तीसे वड्ढतिदारुणं कहेति-लक्खणजुत्तेणं कुडुवं परिवड्ढति त्ति-एगस्स मातुलएणं भुत्ता दिग्गा । कम्मं न करेइ । भज्जाए चोत्तितो दिवे दिवे अडवीओ रित्तओ एत्ति, छट्ठे मासे लडं । कुलवो सतसहस्सेण सेट्ठिणा वड्ढओ 'अक्खयगिद्धि' त्ति ८ ॥

गंधिमं-पाडलिपुत्ते नयरे पालित्तयआयरिया अच्छंति । इतो य जाणएहि इमाणि विसज्जिताणि पाडलिपुत्तं-सुत्तं १० शोदिये १ कट्ठी ममा २ समुग्गओ ३ त्ति । केणइ ण णाताणि । पालित्तयआयरिया सदाविता-तुम्भे जाणह भगवं !? ति । कदं चान्तामि । म्मुं उग्गोदये छूढं, मययं विरायं, दिट्ठाणि अग्गयाणि । दंडओ पाणिते छूढो, मूलं गरुयं । समुग्गतो जउणा धेरेओ उग्गोदए कट्ठितो, उग्गडितो न । तेण वि य काउमं राइलेऊग रयगाणि छूढाणि, तेणगसिञ्चणीए सिञ्चेऊग विसज्जितं । भणित्तए गेण्हा । ए मग्गिं ९ ॥

भगदे 'अक्खेणं एतं गेण्हे एवि' नि गयाए 'पाणित्ताणि विगासियव्वणि' [त्ति] विसकरो पाडितो । पुंजा कया । ११ ते ते भगणे अक्खेणं भणंती । कवे ? । दणित्तउ हवी आणितो, पुंजवालो उप्पाडितो, तेणं चैव वालग्गेणं तत्थ विसं दिण्णं, विण्णं एतेणं एतेणं । एम मग्गे विमं, जो वि गानि एतं सो वि विसं, एतं सतसहस्सवेही । अत्थि निवारगविणी ? । १२ ॥

कम्मो' ति ण्हाविता पुच्छिता-केण आउसं कारितं ? । तेण(एगेण) भणितं-दासीए । सा पहता । ताए कहितं । वाणिगिणी पुच्छिता । साहति सम्भावं । तयाविसो गोणसो ति दिट्ठो १३ ॥

गोण घोडग रुक्खपडणं च-एगो अकतपुण्णो जं जं करेति तं तं से विवज्जति । मित्तस्स जाइएहिं वइल्लेहिं हलं वाहेति । विगाले आणित्ता वाडे छूढा । सो य मित्तो सें जेमेति, सो लज्जाए ण दुक्को । तेण वि दिइ। ते निष्फडिता वाडाओ, हरिता । गहितो 'देहि' ति । राउलं निज्जति । पडिपहेणं घोडणं पुरिसो एति । सो तेण पाडितो आसेणं । सो पालतेण भणितो-आहण ति । तेण मम्मे आहतो मतो । तेण वि लइओ । विगाले नगरस्स वाहिरियाए बुत्था ; तत्थ लोमं-स्थिया सुत्ता, ईमे वि तहिं चेव । सो चित्तेति-जावज्जीववंदणो करिस्सामि, वरं मे अप्पा ओवद्धो । तेषु सुत्तेसु सो उंडिकखंहेण तम्मि वडरुक्खे अप्पाणं उक्कलंवेति । तं दुव्वलं तुट्ठं । तेण लोमंथितमहतरतो मारितो । तेहिं वि गहितो । पभाए करणं णीते तिहिं वि कहितं जहावत्तं । सो पुच्छितो भणति-आमं ति । कुमारामच्चो भणति-तुमं वलदे देहि, एतस्स अच्छीणि उक्खम्मंतु । वित्तितो भणितो-एतस्स आसं देउ, तुञ्ज जीहा उक्खम्मउ । इतरे भणिता-एस हेडा होउ, तुभं एगो उव्वंधित्तुं निप्पडउ ति काउं 10 मंतिणा मुक्को १४ ॥ वेणतिया गता ॥

पं. २८. कर्मजबुद्धचुदाहरणेप्वियं गाहा-"हेरणि" इत्यादि । 'हेरणियकः' सौवर्णिकः १ 'कर्पकः' कृषीवलः २ "कोलिय" ति कोलिकः-तन्तुवायः ३ "डोवे य" ति दर्वी-चट्टकश्च, परिवेषक इत्यर्थः ४ "मुत्ति" ति मौक्तिकप्रोता ५ "घय" ति घृतप्रक्षेपकः ६ प्लवकः ७ "तुनाय" इति 'तुनवायः' तुल्यं-त्रुटितं वयति-सीव्यति यः स तथा ८ वर्द्धकिः ९ "पूइए य" इति 'पूपिकः' कान्दविकः १० "घड-चित्तकारे य" इति घटकारः-कुम्भकारः ११ चित्रकारः-चित्रकर्मविधाता १२ । एवं द्वादश 15 दृष्टान्ताः कर्मजायां मंतौ ॥

हेरणिंते अभिक्खजोगेणं अंधकारे वि रुक्खं जाणेति हत्थपरामोसेणं १ ॥

करिसतो अभिक्खजोगे जाणति फलनिष्फत्तिं । तत्थ उदाहरणं-एगेणं चोरेणं खत्तं पडमागारेणं छिन्नं । सो जणवत्तं निसामेति । करिसतो भणति-किं सिक्खितस्स दुक्करं ? । चोरेणं सुत्तं । पच्छतो गंतूण लुरियं अंछिऊण भणति-मारमि ते । तेण पडयं पत्थरेत्ता वंधियाण सुट्ठी भरितो, भणति-किं परम्महा पडंतु ? ओरम्महा ? पासइिया ? । तहेव कत्तं । तुट्ठो २ ॥ 20

कोलितो मुट्ठिणा गहाय तंतू जाणति-एत्तियाएहिं वा कंडएहिं विज्जिहिं ति ३ ॥

डोए वड्ढई जाणइ-एत्तियं माहितं ४ ॥

मोत्तियं आयिणेन्तो आगासे उक्खिवित्ता तहा निक्खिवानि जहा कोळवाटे पटति ५ ॥

घते-सगडे संतओ जदि रुच्चति कुंडियाए णालए लुहति धारं ६ ॥

पवंओ आगासे ताणि करणाणि करेति ७ ॥

तुण्णाओ पुवं थुल्लाणि पच्छा जहा ण णज्जति म्तीए तत्तियं गेण्हति जत्तियं सम्पति । जहा मामिंमे ने दसं धीयारेण कारितं ८ ॥

वड्ढई अमवेऊण देवकुल्लराण पमाणं जाणति ९ ॥

घडगारो पमाणेण मट्ठितं गेण्हति, भाणस्स वि पमाणं अग्निग्निता केणति १० ॥

पूविओ वि पगल्लपरिमाणं अमवेऊणं करेति ११ ॥

चित्तकारो पच्छा अमवेऊणं पमाणजुत्तं करेति, तत्तियं वा वण्णं केण्दि जत्तियं सम्पति १२ ॥ कम्मया गमणा ॥ 21

[पृष्ठ ४९]

पं. ५. पारिणामिकबुद्धाबुद्धाहरणानि यथा “अभए” इत्यादि । “अभए” इति अभयकुमारः १ “सेट्टि” ति काष्ठश्रेष्ठी २ “कुमारं” इति क्षुद्रककुमारः ३ ‘देवी’ पुष्पवत्यभिधाना ४ उदितोदयो भवति राजा ५ साधुश्च ‘नन्दिपेगः’ श्रेणिकपुत्रः ६ ‘धनदत्तः’ मुमुमापिता ७ श्रावकः ८ अमात्यः ९ क्षपकः १० अमात्यपुत्रः ११ चागक्यश्चैव १२ स्यूलभद्रश्च १३ “नासिककमुंदरीनंद” ति नासिकनामनि नगरे सुन्दरीनन्दो वणिक् १४ “वडर” इति वैरस्वामी १५ । ‘पारिणामिकी बुद्धिः’ इत्यनेन वाक्येनात्र पारिणामिकीबुद्धियुक्ता ब्राह्मणी पुत्रिकाचतुष्टयस्य शिक्षादायिनी देवदत्ता च गणिका गृह्यते । इयं च चित्र-
कर्मणा सर्वज्ञाभिप्रायग्राहिका १६ ॥

“चन्द्रगाहग” ति चल्नाहननं १७ “आमंड” ति कृत्रिमामलकं १८ मणिश्च १९ सर्पश्च २० “खग” ति खड्गः १२ म्मुन्दः २२-२३ पारिणामिक्यां बुद्धौ एवमादीनि भवन्त्युदाहरणानि । एवं च पारिणामिक्यां बुद्धौ सूत्रोपात्तानि
१० प्रादिगतिर्ज्ञानानि ॥

अभयस्य कवं पारिणामिना बुद्धौ ?—जदा पज्जोओ गतो, रायगिहं रोहितं, तदा अभयेणं खंधावारनिवेसजाणणं
पुण्णं सवका कडकका न्नामिना । कडियं च से जथा—भेदितो खंधावारो । दावित्तिसु णट्टो एस ॥ अहवा जाहे गणियाहिं कव-
विण्णं सवको कडो ज्ञाव नेभिन्तो चचारि वारे । नितियं च णेण—मोतावेमि अप्पाणं । वरे मग्गितो—अग्गि अतीमि ति मुक्को ।
अथ अग्गि वरं एवे अग्गि अग्गितो, अहं पुग ते दिवसतो ‘पज्जोओ हीरति’ ति कंदंतं नगरमज्जेण नेमि । गतो रायगिहं ।
१५ वरं एवे अग्गि वरं, अग्गि वरं कडियदागियाओ, गडितो, रडंततो हियो । एवमादिगातो बहुतातो अभयम्मि पारिणामि-
नाते बुद्धौ १५ ॥

कुमारो—खुड्गकुमारो जहा जोगेसंगहेहिं ३ ॥

देवी—पुष्पभदे णगरे पुष्पसेणो राया, अगमहिसी य पुष्पवती देवी । तीसे दो चेडरूवाणि पुष्पचूली पुष्पचूला य । तागि अणुरत्ताणि भोगे भुंजति । देवी फवइता देवलोमे उववण्णा देवो जातो । सो देवो एवं चिंतेति—जति एताणि एवं मरंति तो नरग-तिरिएसु उववज्जिहन्ति । सुविणए सो देवो नरए देवलोए य उवदंसेति । सा भीता जाया पुच्छति पासंडिते । ते ण जाणंति । अण्णियपुत्ता तत्थ आयरिया ते सदाविता । तहेव सुचं कड्दंति । सा भगति—किं तुभेहिं सुविणतो दिट्ठो ? । सो भगति—अहं एरिसं सुत्ते दिट्ठं । फवइता । देवस्स पारिणामिता ४ ॥

पुरिमतालं नगरं । उदितोदयो राया । सिरिकंता देवी । दोण्णि वि सावगाणि । परिक्वाइया जिता । दासीहिं सुहमकडिताहिं वेलविता गिच्छूढा पदोसमावण्णा । वाणारसीए धम्मरुई राया । तत्थ गता फलयपट्टियाए रूवं सिरिकंताए लिहिऊणं दाएति धम्मरुयिस्स रण्णो । सो अञ्जोववण्णो दूतं विसजेति । पडिहतो निच्छूढो । ताहे सच्चवलेण आगतो णगरं रोहेति । सो सावगो चिन्तेति उदितोदयो राया—किं वड्ढेणं जगक्खएणं ? ति उववासं टितो । वेसमणेणं देवेणं सनगरं सावितो । उदितोदयस्स परिणामिया ५ ॥

साधु य णंदिसेणे त्ति—सेणियपुत्तो नंदिसेणो । सीसो य तस्स ओहागुप्पेही । तस्स नंदिसेणस्स चिता—भगवं जति एजा तो देवीओ अण्णे वि य अतिसए पेच्छऊग जदि थिरो होज्ज त्ति । भट्टारओ आगतो । सेणिओ सअंतेउरो णीति, अण्णे य कुमारा संतेपुरा । णंदिसेणस्स अंतेपुरं सेतवरवसणं, पउमिणिमञ्जे हंसीओ व्व ओमुक्कआभरणाओ सच्चवासिं छाये हरंति । सो ताओ दट्ठणं चित्तेति—जदि भट्टारएणं एरिसियाओ मुक्काओ, किमंग ! पुण मञ्ज मंदभगस्स असंताणं परिचइय- 15 व्वियाण त्ति निव्वेगमावण्णो, आलोइय-पडिकंतो थिरो जातो ६ ॥

धगदत्तो मुंमुमाते परिणामेति—जति एतं ण खामो तो अंतरा मरामो त्ति ७ ॥

सावओ सावियवयंसियाए मुच्छितो । तीसे परिणामो जातो—मा अइवसट्ठो मरिहि तो णरण्णु निरिएणु वा उववज्जिदिति, संसारं हिडिहिति । तीसे आभरणेहिं विणीतो । संवेगो कहणं च ८ ॥

अमच्चो त्ति—वरधणुगपिता जउवरे कते चित्तेति—एस कुमारो मारितो होनि, चाहिं पि रक्खिज्जिति ति मुंमुमाते 20 णीणितो पलातो ॥ अण्णे भणंति—एणो राया, देवी से अतिप्पिया कालगता । सो य मुओ । सो नीए, वियोगदुमित्तो ण सरीर-ट्टिइं करेति । मंतीहिं भणितो—देव ! एरिसो संसारद्विति त्ति किं कोरउ ? । सो भगति—नाहं देवीए सरीरद्विनि अकर्मण करेमि । मंतीहिं परिचित्तियं—‘न अण्णो उवाओ’ त्ति पच्छा भणितं—देव ! देवी मग्गं गता, नं नक्खट्टिनियाए चैव मे सत्थं पसि-ज्जउ, लट्ठकतदेविद्वित्तिपउत्तीए पच्छा करेज्जसु त्ति । रण्णा पडिस्सुतं । माहट्टाणेण एणो पेसितो । अण्णो आसंनृग साहनि-कता सरीरद्विती देवीण । पच्छा राया करेति । एवं पडिदिणं करेताण काओ वच्चति । देवीसेसववदेसेण वदं कट्टिणगादि 25 खज्जनियरा य । एणेण चित्तियं—अहं पि पवत्ति कहेमि । पच्छा राया दिट्ठो । तेण भणितो—कतो तुमं ! । भगति—देव ! मग्गानो । रण्णा भणितं—देवी दिट्ठ ? त्ति । सो भगति—तीए चैव पेसितो कट्टिमुत्तगादिनिमित्तं ति । दाभियं मे कट्टिउयं किं ति ण संपेडति । रण्णा भणियं—कदां गमिस्ससि ? । तेण भणितं—कट्टं ? । रण्णा भणितं—कट्टं ते संसट्ठग्गं । मंती आदिट्टा—मित्तं संपेडह । तेहिं चित्तियं—विणदुं कज्जं, को एत्थ उवाओ ? त्ति विसण्णा । एणेण भणितं—धीम होउ, अहं अट्टरससि । देवी मे संपेडिऊग राया भणितो—देवीए कहं जाहिति ? । रण्णा भणितं—अहं कदं जंतगा ? । तेण भणितं—उवरे जं एट्टेवसं मे जउ 30 णयंसेणे, ण अण्णहा सग्गं गम्भति त्ति । रण्णा भणितं—तहेव पवेसेह । तहेव आउत्तो । सो विण्णो । मंती य पुत्ते

१. आवरयकनिर्दुसिगाथा १३०० हरिभद्रसूत्रौ ॥

वायालो रण्णो समक्खं वहुं उवहसति तं विसन्नं—जहा देविं भणिज्जसि, सिणेहवंतो ते राया, पुणो वि जं कज्जं तं संदिसेज्जासि, अज्जं च इमं च इमं च बहुविहं भणेज्जसि । तेण भणितं—देव ! णाहमेत्तिगमविगलं भणिउं जाणामि, एसो चेव लट्ठो, पेसिज्जउ । रण्णा पडिस्सुत्तं । सो तहेव निज्जिउमादत्तो । इतरो मुक्को । इतरस्स माणुसाणि विसण्णाणि पल्लंति—हा देव ! अम्हे किं करि-
ज्जामो ? । तेण भणितं—नियतुंउं रक्खेज्जह । पच्छा मंतीहिं खरंठित मुक्को, मडगं दड्ढं । मंतिस्स पारिणामिता ९ ॥

- 5 स्वमए—स्वमओ चेल्लएण समं भिक्खं हिंइति । तेण मंडुक्कल्लिया मारिया । आलयणवेलाए णाऽऽलोएति । खुइएणं भणिओ—आलोएह ति । सो लट्ठो 'आहणामि' ति पधावितो खंभं आवडिओ मओ । एगत्य विराहितसामण्णाणं सप्पाणं कुलं तथ उववण्णो दिट्ठिविसो सण्णो जातो । जाइस्सरणेण अवरोप्परं जाणंति, रत्तिं चरंति 'मा जीवे मारेहामो' ति, फासुगमाहारंति । अण्णया व्को पुत्तो अहिणा खइतो मतो य । राया सप्पाणं पयोसमावण्णो भणति—जो सप्यं मारेति तस्स दीणारं देमि । पण्णया अहिंइणं तागं वेदानो दिट्ठोओ. तं विलं ओसहीहिं धम्मति, सीसाणि निंताणं छिंदति । सो अभिमुहो ण णीति 'मा
10 रंवि मारेहामि' ति जनिस्सरण्णेणं. तं निग्गयनिग्गतं छिंदति । पच्छा रण्णो उवगीताणि । सो राया णागदेवताए वोहिज्जति—
मा मरेहं. नागदिण्णो ते कुमारो होइ ति । सो स्वमगसण्णो मतो समाणो तथ राणियाए पुत्तो जातो । उम्मुक्कवालभावो सायुं वट्ठे रत्तिं मरेहंता पववितो । सो य लुट्ठाल्लओ अभिग्गहं गेण्हति—न मए रूसियव्वं ति । दोसीणस्स य हिंइति । तथ आय-
भिक्खं मारे चण्णं स्वगा—मासितो दोमासितो तिमासितो चउमासितो । रत्तिं देवता आगता ते अण्णे स्वमए अतिकमिता
ये वेरंति । स्वमए निग्गयंती तथे मदिता. भणिता य—कडपूतणे ! एतं तिकालभोइं वंदसि, इमे महातवस्सी ण वंदसि । सा
15 मरेहंता मरेहंता मरेहंता. ण वट्ठेस्वमए ति गता । पभाए दोसीणस्स गतो निमंतेति । एणेण पातं गहाय खेलो लूट्ठो ।
सो मरेहंता मरेहंता मरेहंता. ण वट्ठेस्वमए ति गता । पभाए दोसीणस्स गतो निमंतेति । एणेण पातं गहाय खेलो लूट्ठो ।
सो मरेहंता मरेहंता मरेहंता. ण वट्ठेस्वमए ति गता । पभाए दोसीणस्स गतो निमंतेति । एणेण पातं गहाय खेलो लूट्ठो ।

धूलभद्रसामिस्स पारिणामिता-पितुम्भि मारिते कुमारो भण्णति-अमच्चो होहि त्ति । सो असो गवणियाए चित्तेति-
केरिसा भोगा वाडलाणं ? ति । ताहे पञ्चयितो । राया भणति-पेच्छह, मा कवडेणं जाएजा । गितस्स सुणगमडो वावण्णो, णासं
ण ठएत्ति, वच्चइ पडिलेहंतो । रण्णो कहितं-विरत्तभोगो त्ति । सिरितो ठवितो १३ ॥

णासिकं णगरं, नंदो वाणियज्जो, सुंदरी से भज्जा, सुंदरिणंदो से णामं जातं । तस्स माता पुव्वेपव्वतिततो सो
सुणेति-जहा तीए अच्चोववन्नो । पाहुणतो आगतो, पडिलाहितो, भागं तेग गहितं । 'इह पृथ विसज्जेहिति' त्ति उज्जाणे णीतो ।
'मा भोगिद्वो णरगे जाहिति' त्ति अहिगयरेणं उव्वपलोभेमि । सो य वेडवित्तलद्धीए मकडिं दरिसेत्ता पुच्छति-का सुंदरि ?
त्ति । सुंदरी । पच्छा विजाहरोए, तुल्ला । पच्छा देवीए, 'देवी अतिसुंदरि' त्ति सुच्छितो भगति-कहं एसा लभति ? । 'धम्मेण'
त्ति पञ्चइतो । साधुस्स पारिणामिकी १४ ॥

वडरसामिस्स देवेहिं परिणामो, तज्जो माता णायुवत्तिया 'मा संयो अवमाणिहिति' त्ति । पाडलिपुत्ते वेडव्विए 'मा
परिविहिति' त्ति । पुरियाए 'पवयगधोभावणां मा होहिति' त्ति सव्वं कहितव्वं १५ ॥

चळणाहणणे-राया तरुणेहिं वुग्गाहिज्जति-जहा थेरा कुमारामच्च अवणिज्जंतु त्ति । सो तेसिं मतिपरिक्खगनिमित्तं
भणति-जो रायं संसे पाएण आहणति तस्स को दंडो ? । तरुणा भणंति-तिलं तिलं छिंदियव्वतो । थेरा पुच्छिता । 'चित्तेमो'
त्ति ऊसरित्ता चित्तेत्ता 'शृणं देवीए को अण्णो आहणिहिति ?' त्ति आगता भणंति-सक्करेयव्वज्जो १६ ॥

आमल्लगं कित्तिमं । एगेण णातं-अकालो, विवं होहिति त्ति १७ ॥

मणिम्मि-सप्पो पक्खीणं अंडगाणि स्वाति रक्खं विलगित्ता । तत्थ गिद्धेग आल्लयं विलगो मारितो । तत्थ मणी 1
पाडितो । हेट्टा कूचो, तं पाणीयं रत्तीभूतं । कूवातो णीणियं सामावितं । दारणं थेरस्स कहितं । तेग विलगिज्जय गहितं १८ ॥

सप्पो चंडकोसिज्जो चित्तेति-एरिसो महप्पा १९ ॥

खग्गो-सावगपुत्तो जोव्वणवत्तम्मत्तो धम्मं नेच्छति । तत्तो खग्गेणु उव्ववग्गे पट्टस्स दोदि वि पासेहिं जहा पत्तवा
तहा चम्माणि लवंति । अडवीए चउम्मुहापहे जणं मारति । साहुणो य तेगेय पडेग अइकमंति । वेगेण आगतो तेएग ण नगति
अल्लिविडं । चित्तेति । जाती संभरिता । पच्चक्खाणं । देवलो गगमणं २० ॥

धूमो-वेसालीए नगराए णगरनाभीए मुणिगुच्चयसामिस्स धूमो । तस्स गुणेण कृणितस्स ण पटति । देवया
आगासे कृणितं भगति-

समणं जहा कूलवाल्लयं, मागद्धिता गणिया रमेहितो । राया य अयोगवंदण, वेमालिं नगरिं गल्लित्ति ॥ १ ॥

सो मणिज्जति । का तस्स उप्पत्ती ? । एगस्स आयरियरस्स चेळ्ळो अदिगीतो । आयरियो थंवायेति । थं कर्त्तति ।
अण्णया आयरिया सिद्धसिलं तेग समं वंदगा विलगा । ओयरताणे वहाए मिला सुग्गा । डिट्टा आयरियं, पादा भोगाणा, 25
इहारा मारितो होन्तो । सावो दिण्णो-दुग्गामन् ! कूथीहितो विगम्मिहितिसि त्ति । 'मिच्छादादी मवव' त्ति काटं वावमारणे
अच्छति, णदीए कूलं आयावन्ति, पंथव्भासे जो सत्थो एति तत्तो आहारे होइ । णदीए कूलं आयावन्तस्स मा नदी अण्णो
पट्टा तेग कूलयारत्तो जातो । तत्थ अच्छंतो आगन्तितो । गनिवाज्जो सदाविताज्जो । एगं मारितं-अदे अणेमि । अट्ट-
साविगा जाता । सत्थेण गता वंदति-उदागभोइग सिद्धं, चेद्वदं वंदति, तुम्हे य मुत्ता, अण्णया मि । णरयो मोदगा संसे-
इया, अनिसारो जातो, पथोणेग ठविज्जो । उव्वत्तगादीहिं संभियं चित्ते, अणित्तो, अण्णो-अणो वववो वंदि । 26 ॥ एगं 29
वेसाली धेप्पइ । धूमो णीगावितो । गहिया २१ ॥

धूलभद्रसामिस्स पारिणामिता—पितुन्मि मारिते कुमारो भण्णति—अमच्चो होहि त्ति । सो असोगवणियाए चित्तेति—
केरिसा भोगा वाडलाणं ? त्ति । ताहे पच्चयितो । राया भणति—पेच्छह, मा कवडेणं जाएजा । गितस्स सुणगमडो वावण्णो, पासं
ण ठएत्ति, वच्चइ पडिलेहंतो । रण्णो कहितं—विरत्तभोगो त्ति । सिरितो ठवितो १३ ॥

णासिकं णगरं, नंदो वाणियओ, सुंदरी से भजा, सुंदरिणंदो से णामं जातं । तस्स माता पुव्वेपव्वतिततो सो
सुणेति—जहा तीए अच्चोववन्नो । पाहुणतो आगतो, पडिलाहितो, भागं तेग गहितं । 'इह एत्थ विसज्जेहिति' त्ति उज्जाणे णीतो ।
'मा भोगगिद्धो णरगे जाहिति' त्ति अहिगयरेणं उवप्पलोभेमि । सो य वेडव्वितलद्धोए मक्कडिं दरिसेत्ता पुच्छति—का सुंदरि ?
त्ति । सुंदरी । पच्छा विजाहरोए, तुल्ला । पच्छा देवीए, 'देवी अतिसुंदरि' त्ति मुच्छितो भगति—कहं एसा लब्भति ? । 'धम्मेण'
त्ति पच्चइतो । साधुस्स पारिणामिकी १४ ॥

वदरसामिस्स देवेहिं परिणामो, तओ माता णाणुवत्तिया 'मा संघो अवमागिहिति' त्ति । पाडलिपुत्ते वेडव्विए 'मा
परिविहिति' त्ति । पुरियाए 'पवयगओभावणां मा होहिति' त्ति सव्वं कहितव्वं १५ ॥

चलणाहणणे—राया तरुणेहिं वुगाहिज्जति—जहा थेरा कुमारामच्चा अवणिज्जंतु त्ति । सो तंसे मतिपरिक्खगनिमित्तं
भणति—जो रायं सांसे पाएण आहणति तस्स को दंडो ? । तरुणा भणति—तिलं तिलं छिंदियव्वतो । थेरा पुच्छिता । 'चित्तेमो'
त्ति ऊसरित्ता चित्तेत्ता 'णूणं देवीए को अण्णो आहणिहिति ?' त्ति आगता भणति—सक्कोरयव्वओ १६ ॥

आमलगं कित्तिमं । एगेण णातं—अकालो, विवं होहिति त्ति १७ ॥

मणिम्मि—सप्पो पक्खीणं अंडगाणि स्वाति रुक्खं विलगित्ता । तथ्य गिद्धेग आलयं विलगो मारितो । तथ्य मणी 15
पाडितो । हेट्टा कूवो, तं पाणीयं रत्तीभूतं । कूवातो णीगियं सामावितं । दारणं थेरस्स कहितं । तेग विलगिज्जग गहितं १८ ॥

सप्पो चंडकोसिओ चित्तेति—एरिसो महप्पा १९ ॥

खग्गो—सावगपुत्तो जोव्वणव्वलम्मत्तो धम्मं नेच्छति । तत्तो खग्गेणु उववणो पट्टस्स दोदि वि पासंदि जहा पत्तया
तहा चम्माणि लवंति । अडवीए चडम्मुहापहे जणं मारति । साहुणो य तेग्ये पहेग अड्डमंति । वेगेण आगतो तेग्ये ण तरति
अल्लिविडं । चित्तेति । जाती संभरिता । पच्चक्खाणं । देवलोगगमणं २० ॥

धूमो—वैसालीए नगरीए णगरनाभीए मुणिमुव्वयसामिस्स धूमो । तस्स गुणेण कृणितस्स ण पडति । देवया
आगासे कृणितं भगति—

समणं जदा कूलवाल्लयं, मागहिता गणिया स्मेहिता । राया य अमानवंदए, वेमालिं नगरिं गट्टिज्जितो ॥ १ ॥

सो मग्गिज्जति । का तस्स उप्पत्तो ? । एगस्स आयरियस्स चेच्छओ अविगीतो । आयरितो प्रवहेति । वेगं वरति ।
अण्णया आयरिया सिद्धसिलं तेग समं वंदगा विलगा । ओयरंताजं वहाए मिला सुत्ता । विट्टा आयरियं, पादा ओयाया, 25
शहरा मारितो होन्तो । सावो दिण्णो—दुरात्मन् ! इत्थीहितो विगमिसिहिति त्ति । 'मिच्छावादी भवतु' त्ति कायं वाचमागसे
अच्छति, णदीए कूले आयावन्ति, पंधव्भासे जो सत्थो एति तत्तो आहागे होइ । पट्टीए कूले आयावन्तस्स मा ततो अण्णो
पट्टा तेग कूलवारतो जातो । तथ्य अच्छेतो आगमितो । गणियाओ सदावित्तो । एगं सव्वि—अहे अयेमि । कवट्ट-
सादिगा जाता । सव्वेण गता वंदति—उदागभेइण सि, च्छेदयं वंदामि, तुम्हे य सुत्ता, अण्णया त्ति । एगं सव्वे सव्वे
इया, अतिसारो जातो, पयोगेण ठविओ । उव्वत्तगादाहिं संनिणं चित्तं, अण्णितो, अण्णो—अण्णो वक्कां वरेत्ति । त्ति ॥ २१ ॥ 29
वैसाली धेप्प । धूमो णीगावितो । गहिया २१ ॥

धूलभद्रसामिस्स पारिणामिता-पितुन्मि मारिते कुमारो भण्णति-अमच्चो होहि त्ति । सो असो गवणियाए चित्तेति-
केरिसा भोगा वाउलणं ? ति । ताहे पच्चयितो । राया भणति-पेच्छह, मा कवट्ठेण जाएजा । गितस्स सुणामडो वावण्णो, पासं
ण ठप्ति, वच्चइ पडिलेहंतो । रण्णो कहितं-विरत्तभोगो त्ति । सिरितो ठवितो १३ ॥

पासिकं णारं, नंदो वाणियओ, सुंदरी से भज्जा, सुंदरिणंदो से णामं जातं । तस्स भाता पुव्वेपच्चतिततो सो
सुणेति-जहा तीए अच्चोवन्नो । पाहुणतो आगतो, पडिलाहितो, भागं तेग गहितं । 'इह एत्थ विसज्जेहिति' त्ति उज्जाणे णीतो ।
'मा भोगमिदो णरगे जाहिति' त्ति अहिगय्येण उवप्पलोभेमि । सो य वेउच्चित्तलद्धोए मक्काडिं दरिसेत्ता पुच्छति-का सुंदरि ?
त्ति । सुंदरी । पच्छा विजाहरीए, तुल्ला । पच्छा देवीए, 'देवी अत्ति सुंदरि' त्ति मुच्छितो भगति-कहं एसा लब्भति ? । 'धम्मंणं'
त्ति पच्चइतो । साधुस्स पारिणामिकी १४ ॥

वड्सामिस्स देवेहिं परिणामो, तओ माता पाणुवत्तिया 'मा संयो अवमागिहिति' त्ति । पाडलिपुत्ते वेउच्चिए 'मा
परिभविहि' त्ति । पुरियाए 'पव्वयगओभावणा मा होहिति' त्ति सच्चं कहितच्चं १५ ॥

चलणाहणणे-राया तरुणेहिं वुग्गाहिज्जति-जहा थेरा कुमारामच्चा अवणिज्जनु त्ति । सो तेसिं मत्तिपरिस्सगन्निमित्तं
भणति-जो रायं सांसे पाण्ण आहणति तस्स को दंडो ? । तरुणा भणंति-तिलं तिलं छिंदियच्चतो । थेरा पुच्छिता । 'चित्तेमो'
त्ति ऊसरित्ता चित्तेत्ता 'ण्णं देवीए को अण्णो आहणिति ?' त्ति आगता भणंति-सक्कारेयच्चओ १६ ॥

आमल्लं कित्तिमं । एणेण णातं-अकालो, विवं होहिति त्ति १७ ॥

मणिम्मि-सण्णो पक्खीणं अंडगाणि खाति रुक्खं विलगित्ता । तथ्य मिद्वेग आलयं विक्खणो मारितो । तथ्य मगी
पाडितो । हेट्ठा कूयो, तं पाणीयं रत्तीभूतं । कूवातो णीणियं सामाविनं । दारणं थेरस्स कहितं । तेग विक्खगिज्ज गहितं १८ ॥
सण्णो चंडकोसिओ चित्तेति-परिसो महप्पा १९ ॥

खग्गो-सावगपुत्तो जोव्वणवल्लम्मत्तो धम्मं नेच्छति । तत्तो खग्गेणु उव्वणो पट्टस्स दोदि वि पासंहि जहा पत्तग
तहा चम्माणि लंबंति । अडवीए चउम्महापट्ठे जणं मारंति । साहुणो य तेनेव पट्ठे अडक्कमंति । वेगेण आगतो नेएग ण नरति
अट्ठिविडं । चित्तेति । जाती संभरिता । पच्चक्खाणं । देवल्लोगमणं २० ॥

धूमो-वेसालीए नगरीए णगरनाभीए मुण्णिमुच्चयसामिस्स धूमो । तस्स मुक्केण कृणितस्स ण पट्ठि । देवया
आगासे कृणितं भणति-

समणं जहा कूलवाल्लयं, मागहिता गणिया रमेहितं । राया य अमोणचंद्रए, वेमारिं वारिं गहितिणी ॥ १ ॥

सो मग्गिज्जति । का तस्स उप्पत्ती ? । एणस्स आययिस्स चेल्लो अविदीणे । एणस्सो अविदीणे । विं पट्ठि ।
अण्णया आयरिया सिद्धसिन्धे तेग समं चंद्रगा विलग्गा । जोवरंतां वदणं मिया मुत्ता । विदुं आययिस्सो, पट्ठा वेसालिया, २१
इहा मारितो होन्तो । सावो दिण्णो-दुरात्मन् ! इत्थीहितो विगमिस्सिमि त्ति । मियाय्यो नदं ? ति । कां वेसालीए
अच्छति, णदीए कूटे आयवन्ति, पंथव्वासे जो सओ एति ततो आगगे ते । पट्ठा कूटे अण्णियायस्स मा रति अण्णो
पट्ठा तेग कूलवारत्तो जातो । तथ्य अच्छेत्तो आगमितो । गविवाओ मत्तवित्तो । एण मग्गि-पट्ठा अण्णिया । पट्ठा
साविना जाता । सव्थेण गता वंदति-उडाणभोएग मिह, चेट्ठए चंद्रमि, तुम्हे य मुत्ता, अण्णया मि । एणस्सो वेसालीए
इया, अतिसारो जातो, पथोनेग ठविओ । उच्चत्तादाहिं संनिमं चित्ते, मग्गिणे, मग्गिणे सओ वयो वेरेट्ठा । ति । २२ ॥
वेसाली धप्प । धूमो णीणावितो । गहिया २१ ॥

[पृष्ठ ५१]

पं. २. सद्धर्मानुगत इति, सद्धर्मणि-चत्तुनि अनुगतः सद्धर्मानुगतः । पं. १३. अप अयः-सामख्येन परिच्छेदोऽपायः, मधुर-स्निग्धत्वादिगुणत्वात् 'शङ्खस्यैवायं शब्दः, न शृङ्खलस्य' इत्यादि यद् विशेषविज्ञानं सोऽपायः ।
 पं. २२. अपायेन निश्चितेऽर्थे तदनन्तरं यावदद्यापि तदर्थोपयोगे सातत्येन वर्तते, न तु तस्मान्निवर्तते, तावत् तदर्थोपयोगाद् अविच्युतिर्नाम धारणायाः प्रथमभेदो भवति । पं. २५. यत् कर्मक्षयोपशमवशाज्जीवत्य कालान्तरे इन्द्रियव्यापारादि-सामग्रीवशात् पुनरप्यपायावधारितोऽर्थः स्मृतिरूपेणोन्मीलति सा संस्काररूपा वासना नाम धारणाभेदः । कालान्तरे च वासनावशात् तदर्थस्येन्द्रियैरुपलब्धस्याथवा तैरनुपलब्धस्यापि मनसि या स्मृतिराविर्भवति सा तृतीयस्तद्भेदः । पं. २७. अत्र मति-दौर्बल्यादिकारणकलापादवप्रहेहादीनां दुर्विज्ञेयत्वेऽपि सर्वज्ञमतप्रामाण्याद्वितथात्वमेव भावनीयमित्यावेदयन्नाह-इह चेत्यादि ।
 पं. २९ एकाधिकरणत्वाद् एकाश्रयत्वात् ।

[पृष्ठ ५३]

पं. ३. न पुनर्विशत्येत्यादि, विशतिदिनापेक्षया यथा अपान्तराल आसन्नो योऽसावागमनसमयः कालविशेषरूपस्तद्दिन-भावी अतिक्रान्तप्राचीनदिननिरपेक्षः पथिकस्य गृहप्रवेशकारणम्, न तथा प्रवृत्ते प्राचीनसमयरहितचरमासंख्येयसमयप्रविष्ट-पुद्गलादिराप्यर्थावग्रहकारणम्, किन्त्वादित आरभ्य प्रतिसमयप्रवेशेन निरन्तरमसंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गलाः शब्दविज्ञानजनकांश-वग्रहेतवो भवन्तीति भावः । स्फुटशब्दविज्ञानहेतवश्च चरमसमयप्रविष्टा एव यद्यपि भवन्ति, नेतरे, तथापीतरे तत्साहाय्यभावेन व्याप्रियन्त इत्योषतः सर्वेषां सामान्येन ग्रहणमुच्यते ।

[पृष्ठ ५४]

पं. १. अथ 'केयं मल्लकट्टयान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणा ?' इति पृष्ठे तां वक्तुमाह-तद् यथेत्यादिना । पं. ४. "मल्लयं पवाहेहि" इति ग्रावयिष्यति । पं. ५. व्यञ्जनं पूरितं भवति नोयेन मल्लकमिव । पं. ६. सम्बन्धो वेति द्रव्य-इन्द्रिययोः सम्बन्धः । यद्वा द्रव्यं व्यञ्जनमिति, शब्दादिविषयवर्गिगतपुद्गलसमूहत्वरूपम् । पं. ७. स्वविषयव्यक्तमिति स्वप्राहकज्ञानजनने । पं. ८. आभृतमिति, वासितमित्यर्थः । पं. ९. नाम-ज्ञान्यादिकल्पनारद्विनमिति, एतच्च "नाष्टे तुं ति कोऽहं" इत्यस्य व्याख्यानम् । पं. ११. अत्रार्थावग्रहान् पूर्वमिति अन्तर्भूतं द्रव्यप्रयोगात्स्व इत्यर्थः ।
 पं. १२. इदानीं "से जहानामण केह पुरिसे अब्वत्तं सद्धं सुणेजा" इत्यादिकरण दशममहासूत्रस्य "यामपायस्य समानां कर्मान् पातनात्रयं करोति-अत्राहेत्यादिना आधेयम्, अथवा यदुक्तमित्यादिका त्रितीयाः अत्र सा मुने सतिहा सुधीयेति । पं. १७. अव्यक्तमिति अनिर्देश्यम्, कोऽर्थः ? 'शब्दोऽयम्, स्वर्यादिदो' इत्यादिप्रकरणेन निर्देश्युक्तमत्र समर्थम् । स्वल्प-नामादीनि, आदिशब्दाद् जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यग्रहः । पं. १८. तस्य चेति अर्थोऽयमर्थः । पं. १९. आर्हेतव परो ष्टोः ।
 पं. २३. सम्बद्धमिति युक्तमित्यर्थः । नैतदेवमित्यादिना नृरिः प्रतिविषयते । पं. २५. न तु मल्लकट्टयं 'मल्लकट्टयं' इत्यध्यवसायेनेति न । तस्यैवेति, अर्थावग्रहं विनैव 'तस्यैव' शब्दस्य अत्र सत्त्वप्रमाणम् । पं. २८. स्वयं-अवग्रहप्रकारे जातेऽव्यक्तमनिर्देश्यस्वरूपं शब्दापुष्टेस्वरहितमर्थमात्रमकूलाति । एतदेवऽहं भाष्यप्रकारः-अवग्रहेण वा ।

साम्प्रणमणिदेसं सरुव-नासाइक-प्रपणागतिर्यं ।

जह एवं जं 'तेणं गहिणं नदे' इति तं चित्तं पु ? ॥ १ ॥

"अवग्रहमनिर्देश्य"मिति वृत्तौ पाठो ह्यवने । नत्र "अवग्रहे" इति विदुःपेति । साम्प्रणमिति न सा प्रपणागतिर्यं ।
 १ सद्धर्मि एतत् परं वृत्तौ न वर्तते तथापि "सौमं सुगमन" इत्यर्थेन सुगमनेन चित्तं परं ।
 टी० १९

शब्दोऽप्यविरह इति मन्वर्षे ॥ १ ॥ इति शब्दोऽप्यविरह इति मन्वर्षे ॥ १ ॥ इति शब्दोऽप्यविरह इति मन्वर्षे ॥ १ ॥

पं. ८. धाणुपुग्निमाह-कृष्णनाल-जंभिपयःसि-संनरर्षे ।

सपुष्पलनालाह-न समानवशःसि-संनरर्षे ॥ १ ॥

- 5 "ईहादिवस्तूनि नूपन्ययति" इत्यत्र । कथम्भूतान् मनोः पुनरपि स्वप्नापादात् । इत्यत्र समान-समानयोः स्था-
रसादिविषयो वेपामीहादीनां तानि समास्तुत्तदिति विषयोऽपि । तृतीयं तदं भावः । इत्यत्र समानो मन्वर्षोऽपि ।
इत्याह-स्थाणु-पुरुषादिवदिति । पर्यन्ते निर्दिष्टे विषयेऽप्यविरहोऽपि । कथम्भूतान् मनोः पुनरपि स्वप्नापादात् । इत्यत्र समान-
स्थाणुपुरुषादिवत् समानयोः रूपविशयोऽप्यविरहः । अतिमाहात् । किमेवं अतिमाहात् । इत्यत्र समानो मन्वर्षोऽपि ।
रज्जुः विषयो वा ? इत्यादिपरिग्रहः । अनेनेत्यत्र मन्वर्षोऽपि । कथम्भूतान् मनोः पुनरपि स्वप्नापादात् । इत्यत्र समान-
10 वस्तुविशेषः उत्पलं-पत्रं अनयोः किञ्च समानो मन्वर्षो भवति तत्र ईशोऽपि मनोः पुनरपि स्वप्नापादात् । इत्यत्र समान-
आदिशब्दात् 'किमत्र सप्तच्छदाः मत्तकरिणो वा ? कस्तुमिहा नवमममो वा ? इत्यादिपरिग्रहः । समानो मन्वर्षोऽपि ।
तकरील-मांसादिवत् समानरसो विषयः । तत्र सम्भूतानि-संभूतानि सन्धानी कान्यश्चि तानि यानि नृणाञ्जिस्वप्नीनि करीलानि
तथा मांसम्, अनयोः किलाऽऽत्वादः समानो भवति । ततोऽप्यकाराऽप्यविरहः । इत्यादिपरिग्रहः । समान-
वंशकरीलम् ? आमिपं वा ? इति, आदिशब्दात् 'मुहुः स्तुं वा ? मृतीका शकृत्तादरं वा ? इत्यादिपरिग्रहः । रपर्शनेन्द्रिय-
15 प्रभवस्थेहादेः सपोत्पलनालादिवत् समानस्पर्शो विषयः, सपोत्पलनालापोष तुत्परदर्शनेनेहापृतिः गुणैः, आदिशब्दात् स्त्रीपुरुष-
लेष्टूपलादिसमानस्पर्शवस्तुपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ २ ॥ अथ यदुक्तं सूत्रे "से जहानाम् केऽपुरिसे अचरं सुमिणं पासेजा"
इत्यादि, तदनुसृत्य स्वप्ने मनसोऽप्यवप्रहादीन् दर्शयन्नाह—

पं. ९. एवं चिय सिमिणाइसु मणसो सहाइएसु विसएसु ।

होतिंदियवावाराभावे चि अचग्गहाईया ॥ ३ ॥

- 20 'एवमेव' उक्तानुसारेणेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि स्वप्नादिपु, आदिशब्दात् दत्तकपाट-सान्धकारापवरकादीनीन्द्रियव्यापाराभाव-
वन्ति स्थानानि गृह्यन्ते, तेषु केवलस्यैव मनसो मन्यमानेषु शब्दादिविषयेषु 'अवग्रहादयः' अवग्रहेहा-ऽपाय-धारणा भवन्तीति
स्वयमभ्यूहाः । तथाहि-स्वप्नादौ चित्तोत्प्रेक्षामात्रेण श्रूयमाणे गीतादिशब्दे प्रथमं सामान्यमात्रोत्प्रेक्षायामवग्रहः 'किमयं शब्दः ?
अशब्दो वा ?' इत्याद्युत्प्रेक्षायां त्वीहा, शब्दनिश्चये पुनरपायः, तदनन्तरं तु धारणा । एवं देवतादिरूपे, कर्पूरादिगन्धे, मोदकादि-
रसे, कामिनीकुचकलशादिस्पर्शे चोत्प्रेक्ष्यमाणेष्ववग्रहादयो मनसः केवलस्य भावनीया इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

- 25 मतिज्ञानमिदं द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधम् । यदाह भाष्यकृत्—

तं पुण चउव्विहं नेयभेयओ तेण जं तदुवउत्तो ।

आएसेणं सव्वं दव्वाइ चउव्विहं मुणइ ॥ १ ॥

- 'तत् पुनः' आभिनिबोधिकज्ञानं 'चतुर्विधं' चतुर्भेदम् । नन्ववग्रहादिभेदेन भेदकथनं प्रागस्य कृतमेव, किमिह पुनरपि भेदो-
पन्यासः ? सत्यम्, ज्ञेयमेवेह द्रव्यादिभेदेन चतुर्भेदम्, ज्ञानस्य तु ज्ञेयभेदादेव भेदोऽत्राभिधीयते, सूत्रे तथैवोक्तत्वात् । तच्चेदं
30 सूत्रम्— "तं समासओ चउव्विहं पणत्तं, तं जहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं
सव्वदव्वाइं जाणइ न पासई" इत्यादि । ज्ञेयभेदादपि तत् कथं चतुर्विधम् ? इत्याह—"जं तदुवउत्तो" इत्यादि, 'यद्' यस्मात्
कारणात् 'तेन' आभिनिबोधिकज्ञानेन सर्वं द्रव्यादि मुणतीति सम्बन्धः । कथम्भूतम् ? इत्याह—"चतुर्विधं" चतुर्भेदं द्रव्य-क्षेत्र-काल-

भावभेदमित्यर्थः । कथम्भूतः सन् मुगति ? इत्याह—तस्मिन्नेव—आभिनिवोधिकज्ञाने उपयुक्तः तदुपयुक्तः । केन ? इत्याह—
आदेशेनेति ॥ १ ॥ कोऽयमादेशः ? इत्याह—

पं. २८. **आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदच्चाइं ।
धम्मत्थियाइयाइं जाणइ, न उ सव्वभेणं ॥ २ ॥**

इह 'आदेशो नाम' ज्ञातव्यवस्तुप्रकारः । स च द्विविधः—सामान्यप्रकारो विशेषप्रकारश्च । तत्र 'ओहादेशेन' सामान्य-
प्रकारेण द्रव्यजातिसामान्येनेत्यर्थः, सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, 'असंख्येयप्रदेशात्मको लोकत्रयापकोऽमूर्त्तः प्राणिनां
पुद्गलानां च गत्युपपद्यन्हेतुर्धर्मास्तिकायः' इत्यादिरूपेण कियत्पर्यायविशिष्टानि पडपि द्रव्याणि सामान्येन मतिज्ञानी जानातीत्यर्थः ।
अनभिमत्प्रकारप्रतिपेधमाह—'न तु सर्वभेदेन' न सर्वैर्विशेषैर्न सर्वैरपि पर्यायैः केवलदृष्टैर्विशिष्टानि तानि द्रव्याण्यसौ जानातीत्यर्थः,
केवलज्ञानगम्यत्वादेव सर्वपर्यायाणामिति भावः ॥ २ ॥

धर्मास्तिकायादिभेदेन कथितं सामान्येन द्रव्यम् । अथ क्षेत्रादिस्वरूपं विशेषतः प्राह—

[पृष्ठ ५६]

पं. १. **खेत्तं लोगालोमं, कालं सव्वद्धमहव निविहं पि ।
पंचोदइयाइण भावे, जं नेयमेवइयं ॥ ३ ॥**

क्षेत्रमपि लोका-ऽलोकस्वरूपं सामान्यादेशेन कियत्पर्यायविशिष्टं सर्वमपि जानाति, न तु विशेषदेशेन सर्वपर्यायैर्विशिष्टमपि ।
एवं कालमपि सर्वाद्वारूपम्, अतीता-ऽनागत-वर्तमानभेदत्रिविधं वा इत्येक एवार्थः । भावनस्तु सर्वभावानामनन्तभागं
जानाति, औदयिकौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकान् वा पञ्च भावान् सामान्येन जानाति, न परतः । कुतः ?
इत्याह 'यद्' यस्मादेतावदेव ज्ञेयमस्ति, नान्यदिति । इह क्षेत्र-कालौ सामान्येन द्रव्यान्तर्गतावेव, केवलं भेदेन रूढत्वात् पृथगुपा-
दानमवसेयमिति ॥ ३ ॥ आदेशस्य व्याख्यानान्तरमाह—

पं. २. **आएसो त्ति व मुत्तं, सुओवलहेमु तस्स महनाणं ।
पसरइ त्त्वभावणया विणा वि मुत्ताणुस्वारेण ॥ ४ ॥**

अथवा आदेशः सूत्रमुच्यते । तेन सूत्रादेशेन सूत्रोपलब्धेधर्मेषु 'तत्र' मतिज्ञानिनः सर्वद्रव्यादिविनयं मतिज्ञानं प्रसरति ।
ननु श्रुतोपलब्धेधर्मेषु तद् ज्ञानं तत् श्रुतमेव भवति, कथं मतिज्ञानम् ? इत्याह—'तत्रभावणं' याति, तत्रावस्था श्रुतोपर्याय-
मन्तरेण तद्वासनामात्रत एव यद् द्रव्यादिषु प्रवर्तते तत् सूत्रादेशेन मतिज्ञानमिति भावः । एतत् पूर्वमपि—

पुवं सुयपरिकम्मियमहरस जं संपयं सुयारिये ।

तन्निस्सियमियरं पुण, अणित्तियं मरुत्तकं तं ॥ १ ॥ [सिंगल ७ मा १६९]

इत्यादिप्रक्रमे प्रोक्तमेवेति गाथाचतुष्टयार्थः ॥ ४ ॥

पं. ५. अत्र श्रुतनिश्चितानवप्रहादीस्तावदाह—

उग्गहो ईह अवाओ य धारणा एव होति च्चारि ।

आभिणिघोत्थियनाणस्स भेयवत्थु सनानेणं ॥ म. मा. ५६ ॥

रूप-रसादिभेदैर्निर्देयस्य अव्यक्तस्वरूपस्य सान्नात्यक्षरप्रवचनं—परिचितमवयवम् । तेषामप्यवयवार्थस्य भेदो
विचारणं वक्ष्यमाणस्या दिशोपान्नेयनीयम् । तथा ईहितस्यैवार्थस्य अवयवस्य—परिचितमवयवम् । चान्दोपलब्धे—१५६८

श्रोत्रेन्द्रियस्य चेह कर्तृत्वं शब्दश्रवणान्यथानुपपत्तेर्लभ्यते । एवं प्राणेन्द्रियादिवपि वाच्यम् । तानि पुनः कथं गन्धादिकं गृह्णन्ति? इत्याह—गन्ध्यत इति गन्धस्तमुपलभते प्राणेन्द्रियम्, रस्यत इति रसस्तं च गृह्णाति रसनेन्द्रियम्, सृष्टयत इति स्पर्शस्तं च जानाति स्पर्शनेन्द्रियम् । कथन्मृतं गन्धादिकम्? इत्याह—‘वज्रस्पृष्टं’ तत्र सृष्टमिति—पूर्ववदेव, वज्रं तु—गाडतरमाश्लिष्टं आत्मप्रदेशैस्तोयव-
दात्मांकृतमित्यर्थः । ततश्च गन्धादिद्रव्यसमूहं प्रथमं सृष्टम्—आलिङ्गितं ततश्च स्पर्शनानन्तरं वज्रम्—आत्मप्रदेशैर्गाडतरमागृहीतमेवो-
पलभते प्राणेन्द्रियादिकमित्येवं व्यागृणीयात् प्रज्ञापकः, यतो प्राणेन्द्रियादिविषयभूतानि गन्धादिद्रव्याणि शब्दद्रव्यापेक्षया
स्तोकानि वादराणि अभावुकानि च, विषयपरिच्छेदे श्रोत्रापेक्षयाऽपट्टानि च प्राणादीनि, अतो वज्रसृष्टमेव गन्धादिद्रव्यसमूहं
गृह्णन्ति, न पुनः सृष्टमात्रमिति भावः । ननु यदि स्पर्शनानन्तरं वज्रं गृह्णाति तर्हि “पुद्गवज्रं” इति पाठो युक्त इति चेत्, उच्यते—
विचित्रत्वात् सूत्रगतैरिति निर्देशः, अर्थतस्तु यथाऽन्वयोक्तं तथैव द्रष्टव्यम् । अपरस्त्वाह—यद् वज्रं तत् सृष्टं भवत्येव, विशेष-
वधे सामान्यबन्धस्यान्तर्भावात्, ततः किं सृष्टप्रज्ञेनेति, तदयुक्तम्, सकृदश्रोत्रसाधारणत्वाच्छाब्दरम्भस्य प्रपञ्चितज्ञानुपहार्य-
मथांपत्तिगान्ध्यांभिधानेऽप्यदोषादिति । चक्षुरिन्द्रियं त्वप्राप्तमेव विषयं गृह्णातीत्याह—“रूपं पुण पासई अपुष्टं तु” इति रूपं
कर्मतापन्नं चक्षुः ‘असृष्टम्’ अप्राप्तमेव पश्यति । पुनःशब्दस्य विशेषणार्थत्वादसृष्टमपि योग्यदेशस्थमेव पश्यति, नायोग्यदेशस्थं
सौधमादि कटकुड्यादिव्यवहितं वा घटादीति गाथार्थः ॥

पं. १३. भासासमसेहीओ सहं जं सुणइ मीसयं सुणइ ।

चीसेही पुण सहं सुणेइ नियमा परायाए ॥ सू. गा. ७६ ॥

भाष्यत इति भाषा, वक्त्रा शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिरित्यर्थः । तस्याः समाः—प्राजलाः श्रेणयः—आकाशपदेश-
पङ्क्तयो भाषासमश्रेणयः, समग्रहणं विश्रेणिव्यवच्छेदार्थम्, भाषासमश्रेणिषु इनः गतः स्थित इत्यनर्थान्तरं भाषासमश्रेणीतः ।
इदमुक्तं भवति—भाषकस्यान्यस्य वा भेदादेः समश्रेणिव्यवस्थितः श्रोता यं ‘सहं’ पुरुष-अथ-भेदादिसन्वयिनेन स्वनि शृणोति
तं मिश्रकं शृणोतीत्यवगतव्ययम्, भाषकाद्युत्सृष्टशब्दद्रव्याणि तद्वासिनापात्तगन्धद्रव्याणि केच्येवं मिश्रं पश्यन्वराणि शृणोति,
न तु वासकमेव वास्यमेव वा केवलमित्यर्थः । “चीसेही पुणे”त्यादि “मन्त्राः क्रोमन्त्रा”नि त्वात्वात् विश्रेणिव्यवस्थितः श्रोताऽपि
विश्रेणिरुच्यते, स विश्रेणिः पुनः श्रोता शब्दं ‘नियमाद्’ नियमेन ‘परायाते’ वासनायां स्वयां शृणोति । इदमुक्तं भवति—यानि
भाषकोत्सृष्टानि शब्दद्रव्याणि भेदादिशब्दद्रव्याणि वा तैः ‘परायाते’ वासनाप्रियाणि सन्ति यानि वर्णितानि सम्पत्तयश्चास्ति यामानि
द्रव्याणि तान्येव विश्रेणिरथः शृणोति, न तु भाषकाद्युत्सृष्टानि, तेषामनुश्रेणिव्यवस्थितं विश्रेणिव्यवस्थितम् । न च सूत्र्यादि-
प्रतिपातरतेषां विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति, तेषां विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति, तेषां विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति, तेषां विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति,
वक्तव्यम्—द्वितीयादिसमयेषु तेषां स्वयमपि विदिक्षु गमनसम्भवात् तत्राप्यपि विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति, इति, नियमसमयेषु
समयान्तरेषु तेषां भाषापारिणामेनानवस्थानात्, “भाष्यमाणैव भासा भासा, समसमयेषु भासा भासा” इति वक्तव्यम् । यद्यपि
“चउति समणहि लोमो भासाण निरंतरं तु होइ पुडो” इति वक्तव्यम्, तत्रापि त्रितीयादिसमयेषु भाषासमयेषु भासा भासा इति वक्तव्यम् ।
वक्तव्यम् । अत्राह—ननु यदिवक्तृनिर्दिष्टानि भाषाद्रव्याणि प्रथमसमये द्विवेदेन वा त्रिवेदेन वा वक्तव्यं, तत्रापि त्रितीयादिसमयेषु
द्रव्याणि त्रितीयादिसमये विदिक्षु गच्छन्ति, ततश्च द्वि-विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति, तत्राप्यपि विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति, तत्राप्यपि
भासां सुखानुपपत्त्यते, नैष दोषः, समयतदिकात्मनेदस्यातिवृत्त्यवहेतवत्त्वादिनि अत्रोक्तं, तत्रापि भासा भासा इति वक्तव्यम् ।
नातिप्रसंगसमयपरिच्छेद भाषा, ततो विश्रेणिरथो त्रितीयादिसमयेषु भासा भासा इति वक्तव्यम्, तत्राप्यपि भासा भासा इति वक्तव्यम् ।
द्रव्याणां भाषाऽद्विरोधात् भाषात्वं न विनश्यते, अत एव “चीसेही पुण मीसयं सुणइ वज्रं सृष्टं” इति वक्तव्यम् ।

१ एतदप्यवगच्छन्तिः । अत्र भासा-वासनायां “सहं जं सुणइ मीसयं सुणइ” इत्यत्र सहं जं इति सहं जं इति वक्तव्यम् ।
“चीसेही पुण सहं सुणेइ” इत्यत्र “सहं” इति परं सूत्रीयं तद्विच्छेदार्थं सूचयति ।

भावात् । पं. ८. काले त्रधिक्रियमाणे उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ समाश्रित्य भरतैरात्रतेषु द्वयोरपि समयोक्तृतीयारके प्रथमं
भावात् साद्विन्वम्, उत्सर्पिण्यां चतुर्थस्थाऽऽद्यौ अवसर्पिण्यां तु पञ्चमस्यान्तेऽवस्थं व्यवहेदात् सपर्यवसितत्वम् । पं. १२.
कालचक्रगाथात्रयोविंशतिसंख्याः सुगमाः । पं. १८. नवरम्-तुडिताङ्गेषु सङ्गीतं भवति, तत्र प्रेक्षां गीतवाद्यं सङ्गीत-
मुच्यते । त्रुष्टितानि-त्राहुरक्षकादीनामरणानि च । पं. २०. अण्डेभ्यो वृत्ति अनान्येषु । पं. २१. अण्डेषु य
त्ति दशातिरिक्तेषु । भवियपुणत्रमवरहिय त्ति युगलधार्मिकत्वमनुभूय मृत्वा मृयोऽध्यन्तभवेन युगलधार्मिका न भवन्ति, किन्तु
देवत्वेनोत्पद्यन्ते, असंक्रियपरिणामयोगात् ।

[पृष्ठ ६७]

पं. ७. भावत्रयो णमित्यादि, भावे पुनर्विचार्यमाणे प्रज्ञापकं गुणं धृतप्रज्ञापनीयांश्वार्थानासाद्य सादिसपर्यवसितं स्यात् ।
पं. १२. कथम् ? प्रज्ञापकसम्बन्ध्युपयोगः १ स्वर २ प्रयत्न ३ आसनविशेषतः ४, उद्योगः-आन्तरः धृतपरिणामः,
स्वरः-श्वनिः, प्रयत्नः-ताल्वादिश्यापारविषयो यत्नः, आसनविशेषश्च-स्थानविशेषः । ततश्च 'प्रज्ञापके' गुणे व्याख्यात्यादि कुर्वति
सत्येते भावा भवन्ति । एते च प्रनिक्षणमन्थश्राभवनतोऽन्तिश्यान् सादि-सपर्यवसिताः । ततश्चैतानाश्रित्य वक्तुरन्त्यवात् धृतमपि
सादि-सपर्यवसितं भवति । पं. १४. एतदश्रांभिधायिनी [उच्योगमर०] गाथा सुगमैव । पं. १६. अण्डेषु या-
दिना प्रज्ञापनीयार्थगानान् भावानाह । तत्र अण्डादीनां गत्यादिप्रतिपादनान् सादि-सात्त्वत्वम् । नवरं गतिः-अण्डादीनां गमन-
परिणामः, स्थितिः-तेषामेवावस्थितिपरिणामः, वर्णः-शृङ्गादिः, आदिश्याद्वाद् भेद-संज्ञान-शब्द-रसन-तन्व-स्पर्श-संज्ञानादिपरिपठः ।
नवरं भेदः-अण्डादीनामेवान्यसंयुक्तानां विषयतन्म. महान्तनु-अर्थैः सह संयोगः, शब्दः-मन्त्र-मद्युग्दिः, रसादवः प्रतीकाः ।
एते गतिस्थित्यादयो भावाः पर्याया धर्मः प्रज्ञापनीयार्थेषु परमादिषु भवन्ति, अनियन्तवाचसी सादि-सपर्यवसिताः, एते धृतमथ
प्राधाः । ग्राहकं च ग्राह्यनिबन्धनं भवति, ग्राह्यं यन्त्रकथं क्रिय गृह्यते ग्राहकं तन्त्रकथं तन्त्रो भवति, अतः धृतमपि सादि-
सपर्यवसितम् । श्रायोपशमिकभाव-भावधृतभावार्थश्रयाऽनाद्यन्तन्नृचं धृतम् । पं. १८. नरा धृतस्य सागाःपन्त-
णायां सादि-सपर्यवसानपदद्वयोश्चा चतुर्भङ्गा सम्भवति-सादिन्मयुर्वज्जिन्मिन्मिन्मिन्मिन्मिन्मिन् । तमेतं भावयति- पं. २३.
द्वितीयरत्नु प्रकृपणामात्रम्, असम्भवात् । विवद्व्या सम्भवात् इव, तमेवप्रश्न-अन्तद्वन्द्वे कदि, नरेमान्हातोरपिमा सादिदयम्,
अनागताङ्गापेक्षयाऽपर्यवसितत्वम् । इह किञ्च सभ्यम् सिद्ध्यापेक्षयाऽपिर्षिर्षु धृतस्यभावमनं सभ्यम्, अत एव सभ्यम् एतत्
धृतमात्रम्, सभ्यत्ववत्, अनादिकालादारभ्य भावादनादि, देवतोऽप्यौ न श्रद्धावति सभ्ये भव । सभ्यवत् सभ्यत्वं तस्य जी-
त्ववद्वा नियतं अनाद्यपर्यन्तम्, असभ्यस्य कदाचिन्दापि धृतस्य भावो न भवति । पं. २३. अथ तस्य परस्मिन्मणी धृत्यापि
अन्या-ऽभ्यर्थी प्रतीयासित्वो । गतिः धृतादित्याभ्यासपर्ययं का सभ्यात् इह सभ्यत्वमप्य-इह श्रेयसात्, साभ्यं सभ्यं इति ।
अन्या-ऽभ्यर्थ्याऽप्या तृतीय-चतुर्थसङ्गस्ये अनादिगतिशेषेषु सभ्यत्वम्, अत आभ्यर्थ्याऽपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।
अन्या-ऽभ्यर्थी प्रतीया । तस्यभावो तस्य सादिवत्त्वम्, प्रत्ययोऽपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।
यदि जीवात् तत् श्रुतं भिन्ने सदा असभ्यं सभ्येत् सभ्यात्, तद्विजातं सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।
भवेत् नियं स्यात्, अत्यन्तभावयित्वात् सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।
प्रकार्यमर्थ पर्याय । अतोऽपि-एतत् सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।
किं दसौ भवतामे भवेत् धृतज्ञाने वा सात्त्विकं सभ्यत्वम् । सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।
जीवस्यभावस्ये इतीदमे तदि जीवात् तस्यसात्त्विकम् इति तन्म प्रवृत्तत्वात् । तस्यैव सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।
एतत् सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।
सद् विद्यमानमेव, सद्यः प्रकृत्यव्यतिरिक्तं धृत्यव्यतिरिक्तं सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि सभ्यत्वमपि ।

सम्पूर्णश्रुतविदोऽक्षरस्थानन्तभागवर्त्तित्वं युज्यत एव, केवलज्ञानस्वपर्यायेभ्यः श्रुतज्ञानस्वपर्यायाणामनन्तभागवर्त्तित्वात्, श्रुतज्ञानस्य परोक्षविषयत्वेनास्पष्टत्वाच्च । यच्च समुदितस्व-परपर्यायापेक्षया श्रुत-केवलाक्षरयोस्तुल्यत्वं तदिह न विवक्षितम् । विमध्यमाक्षरानन्त-भागश्चोक्तश्रुतज्ञानविदः सकाशादवशेषाणां पृथिव्याथेकेन्द्रिय-सम्पूर्णश्रुतज्ञानिनोर्मध्ये वर्त्तमानानामनन्तभागादिपट्टस्थानपतितानां प्रायेणासौ भवति । प्रायोग्रहणाद् विवक्षितादेकस्मादुक्तश्रुतज्ञानिनोऽवशेषाणामपि केषाञ्चिदुक्तश्रुतज्ञानवतां तत्तुल्य एवाक्षरा-नन्तभागो भवति, उक्त ए इत्यर्थः, न तु विमध्यमः । 'त्रिविधेऽप्यक्षरे गृह्यमाणेऽविरोधः' इत्युक्तम् । 'अक्षरस्य चानन्तभागः सर्व-जघन्यश्चैतन्यमात्रम्, स च पृथिव्याथेकेन्द्रियादीनामसंज्ञि-संज्ञिभेदानां सर्वजीवानामपि च सर्वदैवानावृत् एवाऽऽस्ते' इति चोक्तम् । 'अपर्यवसितश्रुताधिकारादकाराथेव चाक्षरं न्यायानुपाति' इति चोक्तम् । अत्राऽऽचष्टे—पुरुष-स्त्री-नपुंसक-घट-पटादिवर्णविज्ञानरूपो-ऽक्षरलामः 'संज्ञिनां' समनस्कजीवानां भवतु, एतत् श्रद्धामहे, 'असंज्ञिनां तु' अमनस्कानां वर्णविज्ञानरूपोऽसौ न युज्यते, अक्षरलाभस्य परोपदेशजत्वात्, मनोविकलानां तु तदसम्भवात्; न च वाच्यम् 'मा भवत्वसौ तेषाम्' इति, यतोऽसावेकेन्द्रियाद्यसंज्ञिनामपि वर्णविज्ञानाक्षरलाभोऽभिहितः; श्रुताज्ञानाक्षरस्य तेषामपि श्रुते भणनात्; तदेतत् कथमुपपद्यते ? । अत्रोच्यते—यथा 'चैतन्यं' जीवत्व-मकृत्रिममाहारादिसंज्ञाद्वारेणासंज्ञिनामवगम्यते तथा लब्ध्यक्षरालम्कमहाज्ञानमपि तेषामवगन्तव्यम्, स्तोत्रत्वेनास्पष्टत्वात् स्थूलदर्शि-भिस्तद्ग्राह्यानां नोपलक्ष्यते, पृथिव्याथेकेन्द्रियाणां जीवत्वमिव । यदपि परोपदेशजत्वमक्षरस्योच्यते तदपि संज्ञा-व्यञ्जनाक्षरयोरवसेयम् । लब्ध्यक्षरं तु क्षयोपशमेन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुध्यते, तदेव च श्रुतज्ञानाधिकारे मुख्यतः प्रस्तुतम्, न तु संज्ञाव्यञ्जनाक्षरे । किञ्च गौरपि श्वला-बहुलादिशब्देनाऽऽकारिता सर्ता स्वनाम जानीते, प्रवृत्ति-निवृत्त्यादि च कुर्वती दृश्यते । न चैषां गवादीनां तथाविधः परोपदेशः समस्ति । अथ चाऽस्ति लब्ध्यक्षरम्, नरादिविज्ञानसद्भावात्, पुलीन्द्र-वाल-गोपालादीनामनक्षरागामपि वा यथा तदस्ति एवमसंज्ञिनामपि किमपि तदेष्टव्यम् । तदेवं साधितमेकेन्द्रियादीनामपि यच्च यावच्च लब्ध्यक्षरम्, इन्द्रिय-मनोनिमित्तं श्रुतप्रस्थानुसारिं विज्ञानम्, श्रुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः, यश्च तदावरणकर्मक्षयोपशमः, एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरमिति भावार्थः ।

पं. १६. अत्राहत्यादि, 'अत्र' अस्मिन् प्रकृते नन्दिसूत्रे 'अविशेषितं' सामान्येनैव 'अक्षरं' ज्ञानमुक्तम्, अविशेषाभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्त्वात् तदेवात्राक्षरं गम्यते, इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकारात् श्रुताक्षरमकाराथेवाक्षरशब्दवाच्यतया प्रकृतम्, तद अकारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेत् ? न कथञ्चिदित्यर्थः; अयमभिप्रायः—केवलस्य सर्वद्रव्यपर्यायवेत्तत्वाद् भवतु सर्वद्रव्यपर्यायमानता, श्रुतस्य तदेनन्तभागविषयत्वात् कथं तत्पर्यायमानतुल्यता ? इति । अत्रोच्यते—नन्वत्रापि "अक्षरं सती सम्मं साईयं खलु" इत्यादिप्रक्रमेऽपर्यवसितश्रुते विचार्यमाणे "सन्वागासपएसंगं" [सूत्र ७६] इत्यादिसूत्रस्य पाठात् श्रुताधिकाराद-क्षरमकाराथेवात्र गम्यते, न तु केवलाक्षरम् । पं. १८. अथ रूपे—"सर्वजीवाणं पि य ण"मित्यादिद्वितीयसूत्रात् केवलाक्षरं प्रथमसूत्रे गम्यते, न तु श्रुताक्षरम्, श्रुताक्षरपक्षे हि सकलद्वादशाङ्गविदां सम्पूर्णस्यापि श्रुताक्षरस्य उदघाटसद्भावात् 'सर्वजीवा-श्रितोऽक्षरस्थानन्तभागो नित्योदघाटः' इति नोपपद्यते । पं. २०. अत्रार्थे यद्येवमित्यादिना सूत्रिवृत्ते—हन्त ! एवं सति केवलाक्षरमपि तत्र नोपपद्यते, केवलानां सम्पूर्णस्यापि केवलाक्षरस्य सद्भावात् 'सर्वजीवानामक्षरस्थानन्तभागो नित्योदघाटः' इत्य-स्यार्थस्थानुपपत्तिरेव, न अतस्तदिति, तत् सूत्रोक्तं केवलाक्षरमपि नोपपद्यत इत्यर्थः । अथ मनुषे—तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायान्येषामेवाक्षरस्थानन्तभागो नित्योदघाट इति केवलाक्षरग्रहणेऽविरोधः, हन्त ! तदेतच्छ्रुताक्षरग्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा मनस्तद्वादशाङ्गविदो विहायान्ये-षामेवास्मदादीनामक्षरस्थानन्तभागो नित्योदघाट इतीहापि शक्यत एव वक्तुम् । यस्मान् प्राक्तनसूत्रे केवलाक्षरम्, द्वितीये चाऽका-

रायक्षरमपि च भवतु, न कश्चिद् दापः । पं. २३. न च श्रुताक्षरस्य सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणता विरुध्यते इति वाच्यम्, स्व-परपर्यायभेदाद्भवत्यपि तदुपपत्तेः । उभयं श्रुताक्षरं केवलाक्षरं चैत्यर्थः । तथाऽप्यत्रेयादि, 'तत् पुनः' अद्यागदक्षरस्यैककमन्य-

- नन्तपर्यायम् । इदमुक्तं भवति—अकारेकाराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति । अकारेकाराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- राशिमन्थे ताकारस्य केनित्त्व स्तोत्रस्य स्थानपर्यायाः । तेषां तत्राभावात् तेषु परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति । अकारेकाराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- 5 सर्वाकाराप्रदेशासहिताः सर्वेषां चित्तं सम्बन्धम् । तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- शतप्रमाणाः स्वपर्यायाः । शेषकत्व नास्तित्वेन सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- वाच्यम् । पं. २५. आह—के कृतः स्वपर्यायाः । ये न परपर्यायाः । परपर्यायाः परपर्यायाः । परपर्यायाः परपर्यायाः । परपर्यायाः परपर्यायाः ।
- 5 **उनुदात्तेत्यादिना ।** पं. २६. पुनं यावत् तत्र स्वरान्तस्य अनुदात्तस्य परपर्यायाः । तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- 'केवलः' अन्यवर्णानासंयुक्तोऽन्यवर्णोऽस्ति न । अकारेकाराद्यक्षरे घटादिपर्यायाः । तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- 10 सम्बद्धत्वात्, ते नानन्ताः । तदाद्यस्य निष्पन्नस्याप्यसिः परपर्यायाः । तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- कायगोचरमन्योन्यद्विचक्षणमनन्तम् । तथाहि—परमाणीः परमत्त्व कर्मात् परपर्यायाः । तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- भिन्नरूपाणि इत्याणि प्राच्यन्ते । भिन्नाभिधानानि नैतानि । यथा परमाणाः अन्वयेऽप्यप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं ।
- इति । प्रत्येकं चानेकाभिधानान्येतानि । तथा— अतः परमाणाः अन्वयेऽप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं । यथाप्युक्तं ।
- तथा द्व्यणुको द्विप्रदेशिको द्विभेदो द्वचवयव इत्यादि सर्वाः परपर्यायाः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- 15 भिन्नरूपं भिन्नाभिधानं च तेन यत्परिमाणमभिधेयं तत्परिमाणमभिधानमपि मतं । आभिधेयभेदेनाभिधानमपि भेदात् । न हि येनैव स्वरूपेण घटादिशब्देऽकारादिवर्णाः संयुक्तास्तेनैव स्वरूपेण परपर्यायाः । तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- घटतस्वरूपवदिति, अतोऽभिधेयाऽऽनन्त्यादभिधानाऽऽनन्त्यापि येनपि बहुधाऽऽभिधेयार्थेऽपि यादिना । पं. २९. साङ्केतिकेत्यादि, शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः साङ्केतिक एव, प्रयुक्तोदराकारे तथै घटशब्दः साङ्केतिको व्यताराय, न पुनस्तार्किकः शब्दस्य कश्चिन्निजाभिधेयोऽर्थः समस्ति, एवं कुटादिशब्दानि, एतत् साङ्केतिकशब्दार्थानादिमतम् । तद्वत्प्रयुक्तम्, घटः कुटः
- 20 कुम्भ इत्यादयो हि शब्दा भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताः भिन्नार्थगोचराः । तथाहि—घटनात् घटः, निष्पन्नवेष्टानायो घटः तथा "कुट कौटिल्ये" कुटनात् कुटः, कौटिल्ययोगात् कुटः, "उभ उम्भ पूरणे" कौ उम्भानात् कुश्चिन्तपूरणान् कुम्भः निपातनादिति । एवं निजाभिधेयमर्थं प्रतिपादयतां शब्दानां वाच्यवाचकभावः शब्दार्थयोरस्ति सम्बन्धः, न तु साङ्केतमात्रम् । शेषास्तित्यादि, शेषास्तित्कारादिसम्बन्धिनो घटादिगताश्वास्य परपर्यायाः, तेषां तत्राभावात् तेषु व्यावृत्ततया नारित्वेन सम्बन्धात् । एवमिकारादीनामपि भावनीयम् । इदमुक्तं भवति—अकारेकाराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः । सर्वेषां परपर्यायव्यपदेशः तेषां अस्तित्वेन सम्बद्धा इति ।
- 25 यतो घटादिपर्याया अस्तित्वेन घटादिष्वेव सम्बद्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्यायाः, केवलमक्षरव्यावृत्तेन रूपेण तेषु सम्बद्धा एव, इत्यतस्तेषामपि परपर्यायाणां व्यावृत्तरूपतया पारमार्थिकं स्व-परपर्यायत्वं न विरुध्यते । द्विविधं हि वस्तुनः स्वरूपम्—अस्तित्वं नास्तित्वं च, ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य वस्तुनः स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन सम्बद्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते, अतोऽक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते, न पुनः सर्वथा ते तत्र न सम्बद्धाः नास्तित्वेन तत्रापि सम्बन्धात् ।

पं. १. आहृत्यादि, ये घटादीनां पर्यायास्ते कथं 'तस्ये'ति अक्षरस्य सत्का भवन्ति ? तेषामक्षरेऽसम्बद्धत्वादिति पराशयः । अत्रोच्यते—देवदत्तस्वधनवदक्षरेऽसम्बद्धा अपि घटादिपर्याया अक्षरस्य पर्याया भवन्ति । कुतः ? इत्याह— पं. २. स्वपर्याय-विशेषणोपयोगात् स्वपर्यायाणां विशेषणेन—विशेषण्यवस्थापकत्वेन परपर्यायाणामप्युपयोगात्, परपर्याया अप्यक्षरस्योपयुज्यन्ते

इत्यर्थः । पं. ४. तानन्तरेणेत्यादि, नहि परपर्यायेष्वसत्सु स्वपर्यायाः केचिद् भेदेन सिध्यन्ति, स्व-परशब्दयोरपेक्षिक-
त्वात्; अन्यथा तदक्षरं घटादिभ्यो व्यावृत्तं न सिच्येत् । प्रयोगश्चापरोऽपि-घटादिपर्याया अप्यक्षरपर्यायाः, तत्र तेषामुपयुज्यमान-
त्वात् । इह यद् यस्योपयुज्यते तद् भेदवर्त्येपि तस्येति व्यपदिश्यते, यथा देवदत्तादेः स्वधनम्, उपयुज्यन्ते च स्वपर्यायविशेषण-
भावेन घटादिपर्याया अप्यक्षरस्य, अतस्ते तस्यापि भवन्ति । एवमक्षरपर्याया अपि घटादेर्वाच्याः । तथा वस्तुस्थित्याऽपि चेत्यादि-
ग्रन्थो भावितार्थ एव । पं. ८. “जे एगं जाणइ” इत्यादि, एतदुक्तं भवति-‘एकं’ किमपि वस्तु सर्वैः स्व-परपर्यायैर्युक्तं

जानन्-अवबुध्यमानः ‘सर्व’ लोका-ऽलोकगतं वस्तु सर्वैः स्व-परपर्यायैर्युक्तं जानाति, सर्ववस्तुपरिज्ञानान्तरीयकत्वादेकवस्तुज्ञानस्य ।
यश्च ‘सर्व’ सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि सर्वपर्यायोपेतं जानात्येव, एकपरिज्ञानाविनाभावित्वात् सर्वपरिज्ञानस्येति । अतः
सर्व सर्वपर्यायोपेतं वस्तु अजानानो नाऽकाररूपमक्षरं ‘सर्वथा’ सर्वप्रकारैः सर्वपर्यायोपेतं जानाति । तस्माच्छेषसमस्तवस्तुपर्यायैः
परिज्ञातैरेव एकमक्षरं ज्ञायते, नान्यथेति भावः । अक्षरविचारस्येह प्रकान्तत्वादेकैकमक्षरं सर्वद्रव्यपर्यायराशिमानमुच्यते, अन्यथाऽ-
न्येषामपि परमाणु-द्रव्यगुण-घटादिद्रव्याणामिदमेव पर्यायमानं द्रष्टव्यम्, एतद् वक्तुमाह— पं. ११. ततश्चास्मात् सूत्रादि-
त्यादि । पं. १५. असौ अनन्तभागो नित्योदघाटोऽकारादिश्रुताक्षरस्य तज्जन्यज्ञानस्य वा द्रष्टव्यः, न शेषज्ञानानामित्यर्थः ।

पं. १८. भिन्नेऽर्थजाते यत् सदशाक्षरालापकं तद् गमिकम् । असदृशं त्वगमिकम् । अन्यच्च गाथा-श्लोक-वेष्टकाद्यसदृश-
पाठात्मकत्वादगमिकम् । पं. २४. अत्राहेत्यादि, अङ्गा-ऽनङ्गप्रविष्टभेदद्वयस्य प्राधान्यख्यापनार्थम् । पं. २७. गायदुगुद्धं
तु इति, पूर्व-पश्चिमउरः-वृष्टिरूपम् । पं. ३०. गणहरकय० गाहा, अङ्गा-ऽनङ्गप्रविष्टश्रुतयोरिदं नानात्वम् । किम् ? इत्याह—
गणधराः-गौतमस्वाम्यादयः तत्कृतं श्रुतं द्वादशाङ्गरूपमङ्गप्रविष्टमुच्यते । स्थविराः-भद्रवाहुस्वाम्यादयस्तैः ‘यत् कृतं’
यद् दृष्टं श्रुतमात्रश्रुतनिर्मुक्त्यादिकं तद् ‘अङ्गवाह्यम्’ अनङ्गप्रविष्टमुच्यते । द्वितीयं भेदकारणमाह-निययमित्यादि, सर्व-
तीर्थकर्तृतीर्थेषु ‘नियतं’ निश्चयमात्रेण यत् श्रुतं तदङ्गप्रविष्टमुच्यते, द्वादशाङ्गमित्यर्थः । यत् पुनः ‘अनियतम्’ अनिश्चयमात्रेण
प्रकीर्णकादिकं श्रुतं तदङ्गवाह्यं भणितम् । आह-ननु प्रथमं पूर्वाण्येवोपनिबन्नाति गणधर इत्यागमे श्रूयते, पूर्वकरणदेव चैतानि
पूर्वाण्यभिधीयन्ते, तेषु च निःशेषमपि वाङ्मयमवतरति, अतश्चतुर्दशपूर्वात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु, किं शेषाङ्गविरचनेन ? अङ्गवाह्य-
श्रुतविरचनेन वा ? इति, अत्रोच्यते-यद्यपि दृष्टिवादे सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति तथापि दुर्भेदसां तदवधारणाययोग्यानां
मन्दमतीनां तथा श्रावकादीनां स्त्रीणां चानुग्रहार्थं विशेषश्रुतस्य पूर्वभ्यो विभिन्नस्याङ्गवाह्य-शेषाङ्गरूपस्य विरचना कृतेति । स्त्रीणां
दृष्टिवादे अधिकार एव नास्ति । यदुक्तम्—

तुच्छा गारववहुला चर्लिदिया दुप्बला धिईण य । एणण कारणेणं मृतावाओ य नो श्रीगं ॥१॥ ति

[विशेषा० गा० ५५२]

अशेषविशेषान्वितस्य समप्रवस्तुस्तोमस्य भूतस्य-सद्भूतस्य वादः-भगने यत्रासौ ‘भूतवादः’ दृष्टिवादोऽभिधीयते । दांविचं
तकारस्याऽऽर्पत्वात् ।

[पृष्ठ ७०]

पं. ९. सावज्ज० गाहा । सावद्योगविरतिरर्थाधिकारः सामाधिकृत्य १ । जिनगो-कर्त्तृत्वं चतुर्विंशतिगतवस्याधिकारः २ ।
गुणवतः प्रतिपत्तिर्वन्दनकस्यार्थाधिकारः ३ । सदलितस्य निन्दा प्रतिक्रमस्यार्थाधिकारः ४ । द्रव्यचक्रियसा-ऽर्थाधिकारः कायो-
त्सर्गस्य ५ । गुणधारणा च प्रत्याख्यानस्यार्थाधिकारः ६ । इति गाथा-अंगमन्त्रम् ॥ पं. १५. यदिद् दिवस-निगा-
प्रथम-चरमपौरुषीक्षण एव काले कालप्रहणपूर्वकं पठन्ते, नान्यत्र. नन् काण्डिकम् उच्यते-यथादि । यत् कालेऽप्येतामन्त्र-
शेषकालानियमेन पठन्ते तद् उत्कालिकम् आश्रयन्त्यादि । अन्यच्च तन्दृष्टविचारपादिप्रकीर्णक-
त्वेपवायोत्सर्गश्च न क्रियते ।

[पृष्ठ ७१]

पं. १. महाकर्मन्त्यनप्रभवत्प्रसावयि यान्तासौ भृशप्रकाशवत् । क्व प्रपद्येन पर्ये । पाये समार प्रप्यात् प्रपन्
यत् क्रियानुष्ठानविमुख एवाऽऽसीत् सः यः स प्रमाद इति योगः । पं. २. तामो धोः प्रपद्य । पं. १५. इष्टानुया-
लोकमिति "भौ यौ पत्राऽर्धैर्वश्वदेर्वीति नाम्ना" [जयदेव १-३०-३०-३१-३२] इति नैपथे लिङ् कृत्या । आनयस्यो-
ज्ञायतेऽनेनेऽलोकः—मयादिज्ञानचतुष्टयं द्वास्त्विकम्, तं 'पद्मं' लग्नवासी विभक्तम्—'तासो न विभोः, यद्वा 'पद्मं' मया
यल्लभ्यम्' इति ततो धर्म प्रति मन्दादगे भोगमिति । यतो हि तं 'मीनासी' भगवती' इत्यन्तः येषी व्याप्तये वा नौवनेन ।
तथाहि—ब्रह्मदत्तोऽत्र उद्यन्तः 'नरेशः' चक्री चित्रसम्भूतत्वमि सम्भूतपथायै तर्जमानः कृत्वा वैराग्ये संयमानुग्रहोर्ध्वं
'प्रमादाद्' विषयव्यामृदचित्तेन निदानकरणाद् भवयोगोऽर्जनः, ततः 'व्याप्तयः' व्याप्तिरिति धर्मात् । निष्पन्नेऽपि भग्यमानोऽपि
चक्रिभवे वाऽनेकशः सायुना भग्यमानोऽपि धर्माद् भवयोगोऽर्जनः इति प्रमादकत्वमिदम् । पं. २०. अन्वुच्ययाष्टावि-

10 त्यादि । तदुक्तम्—
अद्वैगसट्टिभागा पइदियहं अंगुत्तरस वइहंति । उत्तरअगणमि पुणो ते विग हायंति पइदियं ॥१॥ [

पं. २५. तत्राविशेषेऽपीति ज्ञानस्य सामान्यविशेषेऽपि अयं विशेषः—ज्योतिषं च निर्मितं च तयोर्ज्ञानं सूरैः प्रमाजनादिकार्ये
उपयुज्यते इति तिथि-करणदि च ज्योतिष्कविषये ज्ञातव्यम् । तदन्यथा निवाहादिनिर्माणपारणे 'द्योपः' आरम्भादिसामुध्यः ।

[पृष्ठ ७२]

15 पं. २. संलेखनाश्रुतमिति, संलिल्यतेऽनया देहा-ऽऽत्मादीति संलेखना, शरीराशपकर्षणरूपा संलेखना । सा च किल
त्रिविधा—जघन्या पाण्मासिकां १ मध्यमा संवत्सरप्रमाणा २ उल्कृष्टा तु द्वादशवर्षरूपा ३ । सा नैवग्— पं. ४-५-६. चत्वारिं०
गाहा, नाइविगिहो य० गाहा, चासं० गाहा । प्रथमं चत्वारि वर्षाणि यावद् 'विचित्रं' चतुर्थ-पञ्च-ऽष्टम-द्वादशादिकं तपः
करोति, पारणके च विकृतीर्गहाति न केव्यनियमः । अपराणि तु चत्वारि वर्षाणि तपस्तथैव विचित्रमेव करोति, पारणके तु सर्वथा
विकृतिवर्जमस्त्रिंशत् भुङ्क्ते । अन्यत्तु संवत्सरद्विकं एकान्तरितमाचाम्लं विदधाति—चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयति, पुनश्चतुर्थं

20 कृत्वा आचाम्लेनैव पारयतीत्यर्थः, एवं पुनः पुनर्यावद् वर्षद्वयम् । एकादशस्य तु वर्षस्याऽऽद्यान् पण्मासान् 'नातिविकृष्टं' नातिगाढं
तपः करोति, चतुर्थं पष्ठं वा विधत्ते, नाष्टमादिकमित्यर्थः । पारणके तु 'परिमितं' किञ्चिद्नोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति । अपरास्तु
पण्मासान् 'विकृष्टम्' अष्टम-दशम-द्वादशादिकं तपः करोति, पारणके त्वाचाम्लमनोदरतया न करोति, किन्तु ध्रुवणेऽर्थः । द्वादशं
तु वर्षं कोटीसहितं निरन्तरमाचाम्लं करोतीत्यर्थः । चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयति, पुनश्चतुर्थं विधायाऽऽचाम्लेनैव पारयतीत्या-
दीन्यपि मतान्तराणि द्वादशवर्षविषयाणि दृश्यन्ते । इह च भोजनं कुर्वन् प्रतिदिवसमनोदरतां तावत् करोति यावदेकं कवलमाहा-
25 रयति, तमप्येक-द्वि-त्र्यादिसिक्थोनं तावदाहारयति यावदेकमेव सिक्थं भुङ्क्ते । अपरं चेह द्वादशवर्षस्य पर्यन्तवर्तिनश्चतुरो मासान्
यावदेकान्तारिकेषु पारणकदिवसेषु सुचिरं तैलगण्डूपमसौ मुखे धार्यते, ततः खेलमल्लके भस्ममध्ये प्रक्षिप्य मुखमुष्णोदकेन शोधयति ।
यदि पुनस्तैलगण्डूपविधिं न कार्यते तदा वायुना मुखमीलनसम्भवे पर्यन्तसमये नमस्कारमुच्चारयितुं न शक्नोति । तदेवगुल्फ-
संलेखनानुसारेण जघन्य-मध्यमे अपि कार्ये । तदन्ते च भक्तप्रत्याख्यानादिमरणानामन्यतरत् प्रतिपद्यते, अत एवाह—गिरिकंदर-
मित्यादि । पं. ११. गिलाणं किरियाईयं ति उत्थानादिक्रियाकरणसमर्थं ज्ञात्वा । पं. १२. [सव्वदव्व]दायण-

30 याए त्ति सर्वद्रव्यदर्शनेन । निचण्हस्स त्ति भक्ते विगतवृष्णस्य । पं. २९. आवलिकाप्रविष्टेभ्य इत्तरविमानानि पुष्पावकीर्णकानि ।

[पृष्ठ ७३]

पं. ४. उवउत्ते समाणे त्ति उपयुक्तः सन् श्रमणः 'परिवर्त्तते' गुणयति । पं. ७. ओवयइ त्ति आकाशाद् 'अवपतति'
अवतरति अंतर्द्धि ए त्ति 'अन्तर्हितः' आकाशस्थः । पं. ११. सिंगनाइयकज्जेसु त्ति, शृङ्गजातेन तुल्यानि शृङ्गजातीयानि,

तानि च तानि कार्याणि चेति विग्रहः । यथा गवि स्थितं शृङ्गं सर्वजनप्रकटं भवति, एवं यत् सर्वजनविदितं महदद्भुतं किञ्चिच्चैत्य-
गुरु-सद्भादिविषयमनर्थरूपं प्रत्यर्नाकेन क्रियमाणं भवति तत् शृङ्गज्ञातीयमुच्यते इत्येके । शृङ्गनादितकार्यमित्यपरे, तत्र तादृशे
कार्ये उत्पन्ने शृङ्गनादः—शृङ्गापूरणपूर्वकं सङ्घमिलनलक्षणः स सञ्जातो यत्र तच्च तत् कार्यं चेति व्याक्षते । ज्ञातीयं शृङ्ग-
कार्यमुच्यते इति तात्पर्यम् । पं. १२. आसुरसुतः रुष्टः, अत एव 'अप्रसन्नलेश्यः' अप्रशस्तचित्ताध्यवसायः । पं. १७.
सललियं ति सलीलं यथा भवति एवमागत्य स्वस्थाने निवसति । पं. २३. जाणि कप्पविमाणाणि ति देव्युत्पत्ति-
विषयाणीत्यर्थः ।

[पृष्ठ ७४]

पं. १३. अन्ने इत्यादि, उसभाईणं संधराणं ति जीवतामित्यर्थः । पं. १४. पत्राहेण ति निर्द्वैतानां पुनरेकैक-
तीर्थं बहूनि द्रष्टव्यानि । पं. २०. तच्छिष्यभाव इति शासनप्रणेतृतीर्थकरशिष्यभावः प्रत्येकबुद्धानामप्यदुष्टः ।
पं. २१. अनियोगत (न तु नियोगत) इति न त्ववश्यम्भावेनेत्यर्थः । पं. २६. अङ्गेषु प्रविष्टम्—अन्तर्गतमङ्गप्रविष्टं 10
श्रुतमाचारादि ।

[पृष्ठ ७५]

पं. १०. बाह्याऽऽभ्यन्तरग्रन्थरहितानामिति, तत्र बाह्यः—धन-धान्यादिकः प्रतीतः, अभ्यन्तरश्च—मित्यात्वं नव नोकपायाः
क्रोधादिकपायचतुष्टयं चेति चतुर्दशविधः । पं. १७. इह च यत्रेत्यादि आचार-गोचर-त्रिनयेत्यादौ सूत्रे । पं. २३.
निस्संक्रियं गाहा, 'निःशङ्कितः' निर्गतशङ्को जीवादिषु । 'निष्काङ्कितः' निर्गतकाङ्क्षोऽन्यतीर्थिकमतेषु । 'निर्विचिकित्सः' निः- 15
सन्दिग्धोऽनुष्ठानफलं प्रति । अमृददृष्टिः कुतीर्थिकविद्यादिदर्शनेः । 'चः' समुच्चये । एवं गुण-गुणिनोः कथञ्चिदभेदावेदनद्वारेण दर्शना-
चारमभिदधता तद्वदभिधानमुखेनाऽसावुक्तः, अतस्तं गुणिनो भेदेनाप्याह—उपवृंहणमुपवृंह्या—गुणवस्तुतिरूपा । 'स्थिरीकरणं' धर्मं
चलाचलस्य स्थिरत्वापादनलक्षणम् । तथा 'वात्सल्यं' वत्सलभावः, साधर्मिकाणामाहारादिभिरुपष्टम्भकरणमित्यर्थः । तथा प्रकर्षण
भावना—जिनशासनमाहात्म्याविकरणरूपा । अष्टावमी दर्शनाचारा इत्यर्थः । पं. २५. प्रभावकानष्टाबुद्धिदानाह—अङ्गसेसं 20
गाहा, व्याख्या—अतिशेषाः—अवधिज्ञानादयः, ते तैवां ऋद्धिर्यस्याऽसावतिशेषार्द्धः, भिन्ने वा पदे, तदन्तो दृश्यौ १ । 'भाचार्यः' 20
प्रावचनिकः २ । 'वादी' वादलब्धिविमान् ३ । 'धर्मकर्त्री' धर्मकथालब्धिविमुक्तः ४ । 'क्षपकः' विकृततपःकर्ता ५ । 'नैमित्तिकः' मुनि-
श्रितातीतादिनिमित्तवेदी ६ । विधेत्युपलक्षणवाद् विद्यावान् ७ । 'राज-गणसन्मताः' पृथिवीपति-महाजनादिवहुमताः, स्थानद्वयमिदं
एकं वा ८, अतिशेषार्द्धैकत्वविवक्षायाम् । 'तीर्थ' प्रवचनं स्वसमृद्ध्या 'प्रभावयन्ति' मन्वस्थप्राणिनां बहुमानगोचरीकुर्वन्तीति
गाथार्थः ॥ पं. २८. प्रणिधानं—चित्तैकाग्रता, तेन मनो-वाक्रायेषु योगेषु युक्तः—तन्निप्रद्वारः । पं. ३२. न इहलोका-
घर्षमाजीवति तपसा यः सोऽनाजीवी ।

[पृष्ठ ७६]

पं. ७. 'वेदाः' छन्दोविशेषाः 'एकार्थप्रतिबद्धवचनसङ्कलिकेत्यर्थः' इत्यन्ये । पं. ९. द्रव्याद्यन्युपगमाः प्रतिपन्नयः,
मतान्तराणीत्यर्थः । सूत्रार्थो गरीयान्, अत एव सूत्रधरादर्धधरः प्रधानं दृष्टव्यते । पं. ११. स्थापनामित्यादि, रचना-
पेक्षया तु द्वादशमङ्गं प्रथमम्, पूर्वगतस्य पूर्वं प्रवचनान् पूर्वं क्रियमानादान् पूर्वोच्यन्ते । स्थापनामपि द्रव्यं च आचारः प्रथम-
मङ्गम् । पं. १३. सत्यपरिभ्रंश्यादिगाथायामत्र चतुर्धपादो महापरिभ्रंश्याणामुयमिति द्रव्यमागत्याख्यानेनायमेवात्र 20
पाठः । अन्यत्र च "उच्यमाणमुयं महापरिभ्रंशे"ति पठ्यते तच्चेह नोपपद्यते, उच्यमानकालसंख्याया विद्यमानान्, महापरिभ्रंश्यायामत्र
प्रथममुपादानान् पश्चादुपधानश्रुतस्येति । प्रथमश्रुतकन्धो नवाप्यवन्तिस्वलो भवति । पिदंमणे-यादिना निर्मायथुम् कथय-
यनपोदशकम् । तत्र—

[पृष्ठ ८९]

पं. ८. अट्टमे कम्मप्पवायपुञ्चे पयइ-ठिइ-अणुभाग-पएसइएहिं ति एतस्वरूपं यथा—
स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता, स्थितिः कालावधारणम् । [ए]तद्रसोऽणुभागः स्यात्, प्रदेशो ऽ(खं)शकल्पनम् ॥१॥
यद्वा—

ठिइवंधु दलस्स ठिई, पएसवंधो पएसगहणं जं । ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइवंधो ॥१॥

[पञ्चसङ्ग्रह गा० ४३२]

पं. १४. वारसमे अन्ने य पाणा वन्निय त्ति, इन्द्रियादयः । पं. १६. तेरसमे छंद्-किरियाविहाणा य त्ति,
पद्यविषयाणि तन्मध्या(?)शार्दूलादिरूपाणि छ्दांसि क्रियाश्च—करोति-भक्त्यादय एतासां विधानानि वर्ण्यन्त इति क्रियाविशालम् ।
[पत्र ८८ पंक्ति ४] उप्पायपुञ्जस्स णमित्थादि । नवरम्—'वस्तु' नियतार्थाधिकारप्रतिबद्धो ग्रन्थविशेषः, अध्ययनवत् । पं. २६.
'समत्तसुयनाणिणो' चउदसपुञ्जधरा । पं. २०. एकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते ।

[पृष्ठ ९०]

पं. ५. दसारंगण्डियाउ त्ति दशार्हाः—समुद्रविजयादयो दश वसुदेवान्ताः तत्प्रतिबद्धा गण्डिका दशार्हगण्डिकाः ।
पं. १५. आइच्चजसाईणमित्थादि । ऋपभनिर्वृतिप्राप्त्यनन्तरं ऋपभस्य पओप्पए आदित्ययज्ञाःप्रभृतीनां नरपतीनां सङ्घां
सिद्धि-सर्वार्थसिद्धिगमनविषयां सगरसुतानामप्रतः सुवुद्धिनामाऽमात्यः परिकथयति । पं. १६. नृपतीनां चतुर्दश लक्षाः
सिद्धाः, एको लक्षः सर्वार्थे, एवमेकैकस्थाने पुरुषयुगान्यसङ्घचेयानि भवन्ति । तदनन्तरं चतुर्दश लक्षाः सिद्धाः द्वौ लक्षौ सर्वार्थे, 1

१ अत्र ह्याद्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगण्डिकायुगले धीमलयगिरिसूरिविरचितनन्दिसूत्रवृत्ति-श्रीदेवेन्द्रसूरिनिर्मितसिद्धगण्डिका-
प्रकरण-तद्वचचूरी-श्रीचिनयविजयोपाध्यायरचितलोकप्रकाशादियु एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-यादयमाशतसंख्याः वर्तन्ते, न तु एकलक्ष-
द्विलक्ष-त्रिलक्षादिकाः ; यथा श्रीसङ्घदासगणित्राचक्रविहितवसुदेवहिण्डीप्रथमखण्डान्तगतसिद्धगण्डिकायां [पत्र ३०१] श्रीजिनदास-
गणिमहत्तरनिर्मितनन्दीसूत्रचूर्णिगतसिद्धगण्डिकायां [पत्र ५८] श्रीहरिभद्रसूरिविरचितनन्दिसूत्रलघुवृत्तिगतसिद्धगण्डिकायां [पत्र ९१]
च आद्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगण्डिकायन्त्रयुगले दृश्यन्ते । अत एव तदनन्तरेण श्रीश्रीचन्द्राचार्यगर्भः अत्राद्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगण्डिका-
युगले एकलक्ष-द्विलक्ष-त्रिलक्षादिव्याख्यानं कृतमस्ति ।

अपि च— एतद्व्याख्यानभेदविषये एतदप्यवधेयमस्ति यत्— सिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकोपरिनिर्दिष्टचूर्णि-वृत्त्यादिसर्वेभ्येषु सिद्धगण्डिका-
स्वरूपवेदकोद्विखितगाथाकदम्बकावलोकेन केवलं द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-यादयमाशतसंख्यान्तरितमिद्धि-सर्वार्थगमनप्रतीतिरेवोपजायते, न लक्ष-
न्तरितप्रतीतिरिति । तथा वसुदेवहिण्डि-नन्दीचूर्णि-नन्दीलघुवृत्तिषु सिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकगाथानां व्याख्यानं स्वश्रीकरणं वा
लेखातोऽपि न वर्तते, किन्तु गाथाभावावेदकानि यन्त्रकाण्येव केवलं वर्तन्ते । तेषु च अन्तरित-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-यादयमाशतसंख्यान्तरित-
किञ्च-धीमलयगिरिनन्दीवृत्तौ सिद्धगण्डिकाप्रकरणे लोकप्रकाशे च चूर्णि-वृत्तिशुद्धाण्डिकाप्रकरणे सिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकगाथानां
व्याख्यानं यन्त्रकाणि चापि वर्तन्ते, तत्रान्तर्गतैक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-यादयमाशतसंख्यान्तरित-एव वर्तन्ते, न लक्षनिर्देश इत्यत्र तारिकाभिन्नविषये
बहुधुनाः प्रमाणम् ।

अथ चात्र द्वितीयप्रतिलोमसिद्धगण्डिकाविषयेऽपि एतदवधानार्थमस्ति, यत्— चूर्णि-लघुवृत्ति-वृद्धवृत्ति-सिद्धगण्डिकाप्रकरणाव-
चूरी-लोकप्रकाशादिसर्वशास्त्रेषु प्रतिलोमसिद्धगण्डिकायन्त्रकं सुदृढतरन्मनोबोधकल्प्यते, किन्तु चूर्णिशुद्ध-लघुवृत्तिशुद्ध-प्रतिलोम-
सिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकगाथासु तथा धीमलयगिरिवृत्ति-सिद्धगण्डिकाप्रकरण-तद्वचचूरी-लोकप्रकाशेषु च " लक्षोऽनन्तरं
(अनुलोमसिद्धगण्डिकासमाप्त्यनन्तरं) चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरन्तरं सर्वाधिनिन्दे एव सिद्धौ, भूदरवदुर्ग लक्षः मर्त्ये एव सिद्धौ,
एवं चतुर्दशलक्षान्तरित एकैकः सिद्धौ तादृक् वक्तव्यो वाच्यः तेषुकेचन अक्षय्येण भवति " इत्यादि निर्दिष्टे वर्तेते, अत्रापि निर्दिष्टे
अनुलोमसिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकगाथासु सर्वार्थसिद्धानन्तरं प्रतिलोमसिद्धगण्डिकाप्रकरणेभ्यः चतुर्दशलक्षसंख्यान्तरित इत्येव तथा प्रतिलोमसिद्धगण्डिका-
सम्बन्धया न प्रतीतिमायाति, एवमेव द्वितीयप्रतिलोमसिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकगाथासु सिद्धगण्डिकाप्रकरणे नृवीर्यसमसंख्येण चतुर्दशलक्षसंख्या-
जायेन तत्रापि तृतीयगण्डिकाप्रकरणो न सन्त्यक् प्रतीतिमायास्वति इति यन्त्रकाण्येव व्याख्यानं कृतमस्ति । किन्तु व्याख्यानं

- अत्रापि पुरुषयुगान्यसङ्गोऽथानिष्कालानि शनया रीत्या । नवम् एतद्वे च नैव सङ्घातं कर्तव्यं । अथ यथापि सङ्घातं कर्तव्यं । विजय-धैजयन्तादिकं विमानपत्रकमपि हेतुम्, न पुनर्मन्त्रोपदेशेन, अथवा तदा कर्मणि विमानपत्रकमपि कर्तव्यं । न तत्र सङ्घातं कर्तव्यं । अथ विमानपत्रकमपि सङ्घातं कर्तव्यं । अथ विमानपत्रकमपि सङ्घातं कर्तव्यम्, इह विमानपत्रकाभारस्य तत्परतदव्यं सार्थगतानां रजःसाधु कर्मणि साधारणानां विमानपत्रकमपि सङ्घातं कर्तव्यम् ।
- 5 विमानेषूपशन्ते देवा इति सम्प्रदायः । देवेन्द्रसकेन्द्रकर्मणे पञ्चोत्तराणां विमानपत्रकमपि सङ्घातं कर्तव्यम् । तत्रापि विमानपत्रकमपि सङ्घातं कर्तव्यम् । पं. २०. विवरीयं० गाथा । नोत्तराणां सङ्घातं कर्तव्यम् । एषाणं परिवाडीणं ताव नयं जाव सिद्धीणं पञ्चास लक्ष्णा, सन्वद्धे चोत्तरा लक्ष्णा ॥ पं. २३. निचंतमंगुडिया तथो चउरी त्ति, प्रथमा एकाधिकोत्तरा । नवम्-परस्परापेक्षया एकाधिकोत्तरत्वं वाच्यम्, एव उपरिभागेन १ । द्वितीयायां गण्डिकायामप्युत्तरं च एकाद्विकोत्तरत्वम् २ । तृतीयायामेकाद्विचतुत्तरत्वमप्युत्तरं च कार्यम् ३ । चतुर्थी पाठस्येन चतुर्थीधोभागेन
- 10 एकूणतीसं तिगा मंडेयत्वा, सा च त्र्यादिका द्व्यादिविपमोत्तरा ४ । पं. २६. जान असंसेत्ता दो वि ति, 'दे' सिद्धि-सर्वार्थगमने असङ्घेयपुरुषयुगरूपेण वाच्ये एकाद्विचतुत्तरायां चित्रान्तरगण्डिकायाम् २ । तृतीयायामेकाद्विचतुत्तरायां गण्डिकायामेकः शिवगतौ चत्वारः सर्वाथे उत्पद्यन्ते । अनया रीत्या द्वावपि राशी एकाद्विचतुत्तरस्वस्वोभागाद्विजयपुरुषयुगानि यानरं भवतः ३ ।
- पं. २८. त्र्यादिकायां द्व्यादिविपमोत्तरायां चतुर्थगण्डिकायां सेसेमु इमो भवे खेनो ति राशिस्थानेन एकोनत्रिंशत्सङ्घस्थापितत्रिकेवायं विमुच्य शेषेष्टाद्विशतिसङ्घे च स्वस्तनोपरितनेषु त्रिकेष्वयं त्रिकाद्विको बध्यमाणगाथात्रयोकोऽङ्गक्षेपः कार्यः,
- 15 ततोऽधस्तनत्रिकमध्ये द्विकक्षेपे जाताः पत्र १, उपरितनत्रिकमध्ये पत्रक्षेपे जाता अष्टौ २, अनया रीत्या सार्थं वाच्यम्, यावदिकत्रिंशत्सङ्घाः (यावदष्टाद्विशतिसङ्घाः) धरतनत्रिकस्य शतक्षेपे जातं १०३, उपरितनत्रिकस्य च मध्ये षड्विंशत्या द्विंशत्याऽस्त्ये जाता एकोनत्रिंशत् । एवमियमाथा गण्डिका विपमोत्तरा । अनया दिशा असङ्घा अन्त्या विपमोत्तरा शेषाः । परं सर्वस्यामप्यन्यस्यां गण्डिकायां प्ररूप्यमाण्यायां यद[न्यम]ङ्गस्थानं किञ्चित् प्राचीनायामागतं तदेकोनत्रिंशत्सङ्घवाराः स्थाप्यम्, ततः प्रथमं स्थानं विमुच्य शेषासु एकोनत्रिंशत्सङ्घाद्विशतिसंख्यासु “दुग पण नवग”मित्यादि प्रागुक्तगाथात्रयोक्तो त्रिकाङ्गप्रक्षेपः अथ उपरि च
- 20 प्रागृीत्या कार्यः । पञ्चाश्लक्ष्णाः सागरोपमकोटीनां किल ऋषभा-ऽजितयोरन्तरम्, एतावदन्तरे च प्रभूतकालस्वरूपो प्रभूता-सङ्घेयासङ्घेयसङ्घानेन एतावन्तः सिद्धाः सर्वाथे च गता इति सगरपुत्राणां मनुस्मृतिर्जागद ।

चर्चिष्ठादिनिर्दिष्टा “ विवरीयं सवद्धे चोत्तरा लक्ष्णा उ निव्वुतो एगो । ” इत्यादिगाथा सामान्यनिर्देशरूपेण प्रत्येतव्या, न कमावेदिकेति चोद्धव्यम् । यद्यप्यस्मिन् व्याख्याने श्रीमलयगिरिसूरि-श्रीदेवेन्द्रसूरि-श्रीविनयविजयोपाध्यादिव्याख्यानेन सह स्पष्ट एव विरोधस्तथापि तैरेव लिखितयन्त्रकेण सहानाहूतो विरोधोऽपि स्पष्ट एवेत्यपि विचार्यमस्ति ।

अपरं च-श्रीदेवेन्द्रसूरिसूत्रितचैत्यवन्दनभाष्यसत्कथीधर्मघोषसूरिविरचितसंघाचारटीकायां रत्नसारकथायां सिद्धगण्डिकाव्या-वर्णने सिद्धगण्डिकाप्रकरणगाथा एवोद्धृताः सन्ति, तत्र सङ्घाचारवृत्तिरचनासमये तैः सगुरुश्रीदेवेन्द्रसूरिसूत्रिता एव गाथा यथाव-दुद्धृताः, किन्तु तद्वृत्तिपुनःप्रमार्जनसमये उपर्युक्तगण्डिकान्त-प्रारम्भाप्रतीतिदोषमुद्भाव्य यन्त्रकानुसारेण सिद्धगण्डिकाप्रकरणगत-गाथायाः परावृत्तिः स्वव्याख्यायां कृताऽस्ति । सा चैवम्—

आइवजसाइ सिवे चउदस लक्ष्णा उ, एगु सवद्धे । एवं जा इक्किा असंख, इय दुग-तिगाइ वि ॥

जा पञ्चासमसंखा १, तो सवद्धमि लक्ष्णचउदसगं । एगो सिवे, तहेव य असंखा जाव पण्णासं ॥

अत्र द्वितीयगाथायां “ तो सवद्धमि लक्ष्णं ” इत्यादिगाथापाठस्थाने श्रीधर्मघोषसूरिपदैः “ तो सिवि इगु चउद लक्ष्ण सवद्धे । पुण इगु सिवे तहेव यं ” इति अतिसुसङ्गतपाठपरावृत्तिर्विहिताऽस्ति । यद्यपि जेसलमेरु-पत्तनादिस्थितताडपत्रीयादिप्रतिपु नास्तीयं पाठपरावृत्तिः किन्तु स्तम्भतीर्थीयश्रीशान्तिनाथताडपत्रीयमाण्डागारे संशोधित-परिवर्धितादेशं इयं सुसङ्गता पाठपरावृत्तिर्दृश्यत इति । प्रतिथेयं तदन्तः प्रतिपत्रं तथा स्थाने स्थाने नवीनपरिवर्धितानेकपत्रेषु पूजादिविषयकानेकमतमान्तरचर्चाशुद्धेन बृहद्भृत्प्रतिरूपा जाताऽस्ति, अतीवोपयोगिनी चाप्यस्ति ॥

[पृष्ठ ९३]

पं. ५. पणवीसुत्तराणि दो सयाणि त्ति, इहोत्पादादीनां विन्दुसारपर्यन्तानां चतुर्दशानां पूर्वाणां "दस चोदस अट्टुट्टारसेव वारस दुवे य वथूणि" । [सू. १०९ गा. ७९-८०] इत्यादिना प्राक् सूत्रोक्तगाथाद्वयेनाभिहितदशादिपञ्च-
विंशत्यन्तानामङ्कानां मीलने पञ्चविंशत्युत्तरशतद्वयं भवति । पं. ६. चउतीसं ति "चउ वारस अट्टु य दस हवंति" [पंक्ति
४] इतिगाथोक्तचतुःप्रभृतीनां मीलने ३४ भवति । पं. १२. इच्चैयम्मि इत्यादि । पं. १६. अन्ये तु— 5
धर्मापेक्षया अनन्ता भावाः प्रतिवस्त्वस्तित्वप्रतिवद्धाः, कोऽर्थः?—एकस्यैव वस्तुनोऽनुवृत्तिरूपाः [भावाः] धर्मा
अनन्ताः सन्ति, तदारम्भक्राणामण्णामनन्तगुणकृष्णादिधर्मयुक्तत्वात् । अनन्ता अभावा प्रतिवस्तु नास्तित्वप्रतिवद्धाः, एकस्यापि
वस्तुनलैलोक्यव्यावृत्तत्वादित्यभावानामनन्तत्वम् । पं. २३. सिद्धा अनन्ताः निष्ठितार्था लोकान्तवर्तिनः । असिद्धास्तु
संसारिणस्तेऽप्यनन्ताः, असिद्धसर्वजीवराशेः सिद्धराश्यपेक्षया अनन्तगुणत्वख्यापनार्थमित्यर्थः ।

[पृष्ठ ९४]

पं. ५. उभयाङ्गया पुनरिति सूत्रार्थोभयैर्विराध्य । पं. ६. अथवेत्यादि एतद्विराधनयेति, आज्ञाऽकरणेनेत्यर्थः ।
पं. ९. वर्त्तमाने विशिष्टविराधका ये मनुष्यजीवास्तेषाम् । पं. १६. विइवइंसु त्ति व्यतिव्रजितवन्तः । पं. १७.
प्रत्युपपन्नसूत्रे व्यतिव्रजन्ति व्यतिक्रामन्ति । विइवइंसन्ति 'व्यतिव्रजिष्यन्ति' व्यतिक्रमिष्यन्तीत्यर्थः ।

[पृष्ठ ९५]

पं. ११. श्रुतज्ञानी दत्तोपयोगः जानाति स्पष्टावभासिना श्रुतज्ञानेनावबुध्यते । पं. १२. मतिविशेषत इति, 15
तदुक्तम्—

अक्खरलंभेण समा ऊणसहिया हुंति मइविसेसेण । ते वि य मइविसेसा सुयनागम्भंतेरे जाण ॥१॥ [विशेषा. गा. १४३]
श्रुतज्ञानाश्रयास्ते इत्यर्थः ॥ पं. १८. आगमसत्य० गाहा । पूर्वेषु विशारदाः विपश्चितो 'धीराः' व्रतानु-
पालनस्थिराः श्रुतज्ञानस्य लाभं 'ब्रुवते' प्रतिपादयन्ति । किं तत्? इत्याह—“तं” ति तदेवाऽऽगमशास्त्रग्रहणम् । यत् किम्? इत्याह—यद् 'बुद्धिगुणैः' वक्ष्यमाणस्वरूपैरष्टभिर्दृष्टं शास्त्रे इत्यक्षरयोजना । अयमर्थः—शिक्ष्यते—शिक्ष्यते बोध्यते प्राणी अनेनेति 20
शास्त्रम्, तच्चाविशेषितं सामान्येन सर्वमपि मत्यादिज्ञानमुच्यते, सर्वेणापि ज्ञानेन जन्तूनां बोधनात् । अतो विशेषे स्थापयितुमाह—
आगमरूपं शास्त्रमागमशास्त्रम्, श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तस्य ग्रहणं—गुरुसकाशादादानं तदेव श्रुतलाभं ब्रुवते, यद् बुद्धिगुणैरष्टभिः
शास्त्रे दृष्टम्, नान्यदिति, वक्ष्यमाणशुश्रूषादिगुणाष्टक्रमेणैव श्रुतज्ञानं प्राप्यम् नान्ययेति तात्पर्यमिति गाथार्थः ॥ पं.
२०. सुस्ससइ० गाहा । अथवा यद् यदाज्ञापयति कार्यजातं गुरुस्तत् तन् सम्यगनुग्रहं मन्यमानः श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते ।
पूर्वनिरूपितश्च कार्यकरणकालं पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति । इत्थं चाऽऽगमित्यर्थे गुणेऽन्तिके मूत्रं तदर्थं वा सम्यक् शृणोति । 25
श्रुतं चावग्रहेण गृह्णाति इत्यादि पूर्ववत् । यथा प्रतिपृष्टेन गुरुणा पुनरादिष्टं सन् तद्वचः सम्यक् शृणोति । श्रुतं चाऽयग्रहेण
सम्यग् गृह्णातीत्यादि तथैव, यावत् करोति च गुरुभगितं सम्यगिति । एवं गुरुशोधनद्विषयत्वेनाष्टावपि गुणा व्याख्यायन्ते, श्रुता-
वाप्तौ मूलोपायत्वाद् गुर्वशोधनाया इति गाथार्थः ॥

श्रीधनेश्वरसूरीणां पादपद्मोपजीविना । नन्दिवृत्तो कृता व्याख्या श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिणा ॥१॥

समाप्ता चेयं नन्द्यध्ययनटीकायां श्रीशीलभद्र-प्रभुश्रीधनेश्वरसूरिजिज्ञप्सु-
श्री-श्रीचन्द्रसूरिविरचिता दुर्गापदव्याख्या ॥

से चं नंदी समत्तेति वचनादाचार्यपदरथापनायामनुयोगानुशास्त्रविषयेयं नन्दिवृत्तवचनाया समर्थयेति ॥

हियागयं वा सिद्धिसिलातलगनं वा अहो षं इयंयं सरीरसमुस्सएणं 'अणुण'णि पयं भावणियं
पण्णावियं परुच्चियं दंसियं णिदंसियं उवदंसियं, जहा को दिदंतो ? अयं घयकुंभे भावी, अयं
महुकुंभे आसी । से तं जाणमसरीरदव्वाणुण्णा ।

८. से त्ति अथ केयं ज्ञशरीरदव्वाणुज्जा ? उच्यते अणुण नि इत्यादि, जानानिनि जा नप अरिं केये ज्ञशरीरं
5 तदेवानुभूतभावत्वाद् द्रव्यानुज्ञा । यच्छरीरकं द्रव्यानुज्ञा तत् कस्य सम्बन्धि इत्याह—अन्तीति यत् पदे तस्य योऽप्यर्थोऽपि तस्य
अर्थव्यवहाराद्युपतिरूपः तं ज्ञातवतः सम्बन्धि । कथम्भूतं सदिदं ज्ञशरीरं द्रव्यानुज्ञा भवति ? इत्याह—अपगत-पुण्यावित्यक्तदेहं
जीवविप्रमुक्तमित्यक्षरघटना । तत्र व्यपगतं-चैतन्यपर्यायादचैतन्यरक्षणं पर्यायात्तं प्राप्तम् ; अत एव 'युतं-उपस्थास-निःआस-
जीवनादिदशविधप्राणेश्यः परिभ्रष्टम् अचेतनस्योद्भवासाधयोगात् ; प्राणेश्यत् स्वभावतो न परिभ्रष्टः किन्तु व्याविर्तं-वलीयस-
आयुःक्षयेण तेभ्यः परिभ्रंशितम् । एवं च सति कथम्भूतं तत् ? इत्याह—त्यक्तदेहं-“दिह उपनये” त्यक्तो देहः—आहारपरिणति
10 जनित उपचयो येन तत् त्यक्तदेहम्, अचेतनस्याहारग्रहण-परिणतयोरभावात् । एवं प्रदर्शितनिधिना जीवेन—आत्मना विविधम्-
अनेकधा प्रकर्षेण मुक्तं जीवविप्रमुक्तम् । तदेतदनुज्ञापदार्थज्ञस्य शरीरकमनीतानुज्ञाभावस्य कारणत्वाद् द्रव्यानुज्ञा, नोआगमत्
चास्यास्तदानीमागमस्य सर्वथाऽभावात् । भूयः कथम्भूतं शरीरकम् ? इत्याह—सेजागयं वेत्यादि शय्या-गहती सर्वाङ्गप्रमाणा त
गतं शय्यास्थितमित्यर्थः । संस्तारः—अर्द्धतृतीयहस्तमानस्तं गतं तत्रस्थम् । नैपेधिकी-शय्यपरिस्थापनभूमिस्तां गतं—प्राप्तम् । यत्
महर्षिः कश्चित् सिद्धस्तत् सिद्धशिलातलं तद्वत् तत्र स्थितमिति । भक्तपरिज्ञायनशनप्रतिपत्तिभूमिर्वा सिद्धशिलातलं तद्वत् । अहं
15 णमिति अहोशब्दो अन्यपार्थस्थितामन्त्रणे, 'अनेन' प्रत्यक्षतया दृश्यमानेन शरीरमेव पुद्गलसद्भातत्वात् समुच्छ्रयस्तेन अनुज्ञेति प
'आधवियं'ति छान्दसत्वाद् गुरोः सकाशादागृहीतं तदावरणकर्मक्षयोपशमात्, 'प्रज्ञापितं' अन्येभ्यः कथितम्, 'प्ररूपितं' तेभ्य
एव तदर्थकथनतः, 'दर्शितं' सान्वयोऽयं शब्दो न तु मण्डपादिवन्निरन्वय इत्येवं शिष्येभ्यः प्रकटितम्, 'निदर्शितं' परस्य कथञ्चिद्
गृह्यतः परयाऽनुकम्पया निश्चयेन पुनः पुनर्निवेदितम्, 'उपदर्शितं' पुनः पुनः स्मरणतः । आह—नन्वेनेन शरीरसमुच्छ्रयेणाऽनुज्ञा
पदमागृहीतमित्यादि नोपपद्यते, ग्रहण-प्ररूपणादीनां जीवधर्मत्वेन शरीरस्याघटमानकत्वात्, सत्यम्, किन्तु भूतपूर्वगत्या जीव
20 शरीरयोरभेदोपचारादित्यसुपन्यास इत्यदोषः । यथा कोऽत्र दृष्टान्तः ? इति पृष्टे सत्याह—यथा अयमित्यादि । एतदुक्तं भवति
यथा घृते मधुनि वा प्रक्षिप्यापनीते तदाधारत्वपर्यायेऽतिक्रान्तेऽपि अयं घृतकुम्भ इत्यादि व्यपदेशो लोके प्रवर्तते तथाऽनुज्ञ
पदार्थवेत्तृत्वपर्यायेऽतिक्रान्तेऽप्यतीतपर्यायानुवृत्त्या द्रव्यानुज्ञेयमुच्यते । इतीयं ज्ञशरीरदव्वाणुज्जा ॥

९. से किं तं भवियसरीरदव्वाणुण्णा ? भवियसरीरदव्वाणुण्णा जे जीवे जम्मणजोणीणि
क्खंते इमेणं चेष सरीरसमुस्सएणं आदत्तेणं जिणदिद्वेणं भावेणं 'अणुण'त्ति पयं सेयका
25 सिक्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ । जहा को दिदंतो ? अयं घयकुंभे भविस्सति, अयं महुकुंभे
भविस्सति । से तं भवियसरीरदव्वाणुण्णा ।

९. अथ केयं भव्यशरीरदव्वाणुज्जा ? इति पृष्टे सत्याह—जे जीवे इत्यादि विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यः—विवक्षित
पर्यायाहः तद्योग्य इत्यर्थः तस्य शरीरं तदेव भाविभावानुज्ञापदार्थवेत्तृत्वकारणत्वाद् द्रव्यानुज्ञा भव्यशरीरदव्वाणुज्जा । किं पुनस्तत्
इत्यत्रोच्यते—यो जीवो योनीजन्मत्वनिष्क्रान्तोऽनेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण 'आत्तेन' गृहीतेन 'जिनदृष्टेन' तीर्थकराभिमतं 'भावे
30 तदावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणेनानुज्ञेति पदमागामिनि काले शिक्षियते न तावच्छिक्षते तद् जीवाधिष्ठितं शरीरं भव्यशरीरदव्वाणुज्जा
समुदायार्थः । अवयवार्थस्तु—यः कश्चिद् 'जीवः' जन्तुः योन्याः—योपिदवाच्यदेशलक्षणायाः परिपूर्णासमस्तदेहो जन्मत्वेन—जन्म

समयेन निष्क्रान्तः, न पुनरामगर्भावस्थ एव पतितो योनिजन्मत्वनिष्क्रान्तः, अनेनैव शरीरमेव पुद्गलसङ्घातत्वादुत्पत्तिसमयादारभ्य प्रतिसमयं समुत्सर्पणाद्वा समुच्छ्रयस्तेन 'आत्तेन' आगृहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा जितोपदिष्टेनेत्यादि पूर्ववत् सेयकाले त्ति छान्दसत्वादागामिनि काले 'शिक्षिष्यते' अध्येष्यते साम्प्रतं तु न तावदद्यापि शिक्षते तद् जीवाधिष्ठितं शरीरं द्रव्यानुज्ञा । नोभागमत्वं चात्राप्यागमाभावमाश्रित्य मन्तव्यम्, तदानीं तत्र वपुष्यागमाभावाद् नोशब्दस्य चात्रापि सर्वनिषेधवचनत्वादिति । यथा कोऽत्र दृष्टान्तः ? इति निर्वचनमाह—यथाऽयं घृतकुम्भो भविष्यतीत्यादि । एतदुक्तं भवति—यथा घृते मधुनि वा प्रक्षेपुमिष्टे तदा- 5 धारत्वपर्याये भविष्यत्यपि लोके अयं घृतकुम्भो मधुकुम्भो वेत्यादिव्ययदेशो दृश्यते तथाऽत्राप्यनुज्ञापदार्थवैतृत्वपर्याये भविष्यत्यपि तदस्तिवपरनयाऽनुवृत्त्या द्रव्यानुज्ञेयमुच्यते इति भावः । निगमयन्नाह—से तमित्यादि तदेतद् भव्यशरीरद्रव्यानुज्ञेति ॥

उक्तो नोभागमतो द्रव्यानुज्ञाद्वितीयभेदः । तृतीयभेदनिरूपणार्थमाह—

१०. से किं तं जाणगसरीर-भविष्यसरीरवतिरित्ता द्रव्याणुण्णा ? जाणगसरीर-भविष्यसरीर- 10 वतिरित्ता द्रव्याणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—लोइया कुप्पावयणिया लोउत्तरिया य ।

१०. से किं तमित्यादि । यत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीरयोः सम्बन्धि पूर्वोक्तं लक्षणं न घटने तत्र आभ्यां व्यतिरिक्ता—भिन्ना द्रव्यानुज्ञोच्यते । सा च त्रिविधा प्रज्ञता, तद्यथा—लौकिकी कुप्रावचनिकी लोकोत्तरिकी च ॥ तत्र प्रथमभेदं जिज्ञानुराह—

११. से किं तं लोइया० द्रव्याणुण्णा ? लोइया० द्रव्याणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा— 15 सचित्ता अचित्ता मीसिया ।

१२. से किं तं सचित्ता० ? सचित्ता० से जहागामए राया इ वा जुवराया इ वा ईसरे इ 15 वा तलवरे इ वा कोहुंविण इ वा माडंविण इ वा इव्मे इ वा सेट्टी इ वा सत्यवाहे इ वा सेणावई इ वा कस्सइ कम्मिह कारणे तुट्टे समाणे आसं वा हत्थि वा उट्टं वा गोणं वा खरं वा घोडयं वा एलयं वा अयं वा दासं वा दासिं वा अणुजाणेज्जा । से त्तं सचित्ता० ।

११-१२. से किं तमित्यादि सुगमम् । नवरं 'राजा' चक्रवर्ती वामुदेवो वन्देवो महामाण्डलिकश्च । 'ईश्वरः' सुवराजः राज्ञो द्वितीयस्थानवर्ती सामान्यमाण्डलिकोऽभाव्यश्च । अन्ये तु व्याचक्षते—जगिमाण्डलियैर्धर्मयुक्त ईश्वरः । परिगुणनगनि- 20 प्रदत्तरत्नालङ्कृतसौवर्णपट्टविभूषितशिरास्तलवरे । यस्य पार्श्वेन जामकमपरं गान-नगगदिक्कं नागिन त्त् सर्वनगिज्जे वनाथय- विशेषरूपं महम्ममुच्यते, तस्याऽधिपतिर्माण्डलिकः । कनिपयकुट्टपप्रभुः पौट्टुमिकः । इत-हरणी नप्रमाणं द्रव्यमर्थातीनीया, यस्य सत्कपुञ्जीवतहिरण्य-रत्नादिद्रव्येणान्तर्गितो हस्यपि न हस्यते मीऽपरित्तमयो वा इ-य इ-ययोः । अतिवनापामिनमौगण- पट्टविभूषितोत्तमाद्गः पुरव्येष्ठो वणिग्विशेषः श्रेष्ठी । हस्यध-स्य-दमादिसुगमम-पण्णत्ताः सेनायाः प्रभुः सेनापतिः ।

"गणिमं धरिमं मेज्जे पारिच्छं चैव दग्गजायं तु । वेत्तुणं एवमयी वसति लो अज्जेसं नु ॥ १ ॥ 25

निवहलुमओ पसिओ दीगा-ऽणाहाण वत्तलो पदे । तो सधवत्तमं धत्तो व्व सोए म्मु यदइ ॥ २ ॥"

एतद्व्यययुक्तः सार्थदाहः । एतद्व्ययतरः कश्चिद् राजादिः कश्चिद् वरिष्ठो दृष्टव्येयुः सुगममण्डलिकः पारिच्छेणायु- जानीयात् सेयं सचित्तानुज्ञा ॥

१३. से किं तं अचित्ता० ? अचित्ता० से जहागामए राया नि वा जुवराया इ वा ईसरे 20 इ वा तलवरे इ वा कोहुंविण इ वा माडंविण इ वा इव्मे इ वा सत्यवाहे इ वा सेट्टी इ वा सेणावई

१ वा माडंविण २ वा कोहुंविण ३ वा इव्मे ४ वा सत्यवाहे ५ वा सेट्टी ६ वा सेणावई ७ वा कस्सइ ८ वा कम्मिह ९ वा कारणे १० वा तुट्टे ११ वा समाणे १२ वा आसं १३ वा हत्थि १४ वा उट्टं १५ वा गोणं १६ वा खरं १७ वा घोडयं १८ वा एलयं १९ वा अयं २० वा दासं २१ वा दासिं २२ वा अणुजाणेज्जा । से त्तं सचित्ता० ।

२४. से किं तं कालाणुष्णा ? कालाणुष्णा जो णं जस्य कालं अणुजायति, जन्मिं वा कालं, जस्मि वा काले अणुजाणइ, तं—जीवं वा पद्मपण्णां वा अण्णागणं वा चर्मं वा हेमंतं वा पाउसं वा अवत्याणहेडं । से तं कालाणुष्णा ५ ।

२४. कालानुज्ञायां यो राजादिर्यस्य तुष्टः सन् कालमनुजानीते सर्वकालं भ्रातृभ्यनि तथा यावजीवमपि मम न दातव्यमिदं करादीति जत्तियं वा कालं ति यथा दुर्लभमांसयवित्ते परिमितकालशामभयकुमारमणियाणितेन श्रेणिकेन नियतदिनरूपकालानुज्ञा राज्यं प्रत्यभयकुमाराय कृता । यस्मिन् वा कालेऽनुज्ञा वर्धते सेयं कालानुज्ञा ५ ॥

२५. से किं तं भावाणुष्णा ? भावाणुष्णा तिचिदा पण्णात्ता, तं जहा—लोइया कुप्पावयणिया लोयुत्तरिया ।

२६. से किं तं लोइया भावाणुष्णा ? २ से जहानामए राया इ वा जुवराया इ वा जाव तुहे समाणे कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्जा । से तं लोइया भावाणुष्णा ।

२७. से किं तं कुप्पावयणिया भावाणुष्णा ? २ से जहानामए केइ आयरिए इ वा जाव कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्जा । से तं कुप्पावयणिया भावाणुष्णा ।

२८. से किं तं लोयुत्तरिया भावाणुष्णा ? २ से जहानामए आयरिए इ वा जाव कम्मि कारणे तुहे समाणे कालोचियनाणाइगुणजोगिणो विणीयस्स खमाइपहाणस्स सुसीलस्स सिस्सस्स तिचि-
१५ हेणं तिगरणविसुद्धेणं भावेणं आयारं वा सूर्यगडं वा ठाणं वा समवायं वा विवाहपण्णात्तिं वा नायाधम्मकहं वा उवासगदसाओ वा अंतगडदसाओ वा अणुत्तरोववाइयदसाओ वा पण्हावागरणं वा विवागसुयं वा दिट्ठिवायं वा सब्बदब्ब-गुण-पज्जवेहिं सब्बाणुओगं वा अणुजाणिज्जा । से तं लोयुत्तरिया भावाणुष्णा । से तं भावाणुष्णा ६ ।

२५-२८. भावानुज्ञा क्षायोपशमिकभाववर्त्याचारादिश्रुतानुज्ञाविषया । ततश्च य आचार्यादिर्यस्य शिष्यस्य तुष्टः सन् 'भावेन' कर्मनिर्जराभिप्रायेण मनो-वाक्कायैः करण-कारणा-ऽनुमतिभिः शुद्धेन न वैहलौकिकबलादिलिप्सया आचारादिकं यावद दृष्टिवादं वा 'अनुजानाति द्रव्य-गुण-पर्यवैः' मुक्कलयति व्याख्यानाय अन्येषामध्यापनाय च सेयं भावानुज्ञा ६ ॥

सम्प्रत्यनुज्ञाया यतः प्रवृत्तिरस्यामवसर्पिण्यां प्रथमं जाता तदभिधिसुः प्रश्नानि तावदाह—

२९. किमणुष्ण ? कस्सऽणुष्णा ? केचित्तिकालं पवत्तियाऽणुष्णा ? ।

आदिकर पुरिमताले पवत्तिया उअभसेणस्स ॥ १ ॥

२९. किमणुष्णं गाहा । किमनुज्ञाख्यं वस्तुच्यते ? तच्च पड्विवधत्वेन वर्णितमेव । कस्यानुज्ञा क्रियते ? यो हि गाम्भीर्य-
२५ धैर्य-क्षमादिगुणान्वितो भवति तस्येयं भवति । कियति च काले प्रवर्त्तिताऽनुज्ञा ? अवसर्पिण्यां तृतीयारकपर्यन्ते । केन प्रवर्त्तिता ? क ? कस्य ? इत्याह—आदीत्यादि उत्पन्नज्ञानेनाऽऽदित्तीर्थकरेण भगवता 'उअभसेनस्य' पुण्डरीकस्य पुरिमतालनगरे 'अनुज्ञा प्रवर्त्तिता' अनुज्ञा कृता द्वादशाङ्गविषया शिष्यविषया ॥ १ ॥ इदानीमनुज्ञाया एकार्थाभिधायि गाथाद्वयमाह—

३०. अणुष्णा १ उण्णमणी २ णमणी ३ णामणी ४ ठवणा ५ पभवो ६ पभावणं ७ पयारो ८ ।

३० तँडुभय ९ हिय १० मज्जाया ११ णाओ १२ मग्गो १३ य कप्पो १४ य ॥ १ ॥

१ चियाहं ल० ॥ २ वा इति ख० मुद्धिते च नास्ति ॥ ३ तँडुभयहिय ९ मज्जाया १० णायो ११ मग्गो १२ य कप्पो १३ य ॥ १ ॥ संगह १४ संवर १५ णिज्जर १६ ठित्ठिकरणं १७ चेव जीववुद्धि १८ पर्यं १९ । पदपवरं २० चेव तदा जे० ल० मुद्धिते च ॥

संगह १५ संवर १६ णिज्जर १७ ठिङ्करणं १८ चैव जीवबुद्धिद्वयं १९ ।
पदप्रवरं २० चैव तथा, वीसमणुण्णाणं णामाहं ॥ २ ॥

अणुण्णानंदी समत्ता ॥

३०. अणुणा० गाहा । [संगह० गाहा ।] आद्यगाथायां चतुर्दशानुज्ञाभिधानानि, द्वितीयायां षट्, सर्वाणि २० ।
तद्यथा—अनुज्ञा १ उन्नमनी २ नमनी ३ नामनी ४ स्थापना ५ प्रभवः ६ प्रभावना ७ प्रचारः ८ तदुभयं ९ हितं १० मर्यादा ११
न्यायः १२ मार्गश्च १३ कल्पश्च १४ संग्रहः १५ संवरः १६ निर्जरा १७ स्थितिकरणं १८ जीतवृद्धिपदं १९ पदप्रवरं २० इति
विंशतिः । एतेषां च पदानामर्थः सम्प्रदायाभावान्नोच्यते ॥ १-२ ॥

॥ इति समाप्ता श्रीशीलभद्र-प्रभुश्रीधनेश्वरसूरिशिष्यश्री-श्रीचन्द्रसूरिविरचिता नन्दिटीकाया दुर्गपदव्याख्या ॥

[व्याख्याकारप्रशस्तिः—]

स्वं कष्टेऽतिनिधाय कष्टमधिकं मा मेऽन्यदा जायतां, व्याख्यानेऽस्य तथाविधे सुमनसामल्पधुतानाममुम् (!नामपि) । 10
इत्यालोचयता तथापि किमपि प्रोक्तं मया तत्र च, दुर्व्याख्यानविशोधनं विदधतु प्राज्ञाः परार्थोच्यताः ॥ १ ॥

दुःसम्प्रदायादसद्वहनाद्वा, प्रकाशितं यद् वितथं मयेह ।

तद् धीधनैर्मानुक्कल्पयद्भिः, शौच्यं मतार्थक्षतिरस्तु मैवम् ॥ २ ॥

॥ ग्रन्थाग्रम् ३३०० ॥

जोगणंदी

नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा—आभिणिचोहियनाणं १ सुयनाणं २ ओद्धिनाणं ३ मणपज्जव-
नाणं ४ केवलनाणं ५ । तत्थ णं चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं नो उद्धिस्सिज्जंति नो समुद्धि-
5 सिज्जंति नो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स पुण उद्देशो १ समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ य
पवत्तइ ।

जइ सुयनाणस्स उद्देशो १ समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ किं अंगपविट्ठस्स
उद्देशो १ समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ ? किं अंगवाहिरस्स उद्देशो १ समुद्देशो २
अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ ? गो० ! अंगपविट्ठस्स वि उद्देशो १ समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणु-
10 ओगो ४ पवत्तइ, अंगवाहिरस्स वि उद्देशो १ समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ, इमं
पुण पट्टवणं पडुच्च अंगवाहिरस्स उद्देशो० ४ ।

जइ पुण अंगवाहिरस्स उद्देशो जाव अणुओगो पवत्तइ किं कालियस्स उद्देशो० ४?, किं उक्का-
लियस्स उद्देशो० ४? गो० ! कालियस्स वि उद्देशो० ४ उक्कालियस्स वि उद्देशो० ४, इमं पुण पट्टवणं
पडुच्च उक्कालियस्स उद्देशो० ४ ।

15 जइ उक्कालियस्स उद्देशो० ४ किं आवस्सगस्स उद्देशो समुद्देशो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ
आवस्सगवहरित्तस्स० ४? गो० ! आवस्सगस्स वि उद्देशो० ४ आवस्सगवहरित्तस्स वि उद्देशो० ४ ।

जइ आवस्सगस्स उद्देशो किं सामाहयस्स १ चउवीसत्थयस्स २ वंदणस्स ३ पडिक्कमणस्स ४
काउस्सगस्स ५ पच्चक्खाणस्स ६ ? सव्वेसिं एतेसिं उद्देशो १ समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४
य पवत्तइ ।

20 जइ आवस्सगवहरित्तस्स उद्देशो० ४ किं कालियसुयस्स उद्देशो० ४ उक्कालियसुयस्स उद्देशो०
४ ? कालियस्स वि उद्देशो० ४, उक्कालियस्स वि उद्देशो० ४ ।

जइ उक्कालियस्स उद्देशो० ४ किं दसकालियस्स १ कप्पियाकप्पियस्स २ चुल्लकप्पसुयस्स ३
महाकप्पसुयस्स ४ उववाहयसुयस्स ५ रायपसेणीयसुयस्स ६ जीवाभिगमस्स ७ पण्णवणाए ८ महा-
पण्णवणाए ९ पमायप्पमायस्स १० नंदीए ११ अणुओगदाराणं १२ देविंदथयस्स १३ तंदुलवेयालि-
25 यस्स १४ चंदाविज्झयस्स १५ सूरपण्णत्तीए १६ पोरिसिमंडलस्स १७ मंडलप्पवेसस्स १८ विज्जा-
चरणविणिच्छियस्स १९ गणिविज्जाए २० संलेहणासुयस्स २१ विहारकप्पस्स २२ वीयरगसुयस्स
२३ झाणविभत्तीए २४ मरणविभत्तीए २५ मरणविसोहीए २६ आयविभत्तीए २७ आयविसोहीए
२८ चरणविसोहीए २९ आउरपच्चक्खाणस्स ३० महापच्चक्खाणस्स ३१ ? सव्वेसिं एएसिं उद्देशो १
समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ ।

30 जइ कालियस्स उद्देशो जाव अणुओगो पवत्तइ किं उत्तरज्झयणाणं १ दसाणं २ कप्पस्स ३
ववहारस्स ४ निसीहस्स ५ महानिसीहस्स ६ इसिभासियाणं ७ जंबुद्दीवपण्णत्तीए ८ चंदपण्णत्तीए

१ दीवपण्णत्तीए १० सागरपण्णत्तीए ११ खुड्डियाविमाणपविभत्तीए १२ महल्लियाविमाण-
पविभत्तीए १३ अंगचूलियाए १४ वग्गचूलियाए १५ विवाहचूलियाए १६ अरुणोववायस्स १७
चरुणोववायस्स १८ गरुलौववायस्स १९ धरणोववायस्स २० वेसमणोववायस्स २१ वेलंधरोववा-
यस्स २२ देविंदोववायस्स २३ उट्टाणसुयस्स २४ समुट्टाणसुयस्स २५ नागपरियाचणियाणं २६
निरयाचलियाणं २७ कप्पियाणं २८ कप्पवड्डिसियाणं २९ पुप्फियाणं ३० पुप्फचूलियाणं ३१ [वण्हि-
याणं ३२] वण्हिदसाणं ३३ आसीविसभावणाणं ३४ दिट्ठिविसभावणाणं ३५ चारणभा० ३६ सुमि-
णभा० ३७ महासुमिणभा० ३८ तेयग्गिनिसग्गाणं ३९ ? सन्वेसिं पि ण्णसिं उद्देशो जाव
अणुओगो ४ पवत्तइ ।

जइ अंगपविद्वस्स उद्देशो जाव अणुओगो पवत्तइ किं आचारस्स १ मूयगडस्स २ टाणस्स ३
समवायस्स ४ विवाहपण्णत्तीए ५ नाथाधम्मकहाणं ६ उवासगदसाणं ७ अंतगडदसाणं ८ अणु- 10
त्तरोववाइयदसाणं ९ पण्हावागरणाणं १० विवागसुयस्स ११ दिट्ठिवायस्स १२ ? सन्वेसिं ण्णसिं
उद्देशो १ समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ, इमं पुण पट्टवणं पट्टव इमस्स साहुस्स इमाण
साहुणीए उद्देशो १ समुद्देशो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ खमासमणाणं हत्येणं सुत्तेणं
अत्येणं तट्टभएणं उद्देशामि समुद्देशामि अणुजाणामि ॥

॥ जोगणंदी समत्ता ॥

आचार्यश्रीचिमलसूरिशिष्यश्री-नन्दकीर्तिशूरिविरचिनं

याकिनीमहत्तराधर्मसुश्रीहरिगदसूरिपणीतायाः

नन्दिसूत्रवृत्तेः विषमपदटिप्पणकम् ॥



5

ॐ नमो जिनाय ॥

[पृष्ठ १]

पं. २. जयतीति जेतव्यजयेन विजयते ।

पं. ९. ऐकान्तिक इति नैशयिकः । आत्यन्तिक इति अन्यवच्छेदपरः ।

पं. १२. प्राय इति मापतुषादिभिर्व्यभिचारो मा भूदिति प्रायोगहणम् ।

[पृष्ठ २]

10 पं. ३. यस्येति इत्थ अथ यं तस्य ।

पं. ४. नन्दन्त्यनयेति समृद्धिमाप्नुवन्ति ।

पं. १७. आगततो

भावनन्दी(न्दिः), आगतत इति गमनं गमः—परिच्छेदः, आ—सामस्त्वेन गम आगमः तस्माद् आगततः ।

[पृष्ठ ३]

पं. १३. न अजावेयव्वा बुद्ध्या, न परिघेत्तव्वा सद्यङ्गने, न परितावेयव्वा क्मः, न उदवेयव्वा विनाशः
समेच्च विज्ञाय, खेयघ्नेहिं खेदज्ञैः । पं. २४. इङ्गनेति संज्ञा ।

15

[पृष्ठ ७]

पं. २४. वेदिका-जलान्तररमणलक्षणा, वेदिका-जलयोरन्तरे यद् रमणं तल्लक्षणा जलवृद्धिलक्षणा वा वेदिका पर्यवसानं
मर्यादा वा वेलेति ।

[पृष्ठ ८]

पं. २१. उज्ज्वलानि सप्रकाशानि । चित्यते—संज्ञायते ।

20

[पृष्ठ ९]

पं. ११. समवायाः साधुवृन्दानि ।

पं. १३. संवरः अम्भसां प्रसवः ।

पं. १४. उज्जरमिति निर्झरणम् ।

पं. १७. कुहराणि पर्वतदेशाः ।

[पृष्ठ ११]

पं. २६. गो. २७. पेयाला विचाराः ।

[पृष्ठ १२]

25

पं. ९. बोधानां श्रद्धानाम् । चरणपरिग्रहः गुणशब्देन वा ।

[पृष्ठ १३]

पं. १४. फिडियाणं निर्गतानाम् ।

पं. १८. संधरे सन्धृतः—जीवितः ।

[पृष्ठ १६]

पं. १२. उल्लेखण आर्द्रोर्कु—जलेन भेत्तुमिति ।

पं. १३. रविउ चि द्रवित [इति] । उल्लो मि न च त्ति

30 आर्द्रोऽस्म्यहं न वेति ।

पं. १९. इमो गमो इति प्रकारः । छिड्ड इति बुद्धे, भिन्न इति कण्ठे, खंड इति कण्ठैकदेशे ।

पं. २२. तावसरखउर इति तापसानां भोजनादिनिमित्तं उपकरणविशेषः खउरकठिनकमुच्यते, वंशीपत्रमयं पुटकमिति
लक्ष्यते । परिपूणग इति सुधरीरचितो नीडविशेषः । पं. २४. कूचिया चरेडिकाः । पं. २६. सुडिओ

सङ्कुचिताङ्गः । पं. २९. जियमिति परिचितम् ।

[पृष्ठ १७]

पं. ४. पुयजुञ्जमिति अधिष्टानिकासुदघाट्य पुताभ्यां पराङ्मुखीभूय । पं. ८. विचामेलियमिति व्यत्यात्रेडितः ।

[पृष्ठ १८]

पं. ३. तदेवेति ज्ञानमात्मानं जानाति । ननु कथमेक एव कर्ता कर्म वा ? इति भेदादिति । पं. १०. कुञ्चारख्या० विध इत्यकारान्तोऽयमित्यस्य । पं. १९. तन्मयं अभिनिवोयस्य विकारः मनस्त्वेन परिणमिताः [? पुद्गलाः] । 5

[पृष्ठ १९]

पं. १६. आदेश[त] इति, आदेशः-प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च, सामान्यतो द्रव्यजातिं जानीते, विशेषतो घर्मास्तिकायस्तस्य च देश इत्यादिविभागं जानीते । पं. १८. त्रिशिष्ट इति त्रिशिष्ट एव कश्चिद् मतिविशेष एव श्रुतम् । पं. ३०. सामान्येन इति मनोवर्गगाविशेषतो विशेषो यस्याः ।

[पृष्ठ २०]

पं. १०. अपर इति न परम्-अक्षादि निमित्तं यस्य, द्रव्यं मनश्चेत्यव्याहारः, कृतः(अतः) परत्वमनयोः ।

[पृष्ठ २३]

पं. १५. अपवरकादिशालान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्थानानीव अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यानि अवधिज्ञाननिर्गम-स्थानानीह फट्टकानि उच्यन्ते ।

[पृष्ठ २६]

पं. २७. नान्य इति किं त्रिसमयाहारकोऽत्र गृह्यते ? अत्रोत्तरम् ।

[पृष्ठ २८]

पं. २४. द्रव्यं भाज्यमिति अवरिथितेऽपि हि द्रव्ये तथाविधक्षयोपशमवृद्धौ पर्याया वर्धन्त एव । पं. २५. अक्रमवर्तिनामिति एककालवर्तिनां रूपादीनाम् । ननु यदि द्रव्यवृद्धौ वर्धन्ते ततः पर्यायाणां क्रमवर्तिवान् कालवृद्धिः कथं न भवति ? उच्यते-कालवृद्धीत्यादि ।

[पृष्ठ ३३]

पं. ७. उत्पत्तिस्वामीति उत्पत्तेः स्वामी तस्य मानांगा प्राप्नुवत् । पं. १४. अजाडमेगीति अनभिजायी ।

[पृष्ठ ३४]

पं. २४. घटोऽनेन चिन्तित इत्यादिना दर्शितरूपः ।

[पृष्ठ ३५]

पं. १७. मन्तार इति चिन्तकाः मन्येरन् चिन्तयेतुः । पं. १८. निष्ठावृत्तमिति एतदीयदृष्टौ न निजं किलोक्तम् । तत्र चेति चतुर्विधदर्शने । पं. २८. संवृष्ट (द्रो) इति मण्डोपगमः ।

[पृष्ठ ३६]

पं. १३. तदाद्युष्क इति आगामिभवः । पं. १६. तद्वत्त्वाद् इति तद्वत्त्वात्तत्ता एवार्थोऽस्मादवयवम् ।

पं. २५. वध्यमान इति तारतम्येन ।

[पृष्ठ ३७]

पं. २८. [? सयोगीति] सह योगेनेति-जादव्यमपेक्षम् ।

[पृष्ठ ३९]

पं. १९. नोतित्थसिद्धा इति प्रत्येकदुःखसिद्धाः । पं. १५. त्रिशिष्टवर्तिमिद्धा इति त्रिशिष्टवर्तिनां नोतित्थसिद्धा इति सामान्यवेदान्तिपुरपाः । पं. १८. न [त] नदुःख इति तद्वत्त्वात् ।

10

15

20

25

30

35

[पृष्ठ ४१]

पं. २. मिथ्यावरण इति ज्ञानावरणादिको विहितः स मिथ्या चिन्मय एतन्नोति. समयाः न केवलज्ञान-वस्तुपरयोगयोः पुनरप्यभावात् ।

[पृष्ठ ४३]

5 पं. १५. सूत्रक्रमोद्देश[त] इति नन्द्यादिमूत्रे स्वमेवोपपन्नम् । पं. १९. भेदोपनार इति केवलज्ञानभेदेऽपि व्यभिचार इति, न केवलमुभयपदव्यभिचारं यथा नीलोत्पलम् । पं. २६. शयस्येति समस्त्वावरणभयसम्भवात् ।

[पृष्ठ ४४]

पं. ६. निवन्धनत्वादिति वाक्परिरपन्दस्य ।

[पृष्ठ ४५]

10 पं. १६. नाणाणऽन्नाणाणि य समकालादमित्यादि, न त्वययोगो इति समकालः । पं. १९. कञ्जतया निषेध इति । पं. २१. भेदा(द)भेदादिति भेदानां भेदः । पं. २३. सोऽद्विद्य इति भावश्रुतग्रन्थः । अन्वयरत्नम् इति यथा गन्धं गृहीत्वा सुरभिःक्षरग्रहणम् । सेसेमु इति इन्द्रियेषु । पं. २६. आवरण० इति मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरण० ।

[पृष्ठ ४६]

पं. ६. सदसतोरविशेषादिति स्यात्पदवैधुर्यात् । पं. ७. द्रव्यत्वेन मिन्द्रिन्द्रिस्स इति सर्वो बोधोऽज्ञानम् ।

15 पं. ९. देवादिधर्ममिति देवतत्त्वम् । पं. १९. औत्पत्तिक्यादि इति प्रातिभमिति हृदयम् ।

[पृष्ठ ४९]

पं. १४. अविच्युति-स्मृति-वासनारूपा [?] । पं. २८. न पश्यतीति चक्षुः कर्तृ । नालम्बत इति मनः कर्तृ ।

[पृष्ठ ५०]

पं. १६. श्रूयतेऽनेनेति अत्र व्युत्पत्तिर्नाद्रियते किन्तु अर्थमात्रम् ।

20 पं. १३. अपाय इति सामस्त्येन परिच्छेदः ।

[पृष्ठ ५४]

पं. ६. द्रव्यं व्यञ्जनमिति द्रव्यादिविषयपरिणतपुद्गलसमूहरूपम् । पं. ७. स्वविषयव्यक्ताविति ग्राहकज्ञानजनने ।

पं. ९. तमर्थमिति व्यञ्जनार्थम्, इन्द्रिय-मनोव्यापारेणालम्बते इत्यर्थः । पं. १०. कल्पनारहितमिति एतच्च "ताहे

25 हुं ति करेति" [सूत्र. ५८. पत्र. ५३ पं. १५] इत्यस्य व्याख्यानम् । पं. १४. अथवा यदुक्तं इत्यादिकपातनिका-

द्वयस्य व्याख्या । पं. १७. अव्यक्तमिति शब्दोऽयं रूपादिर्वा इत्यादिप्रकारेण वक्तव्यम् । स्वरूप(पं) नामादीति आदि-

शब्दाद् जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यग्रहः । पं. १८. तस्य चेति अर्थावग्रहस्य । पं. २३. नैतदेवमिति सूरिराह ।

पं. २५. शब्दबुद्ध्या इति शब्दोऽयमित्यव्यवसायेन । तस्यैवेति अर्थावग्रहं विनैव शब्दमात्रस्यैव । पं. २८. जइ

एवमिति पर आह । जं इति यन्नन्द्याध्ययनप्रोक्तं तेन इत्यादि ।

30 [पृष्ठ ५५]

पं. १५. अन्यत्रापीति स्वप्नादन्यत्र सान्धकारापवरकादौ ।

[पृष्ठ ५६]

पं. १. पंचोदइयाइया इति औदयिकौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकाः । जं नेयमिति यतो ज्ञेयमेताव-
देव । पं. २. तद्भा(?)वनया इति श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव ।

[पृष्ठ ५८]

- पं. १. स्तोत्रद्रव्यत्वादिति शब्दद्रव्यापेक्षया गन्धादिद्रव्याणि स्तोकानि । विनिश्चिनोति इति प्राणादि इन्द्रियं कर्तृ ।
 पं. ४. तद्योग्य इति भाषायोग्यः । पं. ६. क्षेत्र इति आकाशम् । पं. १२. परायाए(ते) इति
 वासनायां सध्याम् ।

[पृष्ठ ५९]

- पं. २६. यस्तद्वावरणक्षयोपशमो यश्च तज्ज्ञानोपयोगश्च एतौ द्वावपि लब्धयक्षरम् ।

[पृष्ठ ६०]

- पं. १. एवं शेषेन्द्रपि इति घट-कर्पर-कर्करा-हंसतूली[पु] । पं. १५. व्यापार इति उच्चरसिनादिः ।
 पं. २७. कालिवयुपदेश इति संक्षिप्तव्यपदेशः ।

[पृष्ठ ६१]

- पं. २८. न सन्ति लोका इति "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति०" इत्यादि ।

[पृष्ठ ६२]

- पं. २३. भग्ना इति ये भग्नास्ते न निधानगताः । निञ्चुया इति वर्तमानकाले मुक्तिः ।

[पृष्ठ ६४]

- पं. ३. आचारम्मि इति आचारनिर्युक्तौ ।

[पृष्ठ ६५]

- पं. १५. अधिकारवशादिति प्रतिपक्षसम्बन्धवशादिति । पं. २२. अधिकृतमिति सापदिश्वन्तम ।

[पृष्ठ ६६]

- पं. १८. गु(नु)डियाणि नी(त)तादीनि । पं. २०. आदर्शेषु च इति अतस्येष्टम् । पं. २१. अनेगु म
 इति दशतिरिक्तेषु । पुण्यभवदृष्टिया इति मृत्वा पुनश्चुमलवर्णिका न न ।

[पृष्ठ ६७]

- पं. १६. गति-स्थित्यादीत्यत्र अय-क्षेत्र-काल-भाव-भस्वत्वात् ।

[पृष्ठ ६८]

- पं. ९. नज्ञे(तज्ज्ञे)यमिति पदानुसन्ध्यात्परिग्रहम् । पं. १०. अत्रात्तदिति इति पदस्य अत्र इति अत्रात्परिग्रहम् ।
 पं. १०. अक्षरस्येति सर्वपर्यायपरिभाषात्परम् । पं. ११. अक्षरस्येति इति पदस्य अक्षर इति अत्रात्परिग्रहम् ।
 पं. २२. अत एवेति प्रकण्ठात्तदपिनात्तदम् । पं. २३. अत्रात्तदिति इति पदस्य अत्र इति अत्रात्परिग्रहम् ।

[पृष्ठ ६९]

- पं. ३. स्वपर्यायविशेषण इति स्वपर्यायाणां विशेषण इति अत्रात्परिग्रहम् । पं. ४. अत्रात्तदिति इति पदस्य अत्र इति अत्रात्परिग्रहम् ।
 पं. १८. नामिकमिति इति स्वपर्यायपरिभाषात्परम् । पं. २०. अत्रात्तदिति इति पदस्य अत्र इति अत्रात्परिग्रहम् ।
 पं. २७. आनन्दमिति इति स्वपर्यायपरिभाषात्परम् । पं. २८. अत्रात्तदिति इति पदस्य अत्र इति अत्रात्परिग्रहम् ।

[पृष्ठ ७०]

- पं. २०. दिशमिति इति स्वपर्यायपरिभाषात्परम् । पं. २१. अत्रात्तदिति इति पदस्य अत्र इति अत्रात्परिग्रहम् ।

[पृष्ठ ७३]

पं. ४. समाणे इति सन् । पं. ७. अंतर्दिग् इति आकाशस्थ इत्यर्थः । पं. ११. सिंगानाङ्गमिति
सदुकार्यम् । पं. २७. वृष्णिदशा इति अवरथाः ।

[पृष्ठ ७४]

पं. २०. तच्छिष्यभाव इति शासनप्रणेतृतीर्थकरः ।

[पृष्ठ ७५]

पं. १७. इह चेति अथवा आचारगोचरविनयेत्यादौ ।

[पृष्ठ ७६]

पं. ९. प्रतिपत्तय इति मतान्तराणि ।

पं. १४. महापरिन्नोवहाणमुयं इति षडमो मुयनस्तंभः (धो) ।

10 पं. २९. सपंचचूलो इति द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्च चूडाः । पं. ३०. आयारग इति चूलादिकम् ।

[पृष्ठ ७७]

पं. ८. निक्राचिता इति प्रतिष्ठिताः ।
मिति तिरस्कारम् ।

[पृष्ठ ७८]

15 पं. ५. ईश्वरकारिण(कारणिन) इति “अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुख-दुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा
स्वर्गमेव वा ॥१॥” । पं. १०. पूर्ववदिति व्यूहं कृत्वा निवार्य । पं. २६. उत्पत्तेरिति अप्रेतनानां त्रिविकल्पानाम-
सम्भवात् । पं. २७. सत्त्वमिति जीवः सन्, ततः किम् ? इति विकल्पाः कार्याः । पं. ३२. अवमः लघुभ्राता ।

[पृष्ठ ८१]

पं. १९. ते दद्वन्त्रा इति अर्थाधिकारसमूहात्मकान्येवाध्ययनानि दश वर्गां द्रष्टव्याः ।

पं. २४. एवं टिए इति

20 प्रथमश्रुतस्कन्धवक्तव्यतायां भणितायाम् ।

पं. २८. अति(इ)गा इति अतिगच्छन्तीति ।

[पृष्ठ ८४]

पं. १६. साहं(धे)ति इति शुभा-Sशुभम् ।

[पृष्ठ ८५]

पं. १७. इदं प्राय इति प्रायोग्रहणेन प्रथमानुयोगमात्रस्यास्तित्वं तत्काले सूचयति ।

25 [पृष्ठ ८७]

पं. ६. चिंताए वि इति चिन्तायामपि ।

[पृष्ठ ८९]

पं. १६. छंदकिरिया इति छन्दः-शार्दूलादि करोति ।

[पृष्ठ ९०]

30 पं. १५. पउप्पए पच्छोपके । सगरसुयाण इति पर्यन्ते, यतः सगरस्य जितशत्रुः भ्रातृजः ।

॥ इति नन्दीविषमपदपर्यायाः समर्थिताः ॥

प्रथमं परिशिष्टम्

नन्दीसूत्रान्तर्गतानां सूत्रगाथानामकारादिवर्णक्रमेणानुक्रमणिका ।

गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क	गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क	गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क
अक्खर सण्णी सम्मं	१२०	८३	काले चउण्ह सुड्ढी	२४	५१:	पडमेत्थ ईदभूती	४	२०
[आव. नि गा १९]			[आव. नि. गा. २६]	११८	पं २४	परतिविषयगहपड्ढा-	२	१०
अट्टभरहप्पहाणे	६	३८	किमणुण्ण ? कस्सऽणुण्णा ?	१७८	पं १३	उट्ट सुणेति गद्	६०	७९
अणुमाण-हेउ-दिट्ठंत-	४७	६८	[अनुज्ञानन्दौ]			[आव नि गा ५]		
[आव. नि गा ९४८]			केवल्लणोणऽन्धे	४२	५७	पुव्व अट्टिमसुव्वम-	४७	५९
अत्थमहत्थकत्ताणी	६	४१	[आव नि. गा. ७८]			[आव. नि गा ९३९]		
अत्थाणं उग्गहणं	६०	७३;	खमए अमच्चुत्ते	४७	७०	घासन् एमारसमे	१०९	८०
[आव. नि. गा ३]	१५०	पं. ६	[आव. नि. गा. ९५०]			भन्नय करमं करमं	६	२८
अभए सेट्ठि कुमारे	४७	६९	गुणभवणगहण ! सुव-	२	४	भदं पिडवेत्तारि-	२	११
[आव. नि. गा ९४९]			च्चत्तारि दुवाक्ख अट्ट	१०९	८१	भदं नमज्जुत्ते-	१	३
अयलपुरा णिकल्लते	६	३२	चल्लगाहण आमंठे	४७	७१	भदं सौक्खजान्ण-	२	६
अह सव्वदव्वपरिणाम-	४२	५६	[आव. नि. गा. ९५१]			भरत्तिपरत्ताममग्ग	५७	६३
[आव नि. गा. ७७]			जण्णजयावत्तम-	६	३९	[आव नि. गा. ९५३]		
अंगुलमावलियाणं	२४	४७	जयठ जगजीवजोणी-	१	३	भरत्तमि अट्टमाणी	२५	५९
[आव. नि गा ३२]			जयठ सुवाणं पमवो	१	२	[आव. नि गा ३७]		
आगमअत्थग्गहणं	१२०	८४	जसभदं सुगिय वटे	६	२०	भरत्तमि वत्थि मग्गे	४१	६०
[आव नि. गा २१]			जावणिया निम्मग्ग-	२४	२५	[आव. नि गा ९४०]		
ईहा अपोह वामंसा	६०	७७;	[आव नि गा ३०]			अट्टमिणि म्मि सुव्व	५५	६१
[आव नि. गा. १२]	१५२	पं. ४	जीवदय्यामंवरमं-	२	१२	[आव नि गा ९५१]	१३३	५. १०
उग्गह ईहाऽवाओ	६०	७२;	जे अण्णे अगल्ले	६	१३	अग्गमग्गं जेअग्ग	११५	२५
[आव नि गा. २]	१४९	पं. २८	जेअग्गे अग्गमग्गे	१	२३	अग्गमग्गं जेअग्ग	६०	१६
उग्गते एग्गं समय	६०	७४	णग्गमि अग्गमग्गे	६	१०	[आव नि गा ३]	१११	५. ११
[आव नि गा ४]			णग्गवत्तमग्गमग्गे	१	१५	अग्गमग्गं जेअग्ग	२	१३
उत्पत्तिया धेणट्ठया	४७	५८	पिमिणे अग्गमग्गे	४७	५१	अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
[आव. नि. गा ९३८]			[आव. नि. गा. ९५१]			अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
उवओगदिट्ठसारा	४७	६६	णिकसूत्तिसदग्गमग्गे	२	१५	अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
[आव. नि गा. ९४६]			तेअग्गमग्गे	२५	२१	अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
उवसिदं पीसमिदं	६९	७८	[आव नि गा. ३३]			अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
[आव नि गा. २०]			तेअग्गमग्गे	२५	२१	अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
एलाव्वमग्गे	६	२५	सग्गे विअग्गमग्गे	२	२५	अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
ओही अग्गमग्गे	२९	५३	सग्गे विअग्गमग्गे	२	२५	अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
एअग्गं अग्गमग्गे	२	७	सग्गे विअग्गमग्गे	२	२५	अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४
एअग्गं अग्गमग्गे	२	७	सग्गे विअग्गमग्गे	२	२५	अग्गमग्गं जेअग्ग	१३	२४

गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क	गाथा	सूत्राङ्क	सूत्राङ्क	गाथा	सूत्राङ्क	गाथा
विणयणयपधरमुणिवर-	२	१६	संवरवरपधरवर्णि-	२	१५	संवरवर्णि पधरवर्णि-	३	१३
विमलमणंतद् धम्मं	३	१९	मानवजनमनुधरवर्णि-	२	८	मानवजनमनुधरवर्णि-	३	१२
सम्महंसणवइरदड-	२	१२	सीया सापी सीहं व	५०	५५	[आव नि गा. १११]		
सव्ववहुअगणिजीवा	२४	४६	[आव नि गा. १५५]			से-एण ए-एण ए-एण	५	४४
[आव नि. गा. ३१]			सुसुमात्तौमल्लणे	६	५२	[आव नि. गा. १३६]		
संसेज्जम्मि उ काळे	२४	५०	सुसुथो सव्व पणो	१२०	८७	सुसुथो सव्व पणो	२५	५८
[आव नि. गा. २५]			[आव नि गा. २४]			[आव नि. गा. ३३]		
संगह१५ संवर१६ गिज्जर१७ १७९		पं. १	सुसुणियणिनाणिं	६	५०	सुसुणियणिनाणिं	६	२६
[अनुज्ञानन्दौ]			सुसुण्ड पठिपुनळड	१२०	८५	सुसुण्ड पठिपुनळड	४७	६७
संजमतवतुंवारय-	२	५	[आव नि गा. २२]			[आव नि. गा. १४७]		

द्वितीयं परिशिष्टम्

नन्दीहारिभद्रीवृत्ति-तद्गुणपदव्याख्या-लघुनन्दिवृत्त्यन्तर्गतानामुद्धरणाना-
मकारादिवर्णक्रमेणानुक्रमणिका ।

उद्धरणानि	पत्र-पङ्क्ति	उद्धरणानि	पत्र-पङ्क्ति	उद्धरणानि	पत्र-पङ्क्ति
अटणत्तरि चटवीसा	९१-२	अन्ने ण चेत्र वीसुं	४०-१७	आइच्चज्जाइ छिवे	१६९-द्विपत्ती
अटणत्तीसं वारे	९१-५	[विशेषणवती गा १५४]		आइच्चज्जाइण	९०-१५
अकृत्तरि च	११२-१३	अन्ने मन्नेति मई	१२७-१९	आगेनुवाघिनोमे	१७७-६; १०८-२३
अक्खरल्लमेण सत्ता	१६९-१६	[विशेषा गा. १५४]		[विमो. गा. १४७९, कल्पभा गा. ३५९]	
[विशेषा गा. १४३]		अन्यथाऽनुपपन्नं	४८-३२	आचावेस्सेव तज्जाडवे	१०३-१५
अधित्ता खलु जोणी	१००-७	[न्यायविनिश्चय का ३२३]		आजापदने मद्धमाः	७१-१२
[जिन संग्र. गा. ३५९, जीवस. गा ४६]		अपुत्रस्य गतिर्नास्ति	१८५-११	आतथोपसर्गे	१८-६
अजायतथाप्	१८-७	अप्रशान्तमनौ छाछ-	१०२-२०	[पा. ३.१.३६]	
[पा. ४.१.४]		अचभंतरावही नाम जन्थ	१२०-५	आतो लोप टटि च	१५-१४; १८-६
अज्ञः सुखमाराध्यः	१११-१	[आवश्यक्चू. विभाग १ पत्र ६२]		[पा. ६.२.६७]	
[भर्तृहरिचरिताती १२]		अज्ञाआदिभ्यः	३४-९	आदेमी नि पनागे ५५-२८;	१५९-३
अज्ञो जन्तुरनीयाः स्या-	१६४-१८	[पा. ५. २. १२७]		[विमो. गा ४०३]	
अष्टेगमट्टिमाणा	१६२-११	अवि गोपयामि वि पिए १६-२६; १०६-२८		आदेमी नि २ सत्ता ५६-२; १४९-१९	
अणिनुहियवलविरिओ	७६-२	[विशेषा. गा. १४६९, कल्पभा गा. ३६९]		[विमो. गा. ४०३]	
अणो दोज्जिट्टि कळं	१६-३०; १०७-२४	अव्यक्तमणिहेमं	५४-२८; १४९-२९	आगे मटे मिति	१६-८
[विशेषा गा. १४७३, कल्पभा गा. ३५३]		[विशेषा गा २५२]		[नि. भा. गा. ६२४३]	
अथ एनि ठनी	६९-२०	अथ भोजने	२०-०	आदरेण सत्ता म य १६-१५; १०३-१०	
[पा. ५. २. ११५]		[पा. धाट्ट १५२४]		[विमो. गा १००९, कल्पभा गा. ३३९]	
अतिसं १ ट्टिट्टि २ आयरिय ३	७५-२५	अथ न्यायो	३०-८	आजापदने मद्धमाः	७४-१
[निरीधमा गा ३३]		[पा. धाट्ट १२६५]		[विमो. गा. १००९]	
अतीतानागतान् भावान्	६३-२७	अतोवृत्तः सत्पुण्यदि-	४-३१ ६३-९	आजापदने मद्धमाः	७४-१
अर्थं भागत अरत्ता	१८-१२	अमेयेयाण समयाण सत्पु-	५-५३	आजापदने मद्धमाः	७४-१
[जाव नि. गा १२]		[अट्टो म ५३५]		[विमो. गा. १००९]	
अथशब्दः प्रक्षिया-प्रभा-	४३-१६	आयागेव हि भागी	२१-९	आजापदने मद्धमाः	७४-१
अनपयस्सय न सन्ति लोपताः	६९-२८	आ ण नि सत्ता म य १६-१५; १०३-१०		आजापदने मद्धमाः	७४-१
अनपयसमूहोदरता	५२-२९	[विशेषणवती गा. १५४]		आजापदने मद्धमाः	७४-१
[प्रया. भा १७५]		आ ट्टेयणा-उदरता	४३-२५	आजापदने मद्धमाः	७४-१
अनादिमासागमाः	५२-२६	[विशेषणवती गा. १५४]		आजापदने मद्धमाः	७४-१
अनुपयोगो इत्यम्	२-८	आट्टोदरसमयं	१००-२५	आजापदने मद्धमाः	७४-१
[अनुयोग म ६३]		आदिमासागमाणां	१००-२५	आजापदने मद्धमाः	७४-१
अने अजापदने मद्धमाः	७४-१	अने अजापदने मद्धमाः	७४-१	आजापदने मद्धमाः	७४-१
[विशेषा गा १६३]		आजापदने मद्धमाः	७४-१	आजापदने मद्धमाः	७४-१

उद्धरणानि	पत्र-परिच्छेद	उद्धरणानि	पत्र-परिच्छेद	उद्धरणानि	पत्र-परिच्छेद
हराऽऽदी-विशेषणत्वं [विशेषणवती गा. १९४]	४०-२९	ए होइ अयारंते मिश्रयस्य समग्रस्य ओसत्पिणीए एमो कज्जतया, ण तु कमसो [विशेषण. गा. ११०]	२८-१९ ३-२७; ६३-८ ६७-५ ४५-१९; १३०-४	केवलमेव गतं [विशेषण. गा. ८५] को आउरस्य तालो [विशेषणभाष्य गा. १०] कोमुडया १ गंगाभिय २ १७-३; १०८-१५ [विशेषण. गा. १४७६, कल्पभा. गा. ३५६] सोतं लोमा-ऽऽरोमं [विशेषण. गा. ४०४]	११२-१८ १०६-१०
इह हि प्रमत्तमनसः इहाधौलौकिका ग्रामा ईर गति-प्रेरणयोः उत्तमनरमाउषं उत्पद्यते च पनकः उदय-कलय-कलयोवस- [विशेषण. गा. ५७५, धर्मसं. गा. ९४९] उपमितं व्याघ्रादिभिः [पा. २. १. ५६] उरल-विउव्वा-ऽऽहारे [विचारसप्ततिका गा. ४४] उल्लेखण न सकी [विशेषण. गा. १४५५, कल्पभा. गा. ३३५] उवउत्तस्सेमेव य [विशेषणवती गा. २०६] उवओगो एगयरो [विशेषणवती गा. २३२, विशेषण. गा. ३१२०] उवभोग-परीभोगा जम्मं- उवभोग-परीभोगा तेसिं उवभोग-परीभोगा पवरो उवयोग-सर-पयत्ता [विशेषण. गा. ५४७] ऋषयः संयतात्मानः एएसु य अजेसु य एकारस तेवीसा एग चउ सत्त दसगं एगिदिय-नेरइया [जिन. संग्र. गा. ३५८, जीवस. गा. ४५] एमुत्तरा उ ठाणा एणेण तिसइ वीएण [विशेषण. गा. १४६४, कल्पभा. गा. ३४४] एतं तु कालचक्रं एत्तो न किलिट्टतरा एवमसंखेजाओ एवं चिय सुमिणादिसु	७१-१३ ३६-१० ४-९ १००-२३ २६-२३ २२-४ ५-१८ १२१-टि १ १६-१२; १०२-२९ १४५५, कल्पभा. गा. ३३५] ४१-२६ ४३-१ ६६-१४ ६६-२४ २७ ६७-१ ६७-१४ ६३-२६ ६६-२१ ९१-१ ९०-२७ १००-१६ ९०-१९ १६-२१; १०५-७ ६७-५ ६७-३ ९१-७ ५५-९; १४८-१८	कति ण भंते !-एगिदियानं कम्मे सिप्ये विज्जा य [आत्र. नि. गा. ५२७] कर्मण्यण [पा. ३. २. १] कलुमफलेण ण जुज्जइ [विशेषण. गा. ३२६५] क-वै शेषतत्त्वानि कस्स व णाणुमतमिणं [विशेषणवती गा. २४६, विशेषण. गा. ३१३२] कहि ण भंते ! सम्मुच्छिम- [प्रज्ञा. पदम् १ सूत्रम् ३६] काय-वाङ्-मनःकर्म योगः [तत्त्वा. ६. १] काया वया य ते चिय [कल्पभा. गा. ४९७९] कारण-कज्जविभागो काले १ विणए २ बहुमाणे ३ [दशवै. नि. गा. १८६] किह पडिकुक्कुडहीणो [विशेषण. गा. ३०४] किंचिम्मत्तगाही [कल्पभा. गा. ३६९] कुप्पवयण ओसन्नेहिं [विशेषण. गा. १४६१, कल्पभा. गा. ३४१] कृत्यल्युटो बहुलम् [पा. ३. ३. ११३] कृदिकारादवित्तनः [पा. वा. ४. १. ४५] कृमि-कीट-पतङ्गायाः [नन्दिचूर्णि पत्र ४८] कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् केई भणति जुगवं [विशेषणवती गा. १५३]	११२-१२ ३-२७; ६३-८ ६७-५ ४५-१९; १३०-४ ६१-२५ ३७-१६ ११२-१२ ६२-११ १०१-१५ ४३-६ ३३-१९ ३७-२५ १०६-८ १५६-४ ७५-२० १३२-७ १७-२४ १६-१८; १०४-१६ १०४-१६ १-२४; ६-३१; २-१ १५३-३० ११६-१४ ४०-१५	गणपरकयगंगयं गावीए पुण दिवं गुण-दोसविसेरण्ण [कल्पभा. गा. ३६५] गोत्रियोरपरजनस्य [पा. १. २. ४८] चउ तिय चउरो दो दो चउ वारसऽट्ट दस या चउभाग चउव्भागो चतुर्थी चाऽऽशिक्ष्याऽऽयुष्य- [पा. २. ३. ७३] चत्तारि विचित्ताइं चत्तारि सागरोवम- चरियं च कपियं चिय [पिण्डनि. गा. ६३०] चित्तरत्नमसंकिट्ठ- चोहस दस य अभिण्णे [विशेषण. गा. ५३४] चोहस लक्खा सिद्धा छउमत्थाणं सन्ना [विशेषण. गा. ५२४] छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से [भगवतीपत्र ७५५] छट्ठं भूमीए [विशेषण. गा. १४७१, कल्पभा. गा. ३५१] छण्ह वि सममारंमे [विचारसप्ततिका गा. ४६] जगन्ति जङ्गमान्याहु- जतिं सहवुद्धिमेत्तय- [विशेषण. गा. २५४]	१०६-३० ११९-१३ १७-१८ १८-९ १६५-४ ९३-४ १२४-३ ४-१५ ७२-४ ६६-१२ १०४-१ ८-२५ १५५-८ ९०-१६ १५४-१७ १२५-२६ १६-२८; १०७-८ १२१-टि. १ २-३१ ५४-३०; १४६-२६

उद्धरणदि	पत्र-पङ्क्ति	उद्धरणदि	पत्र-पङ्क्ति	उद्धरणदि	पत्र-पङ्क्ति
उह क्रि खीगावरणे [विशेषवती गा. १५५]	४२-१८	ज्ञानमप्रतिष्य चत्य टुणदि सद्यदौ [पा. ध. पा. ६७]	६३-४ १-१८	तावसखउरकडिनयं [विशेष. गा. १४६५, कल्पमा. गा. ३४५]	१६-२२; १०५-२२
उह जुगदुपत्तीय वि [विशेषवती गा. २१९]	४२-१२	ठिइवंधु दलस्त ठिई [पत्रसङ्ग्रह गा. ४३२]	१६७-५	ताहे विउतराए [विशेष. गा. १४६५, कल्पमा. गा. ३४५]	१०-२६
उह दुचयणमवयणं [विशेषा. गा. ५२०]	१५४-१२	ण णिहाणगया भग्गा [आचा. नि. गा. ११]	६३-२३	तिन्यं च सुहम्माओ [भग. म. २३ उ. ८ सू. ६८२]	११-१
उह पासइ तह पासठ [विशेषवती गा. १९२]	४२-२७	ण दुहरं तौडिय अचपिठी णववंभचैरमडओ [आचा. नि. गा. ११]	१३८-२४ ७६-२७	तिन्यं भंते ! तिन्यं ! [भग. म. २३ उ. ८ सू. ६८२]	३९-३
उं केवलाई सादी [विशेषवती गा. १९३]	४०-२५	णणम्मि वंसणम्मि च [विशेषवती गा. २२९, विशेषा. गा. ३०९६]	४२-३०	तिन्याडविउतराए [आच. भाव्य गा. ११० पत्र १८७]	१०-२८
उं सामि-काल-कारण- [विशेषा. गा. ८५]	११३-४	णणणणणणणणणि च [विशेषा. गा. १०७]	४५-१६; १०९-९	तिहिं तादिहिं समग्गा [आच. भाव्य गा. ११० पत्र १८७]	१२०-२१
उा खलु अभाविचा कु- [कल्पमा. गा. ३६८]	११०-२६	णतिविगिट्ठो च तवो णिसंकिच १ णिइक्खिच २ [दमयि गा. १८४]	७२-५ ७५-२३	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उाणति वज्जेऽणुमाणाओ [विशेषा. गा. ८१४]	३५-१६	णेहि जिओ मि नि अह [विशेषा. गा. १४७८ कल्पमा. गा. ३५८]	१७-५; १०८-२१	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उा पशामसंवा [आव. नि. गा. ३०]	१६८-टिप्पणी	तज्जनेस च तज्जायं [मणिविद्या गा. ४५]	१३-१०८	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उादत्या तिसमया- [आव. नि. गा. ३०]	३३-११	तज्जानमेव न अकणि नणिग्गादिगिट्ठार [विशेषा. गा. ५३५]	६३-८ १०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उाव ण एस जीवे एयइ वेयइ [भग. म. उ. सू. पत्र]	४-२६	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उाव य लयला चोहस [भग. म. उ. सू. पत्र]	९०-१८	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उा जये [भग. म. उ. सू. पत्र]	४-१६	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उाजितरे साहुवोच्छेओ [आव. नि. गा. ३६५]	३९-५	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उायादीनां मृत्ति- [विशेषवती गा. २१६]	३०-१	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उागवमजाणंती वि हु [विशेषवती गा. २१६]	४२-१	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उागव पि समुप्पस [आव. नि. गा. ३६५]	१५६-५	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उा एणं जाणति से मव्वं [आव. नि. गा. ३६५]	६९-८	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उा कसिया उ हिउ [आव. नि. गा. ३६५]	१०९-२३	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उा एण अभाविचा मल [विशेषा. गा. १४६२, कल्पमा. गा. ३१६]	१६-१९; १०१-३०	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उा एण चमएण [आव. नि. गा. ३६५]	३-१	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उा एण चमएण [आव. नि. गा. ३६५]	३-१	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५
उा एण चमएण [आव. नि. गा. ३६५]	३-१	तत्तावमसंवादे [विशेषा. गा. ५३५]	१०९-१०	तीए पुण विमदीए [विशेष. गा. १५२]	११९-१५

१. हासिकोदरौ ५५, ५५२, ३७ पञ्चमसंवादे काला सुदि दि मणिविद्या

उद्धरणानि	पत्र-परिक	व्याख्यानः	पत्र-परिक	व्याख्यानः
दुर्गातिप्रमृत्तान् जीवान्	३-१७	पञ्चम उक्तं पञ्चम-आश्रयणम्	११०-१११	पञ्चम उक्तं पञ्चम-आश्रयणम्
दृष्ट्वाऽप्यालोकं नैव विश्रम्भितात्पुं	७१-१५	[समस्तपदं प्रति पत्र ११३]		[समस्तपदं प्रति पत्र ११३]
देवसयणिज्जांसि देवदूसेंतरिए	१००-१८	पञ्चम उक्तं पञ्चम	११३-११४	पञ्चम उक्तं पञ्चम
देशागम-नभोयान-	६३-१९	पञ्चम उक्तं पञ्चम	११३-११४	पञ्चम उक्तं पञ्चम
[आप्तमीमांसा का. १]		[जीवन्. गा. ६३]	११३-११४	[जीवन्. गा. ६३]
देसज्ञानोवरमे	४२-२१	पाठ शोभे शोभे	१६-२७; १०१-१०२	पाठ शोभे शोभे
[विशेषणवती गा. १५६]		[विशेषण गा. १५५२, कल्पभा. गा. ३५२]		[विशेषण गा. १५५२, कल्पभा. गा. ३५२]
दो लक्ष्मा सिद्धीए	९०-२२	पाठशुभं २ अंतोरेरु २	६२-२०	पाठशुभं २ अंतोरेरु २
दो वारे विजयाडसु	१९-१४	[कल्पभा गा. १३०३]		[कल्पभा गा. १३०३]
[विशेषा. गा. ४३६]				
धर्मशास्त्रार्थवैतथ्यात्	१०२-२१	पाठशुभं २ अंतोरेरु २	६२-२०	पाठशुभं २ अंतोरेरु २
नष्टमि तु छाउमत्थिए नाणे	१५६-२४	पाठशुभं २ अंतोरेरु २	६२-२०	पाठशुभं २ अंतोरेरु २
[आव. नि. गा. ५३९]		[विशेषणवती गा. २१५]		[विशेषणवती गा. २१५]
नत्थि नएहिं विह्वणं	१७२-२९	पिठु पिठु अंशंगमस्य-	१२१ दि. १	पिठु पिठु अंशंगमस्य-
नमिऊण जिणवरिंदे	११९-११	[विचारसमत्तिका गा. ४५]		[विचारसमत्तिका गा. ४५]
[उपदेशमाला गा. १]				
न वि अत्थि न वि य होही	१०४-२	पिठुविशोही ४ समिनी ५	१२-२२	पिठुविशोही ४ समिनी ५
[अनुयो. पत्र २३२, उत्तरा. नि. गा. ३०९]		[ओषनि. गा. ३]		[ओषनि. गा. ३]
नाणमवाय-धिईओ	१५५-२०	पिठुस्म जा विशोही	५-१०	पिठुस्म जा विशोही
[विशेषा. गा. ५३६]		[व्यव भा पी. गा. २८९]		[व्यव भा पी. गा. २८९]
नाम्युपधत्वात्	१२३-२३	पिठुस्मण १ सेजिररिया ३	७६-१५;	पिठुस्मण १ सेजिररिया ३
[कातन्त्र ४. २. ५१]		[आवश्यकसुप्रहणी हारि. वृत्ति पत्र ६६०-१]	१६४-१	[आवश्यकसुप्रहणी हारि. वृत्ति पत्र ६६०-१]
निगंथ सक तावस	७५-११	पुणरवि चोदस लवला	९०-१७	पुणरवि चोदस लवला
[पिण्डनि गा. ४४५]		पुरुष एवेद सर्वं	७८-६	पुरुष एवेद सर्वं
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा	४१-६; १२५-७	[ऋग्वेद मं. १० सू. ९०]		[ऋग्वेद मं. १० सू. ९०]
[प्रमाणवार्तिक ३-४]		पुव्यभणियं पि जं वत्थु	१०६-१४	पुव्यभणियं पि जं वत्थु
निवृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्	२०-२५	पुर्वि सुयपरिकम्मिय-पुव्वं सुं	१३२-१;	पुर्वि सुयपरिकम्मिय-पुव्वं सुं
[तत्त्वा. २. १७]		[विशेषा. गा. १६९]	१४९-२४	[विशेषा. गा. १६९]
नेगम संगह चवहार	१३२-३१	प्रत्ययस्थात् कात् पूर्व-	१७-१५	प्रत्ययस्थात् कात् पूर्व-
नोदन्वानर्थितामेति	२२-२५	[पा. ७ ३. ४४]		[पा. ७ ३. ४४]
पगतीमुद अयाणिय	१७-२१	प्राणा द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः	१००-२५	प्राणा द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः
[कल्पभा. गा. ३६७]		प्रायश्चित्तं विनयो	६-१	प्रायश्चित्तं विनयो
पद्माश्रवाद् विरमणं	५-२६	फलप्रधानाः समारम्भाः	४-१९	फलप्रधानाः समारम्भाः
[प्रशम. आ. १७२]		चत्तीसा १ अडयाला २	३९-२२	चत्तीसा १ अडयाला २
पणिहाणजोगजुत्तो	७५-२८	[वृहत्सं. गा. ३३३]		[वृहत्सं. गा. ३३३]
[दशवै. नि. गा. १८७]		चहुवयणेण दुवयणं	५७-१२	चहुवयणेण दुवयणं
पणुवीसं कोडिसयं	८१-२८	वारसविहम्मि वि तवे	७५-३१	वारसविहम्मि वि तवे
परिहरणा होइ परिभोगो	१६६-११	[दशवै. नि. गा. १८८]		[दशवै. नि. गा. १८८]
पल्लवमाहि पाण्डित्यं	११०-३०	वाल-द्री-मूढ-मूर्खाणां	१०६-१३	वाल-द्री-मूढ-मूर्खाणां

उद्धरणादि	पत्र-पट्टि	उद्धरणादि	पत्र-पट्टि	उद्धरणादि	पत्र-पट्टि
मोहा-ऽऽउगवजाणं [पत्रा १६ गा. ४१]	४-२९	व्याख्यानयन्ति केचित् [नन्दिहरिभद्रवृत्ति]	३-२७	सर्वतोऽस्मिन्प्रादित्येके [पा. वा. ४. १ ४५]	२-९
मौ धौ पवाऽश्वै- [ज्येष्ठेच्छन्दः अ ६ सू. ३७]	१६२-४	शूर वीर विक्रान्तौ [पा. धा. पा. १९०३]	४-८	सर्वेषामुभ्य इर [पा. ट. ५६७]	१-१९
यद् वस्तुनोऽभिधानं	६७-टि. १	श्रयांसि बहुविधानि	१-१५	सर्वव्यक्तिषु नियतं	१४-२९
यसु प्रयान्ति पुरुषाः	७१-१०	श्रेयो विपसुपसुक्तं	७१-८	सत्त्वगर्भं सम्मनं [आच. नि. गा. ८३०, विव्या. गा. २७५१]	११२-२९
यस्य [पा ६. ४ १४८]	२-३	पिबू बन्धने वा	१२३-२४	सर्वस्यैव किं जगदीदित्यं [नियमसूत्रं गा. १०० कर्त्तौ]	३९-१६
यः समः नर्बभूनेषु	७-३	पिबू द्वात्रे माहाय्ये च [पा. धातु. ४८]	३७-१४	सत्त्वन्तु गामका [विश्वामित्रवृत्ति. १५६६, कल्पभा. गा. ३४६]	१६-२३; १०६-१
यः साध्यस्थोपमाभूतः	४९-१	यिषौ संराडौ [पा. धातु. ११९२]	३७-१३	नन्दोऽपि ति नन्दिषो [मन्त्रावर्द्धि. गा. ५५१]	९३-५
यु मिश्रणे [पा धा. पा १०३३]	३-२	सद्रवसंसा, गुगगादि [विशेषा. गा. १४७७; कल्पभा. गा. ३५०]	१७-४; १०८-१९	सर्वो जगत् सवे भूत [आच. नि. गा. १४७७, १४७९]	३-१३
योजनसहस्रमानो	२६-१९	सहृथादीनाख्यात्सुक्त- सचिन्तयौतसंश्लेषण-	२६-२२ ३-२	सर्वेऽपि नन्दो [कल्पभा. ३५०]	४-२४
यो ग्यभ्युपेनसन्त्यक्तयो	६-२८	सज्जाद्यत्नापमवधौसद्वेद्य [आच. नि. गा. १५०५]	३-२५	सर्वेषां गुणः सव्याप्य [कल्पभा. ३५०]	१०१-५
यथो न्ति तिओ मेहो [विशेषा. गा. १४५६, कल्पभा. गा. ३३६]	१६-१३; १०२-३१	सद्रिं कामसद्विषया [विशेषा. गा. १४५७]	१३-१६	सर्वेषां गुणः सव्याप्य [कल्पभा. ३५०]	१०१-५
यत्र नाथ संभिदौ [पा. धातु. १२६३-६४]	३७-१३	मन्तय न दंभि लक्ष्मि न [विशेषा. गा. १४५७]	१३-१६	सर्वेषां गुणः सव्याप्य [कल्पभा. ३५०]	१०१-५
यत्र पन्थयुद्धा	१२४-१२	मन्तय य इत् त्वा अश्रुयो [कल्पभा. ३५०]	१३-१६	सर्वेषां गुणः सव्याप्य [कल्पभा. ३५०]	१०१-५
यत्रकर्ममेदा हृत्फल-	१२७-१२	सर्वेषां गुणः सव्याप्य [कल्पभा. ३५०]	१३-१६	सर्वेषां गुणः सव्याप्य [कल्पभा. ३५०]	१०१-५
[विशेषा. गा. ९७]					
यद्युपयोगी भावेन्द्रियम् [कल्पभा. २. १८]	२०-२७				
यस्मात् अश्रमा वि य [विशेषा. गा. १४५०, कल्पभा. गा. ३४०]	१६-१७; १०४-१४				
यस्यस्यस्यस्य- [शोधनि भा. गा. २]	७२-१०				
यस्यस्यस्यस्यस्यलो	५३-७				
यान्ता प्रचलना पराशरीना	६-१०				
यानौ धेदीसहितं	७५-६				
यान्तीय गमर्त्तं	६०-६०				
यान्तिस्तं विवर्त्तितं सत्त्वम् [पा. २. ६ ५७]	७-१९				
यान्तिस्तं विवर्त्तितं सत्त्वम्	७-१९				
यान्तिस्तं विवर्त्तितं सत्त्वम् [विशेषा. गा. १४५७, १४५९]	७-१९; १०५-१०				
यान्तिस्तं विवर्त्तितं सत्त्वम् [कल्पभा. ३५०]	७-१९				
यान्तिस्तं विवर्त्तितं सत्त्वम् [कल्पभा. ३५०]	७-१९				
यान्तिस्तं विवर्त्तितं सत्त्वम् [कल्पभा. ३५०]	७-१९				
यान्तिस्तं विवर्त्तितं सत्त्वम् [कल्पभा. ३५०]	७-१९				
यान्तिस्तं विवर्त्तितं सत्त्वम् [कल्पभा. ३५०]	७-१९				

उद्धरणादि	पत्र-परिच्छेद	उद्धरणादि	पत्र-परिच्छेद	उद्धरणादि	पत्र-परिच्छेद
सीसा पटिच्छगणं [विशेषा. गा. १४७५, कल्पभा. गा. ३५५]	१७-२; १०८-९	नेले ग द्विष्ट् चालणि [विशेषा. गा. १४६३, कल्पभा. गा. ३४३]	१६-२०; १०९-१५	सकलवृत्तशब्दानां समाप्तः प्रकृतः प्रोक्ता	२३-२१ १६१-३
सुयधम्मो सज्जाशो [निशीथभाष्य गा ३२९९]	१-११	सेसेम् वि स्नादिम् [विशेषा गा. २९२]	१५-७; १४७-२०	ह्रस्व ग मपञ्चमृषी [आना नि गा. ११]	७६-२१
सुरलिंगे पुव्वसुए	१२४-१३	सोइन्दियोवलदी [विशेषा. गा. ११७]	४५-२३; १३०-२०	ह्रस्व अपोहोडवाशो	१५२-१३
सुसमदुसमावसेसे	६६-२८			ह्रस्वो नपुंसके प्राति-	१८-८
सुंदरवुद्धीए कयं	११९-१३	सोऊण जा मती ने [विशेषा. गा १०९.]	४५-१८; १२९-२६	[गा. १. २. ४७]	
सूच् सूचायाम्	७७-२७				

विशेषनाम	किम् ?	पत्र-परिच्छ	विशेषनाम	किम् ?	पत्र-परिच्छ	विशेषनाम	विशेष	पत्र-परिच्छ
आजीव	ध्रमणभेद	७५-१२	आवश्यकचूर्णि	जैनागम	१२०-५	उग्रभस्म	विशेष	१२०-२७
आजीवग	दर्शन	८७-१	आवश्यकनिर्मुक्ति	..	१६१-१६	पुण्डरीक	..	७४-५
आजीविय	"	८७-२४	आवश्यकगृह-	जैनागम-गण-	६८-३१	उग्रभ	..	१३-२१
* " "	"	८६-२५; ८७-१४	दृष्टि	भयमाना दृष्टि-	भयमाना दृष्टि-	* उग्रभस्मामि	..	१३-२१
आतुरप्रत्याख्यान	जैनागम	७२-१०	* आवस्यग-	य	जैनागम	७०-१; ७४-१;	उग्रभस्मामि	१०-६
आत्मवादिन्	दार्शनिक	७८-६			१८०-१५, १६	गंडिया	प्रतिभाग	६७-४
आत्मविशुद्धि	जैनागम	७२-१	* आसीदिसभावणा	..	१८१-६	उग्रभस्मामि	कालविशेष	६७-४
* आदिकर	तीर्थकर	१७८-२४	* इक्षिभामिय	, १२-२०; १८०-३१		कणभ	तीर्थकर	४-४; १२३-२२
आदिचजस	राजा	९०-१५	* इक्षिभामिय	, १२-२०; १८०-३१				७४-२, १६;
आदितीर्थकर	तीर्थकर	१७८-२७	* इक्षिभामिय	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-९			१०-१२, १३; १६७-१३;
आदित्ययशस्	राजा	१६३-१३	* इक्षिभामिय	दार्शनिक	७८-५	एकोरुफ	द्वीप	३३-२७
आनन्द	श्रावक	१६६-१	* उज्जुसुत	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-९	* पगगुण	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२४;
* आमासपय	दृष्टिवादप्र-	८५-२३, २७;	उज्जैणी	नगरी	१३३-७ १३			८६-१ ४ ७ ११,
	विभाग	८६-४, ७, ११,	* उट्टाणसुय	जैनागम	७२-२४; १८१-४			१५ १९
		१५, १९	* उत्तरज्जयण	..	७२-१९; १८०-३०	* पगद्विपय	"	८५-२३, २७
* आयचाय	"	८७-११	उत्तराध्ययन	..	७२-२६; १६१-३१	पगतसूत्रमा	कालविशेष	६६-१२
आयन्न	} कल्पवृक्षनाम	६६-१७ २०	उत्थानश्रुत	..	७३-११	* परवय	क्षेत्र	६५-२५
आणयण								
* आयपपवाद	पूर्व	८८-२, ८	उत्पलपत्रशत-	समयनिरूपको-	५८-२३; ५७-९	पलापत्य	गोत्र	११-१२
आयपपवाय	"	८९-७	व्यतिभेददृष्टान्त	दाहरण		* पलापत्य	"	११-१२
आयविभक्ति	जैनागम	१८०-१७	उत्पात-द	पूर्व	१३-३०;	* पदंभूय	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-११
आयविलोहि	"	७०-२१;			१६९-१	पेरवत	क्षेत्र	६६-६
		१८०-२७	* उद्विधोदय	राजा	४७-१६	पेरवत	"	११७-१२; १५६-२९;
आयार	"	६४ ३; ८८-२४	उदितोदय	"	१४७-७, १० ११			१५७-१
* " "	"	६२-२३; ७४-२३ २८;	उपासकदशा	जैनागम	८२-२१	* ओगाढसेणि-	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२०
		७५-६; १८१-९	* उवपाद + पुव्व	पूर्व	८८-१, ४	यापरिकम्म		८६-६, ९
आयारणिज्जुत्ति	जैनागम	८८-२४	उवपायपुव्व	"	८८-२६; १६७-९	* ओगाढावत्त	"	८६-८
आर्य	गोत्र	११-२५	उवभूहया	मेरीनाम	१७-३; १०८-१७	* ओदिओदय	राजा	४७-१६
आर्यनन्दिल	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१२-१३ १९	उवकोसा	गणिका	१३८-१८	* ओवाइय	जैनागम	७०-१८
आर्यनागहस्तिन्	"	१२-२०;	* उववाइय	जैनागम	१८०-२३	* ओसपिणि-	दृष्टिवाद-	९०-६
		१३-१	* उवसंपज्जणसेणि-	दृष्टिवादप्र-	८५-२०;	गंडिया	प्रविभाग	६७-४
		१२-५, १३	यापरिकम्म	विभाग	८५-१०, १३	ओसपिणी	कालविशेष	६७-४
आर्यसमुद्र	"	११-२८; १२-५	* उवसंपज्जणावत्त	, ८६-१२		ओसपिणी	मेरीनाम	१०८-२६
आवश्यक	जैनागम	१६-११;	उवासगदसा	जैनागम	१६६-१	ओसपिणी	तलनाम	११५-३
		६४-६; ७०-४;	* " "	"	६२-२४; ७४-२४	* कचायण	गोत्र	१०-२७
		७४-२२; १२३-१९;			८२-७ १२, १९; १८१-१०	कट्ट	श्रेष्ठी	१४०-१७
		१६१-६२	उसभ	तीर्थकर	७४-१२, १३; ९०-१५	* कणगसत्तरी	शास्त्र	६४-२०
* नल्लु-	जैनागम-हरिभद्री-	६८-२९,	* " "	"	१०-१	कणभक्ष	} दार्शनिक	७-१५; १०१-१३
दृष्टि	या वृत्ति, लभ्यमाना	दृ. १	उसभसेण	निर्ग्रन्थ-गणधर	१७८-२४	कणाद्		

विशेषनाम	क्रि.सं.	पत्र-परिष्क	विशेषनाम	वि.सं.	पत्र-परिष्क	विशेषनाम	वि.सं.	पत्र-परिष्क
प्रभव	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-३४	भाष्य	जैनागम	१५२-१७	महाविशिष्ट	जैनागम	११-१७
प्रमादाप्रमाद	जैनागम	७०-२८	(विशेषाचार्यकमहाभाष्य)			"	"	११-१७
प्रश्रव्याकरण	"	१२-२१	भाष्यकार	निर्ग्रन्थ- आचार्य	११-१३; ३१-१३; ४६-३३; ५५-२५	* महाविशिष्ट	जैनागम	११-२०; १८-११
प्राचीन	गोत्र	११-९	(जिनभद्रमणि धर्माभरण)		५५-९; २५; १५५-२५; १५७-१८; १५०-१७	महाविशिष्ट	"	१७-२८
* बलदेवगंडिया	दृष्टिवाद- प्रविभाग	९०-५	भाष्यकृत		७-१५; ११८-४; १५८-२५	* महापञ्चमनाम	"	१०-२३; १८०-२८
बलिस्सह	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१७ २१	भिग	कल्पवृक्षनाम	६६-१६ १८	* महापणननाम	"	१०-१५; १८०-२३
* बहुभंगिय	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	भूतद्विच	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१४-२०, २४	महापञ्चापना	जैनागम	१०-२८
बहुल	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१७, १८	* भूयद्विष्ण	"	१४-१५	महाप्रत्यापना	"	१२-१३
* " "	"	११-१३	भूतवाद	जैनागम	१६१-२५	महाभाष्य	"	५५-६; १, २; ५५-
* " "	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-११	भूतावाध	"	१६१-२३	(विशेषाचार्यकमहाभाष्य) वि. ४		
* बहुलसरिख्य (बलिस्सह)	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१३	* भूयावत्त	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१२	महाविदेह	गोत्र	६६-७; ६७-६; १५६-३०, ३१
* वंभदीवग	निर्ग्रन्थशाखा	१३-१४	मणियंग	कल्पवृक्षनाम	६६-१७ २०	* " "	"	६५ २६
वारवइ	नगरी	१३७-२८	* मणुस्सलेणिया- परिकम्म	दृष्टिवाद- प्रविभाग	८५-२० २६; ८६-२	* महावीर	जैनागम	३०-६; ३५-८; १०-७; ३४-१०
विन्दुसार	पूर्व	१६९-१	* मणुस्सावत्त	"	८६-२	दर्शमान	"	४-२
* बुद्धवयण	शास्त्र	६४ २०	मण्डरुप्रवेश	जैनागम	७१-२१, २२	* महासुमिणभावणा	जैनागम	१८१-७
वेण्णायड-तड	नगर	१३४ २१; १३५-६	मण्डक	तेलनाम	११५-३	महुरा	नगरी	१३-१४
ब्रह्मदत्त	चक्रवर्ती	१६२-७	मत्तगय	कल्पवृक्षनाम	६६-१६ १८	* मंडलपवेस	जैनागम	७०-२०; १८०-२५
ब्रह्मद्वीपिका	निर्ग्रन्थशाखा	१३-७	मम्मण	वणिक्	१२३-२१	* मंडिय	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-११
ब्राह्मी	लिपि	५९-१४	मरणविभक्ति	जैनागम	७१-३०	मंदर	पर्वत	३५-२५
"	तेलनाम	११५-३	* मरणविभक्ति	"	७०-२१; १८०-२७	* माडगापय	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२३ २७
भगवती	जैनागम	४३-४; १२५-२४, २६	* मरणविभक्ति	"	१८०-२७	मागधदेशी	भाषा	२०-१८
* भद्रवाहु	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-७	मरुदेवी	कुलकरराज्ञी (ऋषभजिनमाता)/	३९-१९; १२४-२१	मागधिता	गणिका	१४३-२३
* भद्रवाहुगं- डियाओ	दृष्टि- वादप्रविभाग	९०-६	मलयगिरि	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१६७-६.१	माढर	गोत्र	११-९ १० ११-६
भद्रवाहु + स्वामिन्	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-९, १०; १६१-१५	मल्लकदण्ट	अवग्रहादि- निरूपकोदाहरण	५४-१, १५	* " "	"	६४-२१
भरत	नट	१३२-१३, ३२	* मल्लगदिहंत	"	५२-७; ५३-१०, २७	* मासाण	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०
"	क्षेत्र	४-५; २८-४; ३३-२५; ६६-६; १०३-६; ११७-१२; १५६-२९; १५७-१	* मल्लि	तीर्थकर	१०-३	माहुरा वायणा	जैनागमवाचना	१३-१६ १८ १०-४
भरह	नट	१३२-१०	महतीचिमान- प्रविभक्ति	जैनागम	७२-३०	* मुणिसुद्धय	तीर्थकर	१४३-२१
* " "	"	४६-२६, २९; १३३-१८	* महल्लिया वि- माणपविभक्ति	"	७२-२१; १८१-१	मुणिसुन्वयसामि	"	१४३-२१
* " "	क्षेत्र	२५-२३; ६५-२५	महाकपरासुय	"	७०-२६	मूलदेव	धूर्त	१३५-२५ २७
भवणरुक्ख गेहागार	कल्पवृक्षनाम	६६-१७, २०	* " -त	"	७०-१८; १८०-२३	* मूलपढमा- पुओग	दृष्टिवाद- प्रविभाग	८९-१९ २२, ३० ८९-२१
* भारह	शास्त्र	६४-१९				मूलप्रथमानुयोग	"	१०-१२
						* मेयज्ज	निर्ग्रन्थ-गणधर	९४-२९
						मेरु	पर्वत	१०-११
						* मोरियपुत्त	निर्ग्रन्थ-गणधर	११-८
						यशोभद्र	"-स्थविर	

विशेषनाम	किम् ?	पत्र-पङ्क्ति	विशेषनाम	किम् ?	पत्र-पङ्क्ति	विशेषनाम	किम् ?	पत्र-पङ्क्ति
रत्नप्रभा	नरक	१२२-१७	*वरुणोववाय	„	७२-२२:१०१-३	*वियाह +	जैनागम	८०-१३:१६:२३
रघुण्यभ-भा, ह	„	३५-२५; ३६-४;	वर्गचूलिका	„	७३-१२	पण्णत्ति	„	७४-२४
		१२२-१९	वर्द्धमानस्वामिन्	तीर्थकर	७४-५	*विद्याग + सुत	„	६२-२५:७४-२५;
*रघुण्यभभा	„	३५-१	*धवहार	जैनागम	७२-२०:१८०-३१		„	८४-२०:८५-९;
*रामायण	शास्त्र	६४-१९	वशिष्ठ	गोत्र	११-१५		„	१८१-११
रायगिह	नगर	१३४-२२, २५;	वसुदेव	गजा-हृत्पण्डित	१६७-१२	*वियाहचूलिया	„	७२-२२:१०१-३
		१४०-११, १४	वसुदेवहिण्डि	जैनकथाग्रन्थ	१६७-दि.१	*विद्याहृत्पण्णत्ति	„	६२-२५:१०१-१०
*रायपसेणिय	जैनागम	७०-१८:१८०-२३	*वाउभूह	निर्ग्रन्थनाण्ड	१०-१०	विशेषावश्यका-	„	६८-दि.१
*रासिबद्ध	दृष्टिवादप्र-	८५-२४; ८६-१,	*वागरण	शास्त्र	१२-१६:६४-२१	महाभाष्य	„	
	विभाग	४, ७, ११, १५, १९	वाचकचंदा	निर्ग्रन्थदम	१२-१७:१३-१	*विहारकन्य	„	५०-२२:१०५-३६
रुचक	पर्वत	२८-६; १२२-१३ १७	वाचनान्तर	जैनागमप्र-वी-	१६६-२३	विहारकन्य	„	५२-१०
रुचग	„	३५-२५		नयगम्यग		वीनरागधन	„	५२-१०
"	„	२५-२४	वाणारसी	नगरी	१४१-८	*वीनरागसुत-य	„	५२-२३:१०५-३६
*रेवद्रणकवस्त	निर्ग्रन्थ-स्वविर	१२-२७	*वायगचंस	निर्ग्रन्थदंका	१२-१७:२३	*वीर	निर्दिष्ट	५-१०
रेवतिनक्षत्र	}	१३-२, ५	वासुदेव	सुग	१३७-२८	वीरमानसक	जैनागम	१०-२३
रेवतिवाचक								
रोहस-ग	नट	१३३-२०, २३, २९	*वासुदेव-	दृष्टिवाद-	१०-५	*वीरमानसक	„	१०-२३
रघुण	समुद्र	३३-२६	गंधिया	प्रक्रिया		*वीरिण	सु	८०-२०
लोकप्रकाश	जैनशास्त्र	१६७-दि.१	*वासुपुञ्ज	तीर्थकर	१०-३	वीरिणसुत	„	८०-२०
लोकविन्दुसार	पूर्व	४६-१७	विद्यागमननिका	जैनग्रन्थ	१२१-दि.१	सुतदीक्षासार	विद्यागमन	१०१-११
लोगविन्दुसार	„	८९-१७	विज्ञय	देवता-साध	१६४-२	सुतान्त	„	४०-३१
"	„	८८-४ १२	*विज्ञयचरित्र	दृष्टिवाद-विभाग	८०-१०	वेद-विभाग	विद्यागम	१०-१०
*लोगायन	शास्त्र	८०-२०						

विशेषनाम	किम् ?	पत्र-परिष्क	विशेषनाम	किम् ?	पत्र-परिष्क	विशेषनाम	किम् ?	पत्र-परिष्क
शब्दप्राभृत	जैनशास्त्र	१२-२१	सम्प्रतिवाचना	जैनागमप्रयोगान्-	१६५-१५	गिजप्राभृत	विजयपुर	११-१६
शय्यम्भव	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-५; ११-८	परम्परा			गिजगिता	अनुनायिका	१५०-२५
शाक्य	श्रमणभेद	९-४; ७५-११	सम्भूत	अन्त्यज निर्ग्रन्थ	१६२-७	शिवपीथ		
शाण्डिल्य	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-२२, २५, २८	सम्भूतविजय	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-९, १०	*सिद्धसेनिगा-	विनाःप्रोभाग	८५-१९
शान्तिनाथताडप-	जैनज्ञानम-	१६८-टि.	सम्भूत			परिक्रम		२२-२५
श्रीयभाण्डागार	ण्डारनाम		सर्वार्थ + सिद्धि,	देशलोक	९१-२०; १६७-	सिद्धसेनानार्थ	निर्ग्रन्थ-आचार्य	५०-१९, २७
शिखरिन्	पर्वत	३३-२६; १२१-५	सिद्ध		१४, १५; १६७-	*सिद्धावत्त	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२५
शीलभद्र	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१६९-३०; १७९-८			टि १, १६८-	सिन्धु	नदी	९५-२
(नन्दीसूत्रहारिभद्रीवृत्ति-					३, ४, ५ ११ १२, २१	सिन्धु		१३३-१४
दुर्गपदव्याख्याकारगुरु)			*सव्वभोभइ	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१२	सिरिता	राज्ञी	१४१-७, ८
शैव	दर्शन	१०१-टि.१	सव्वह	देशलोक	९०-१६तः२६ २९;	सिरित	अमात्यपुत्र, अमान्य	१४३-३
श्यामार्य	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-२२			११-३, ६ १०, १३,	*सीयल	तीर्थकर	१०-२
श्रीचन्द्र+सूरि	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१६७-टि १;			१६ २३; ९२-२, ६,	*सोह	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१३-४
(नन्दीसूत्रवृत्ति-		१६९-२९ ३१;	*ससि	तीर्थकर	१०-२	सुगत	भगरान् बुद्ध	६३-१७
दुर्गपदव्याख्याकार)		१७०-१; १७९-८	संगामिया	मेरीनाम	१७-३; १०८-१७	"	दर्शन	१५४-२९
श्रेणिक	राजा	१७८-५	*संजूह	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	सुधम्म	निर्ग्रन्थ-गणधर	११-१
सक	श्रमणभेद	७५-११	*संडिल्ल	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-२०	सुधर्म + स्वामिन्	"	११-१, २
*सगभहिया	शास्त्र	६४-१९	*संति	तीर्थकर	१०-३	सुपर्ण	देवजाति	१६६-२०
सगर	चक्रवर्ती	९०-१५; १६७-१४;	*संभव	"	१०-१	*सुपास	तीर्थकर	१०-१
		१६८-२१; १८६-३०	*संभिण्ण	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	*सुप्पभ	"	१०-१
सङ्गम	देव	१०१-२६	*संभूय	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११ ६	सुप्रतिवद्ध	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१५
सङ्गदासगणि	निर्ग्रन्थ-वाचक	१६७-टि.१	संलेखनाश्रुत	जैनागम	७२-२	सुवुद्धि	अमात्य	९०-१५;
(वसुदेवहिण्डिकार)			*संलेहणासुत-य	"	७०-२२; १८०-२६		१६७-१४; १६८-२१	
सङ्गाचारटीका	जैनशास्त्र	१६८-टि.	*संसारपडिगह	दृष्टिवाद-	८५-२४; ८६-१,	*सुमति	तीर्थकर	१०-१
(चैत्यवन्दनभाष्यटीका)			प्रविभाग	५८ १२, १६ २०		*सुमिणभावणा	जैनागम	१८१-६
*सच्चप्पवाद	पूर्व	८८-२, ७	*साइ	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१९	*सुवण्ण	देवजाति	८४-६
सच्चप्पवाय	"	८९-५	*सागरपण्णत्ती	जैनागम	१८१-१	सुसमदूसमा	कालविशेष	६६-२५
*सद्धितंत	शास्त्र	६४-२१	साङ्ग्रामिकी	मेरीनाम	१०८-२६	सुसमा	"	६६-२२
सत्थकी		६५-१०	*सामज्ज	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१९	सुस्थित	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१५
*समभिरूढ	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१	सामायिक	जैनागम	४६-१७	*सुहत्थि	"	११-१२
समवाय	जैनागम	८०-८, ९	सामि	तीर्थकर	१३९-२६	सुहम्म	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-१०, २६
		१६५-८	(वर्द्धमानस्वामि)			सुहस्तिन्	" -स्थविर	११-१५
* " -अ	"	६२-२३; ७४-२४;	सिह + वाचक	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१३-७, १२	सुंदरी	वणिकवत्नी	१४३-४ ७
		७९-२५, २८, २९; ८०-७	सिह्वाचार्य			* " "	"	४७-१९
		१८१-१०	*सिज्जंस	तीर्थकर	१०-२	सुंदरीणंद	वणिकपुत्र	१४३-४
समवायाङ्गवृत्ति	"	१६५-११	सिणपल्ली	चौरपल्ली	१३७-३०	*सुंदरीनंद	"	४७-१९
*समुद्धानसुय	"	७२-२४; १८१-४	सिद्धदण्डिका	जैनप्रकरण	१६७-टि-१;	सुसुमा	वणिकपुत्री	१४१-१७
समुत्थानश्रुत	"	७३-१४			१६८-टि.	सूचकृत	जैनागम	७७-२७; १६४-१६
समुद्रविजय	राजा(नेमिजित्पिता)	१६७-१२						

विशेषनाम	क्रिम् ?	पत्र-पङ्क्ति	विशेषनाम	क्रिम् ?	पत्र-पङ्क्ति	विशेषनाम	क्रिम् ?	पत्र-पङ्क्ति
*सूर्यगड	जैनागम	६२-२३; ७४-०३; ७७-१५, १७ १९.२६; १८१-९	स्तुतिकार	निर्ग्रन्थ-आचार्य (सिद्धसेनद्विवाकर)	६३-१८	*हरिवंश- गंडिया	दृष्टिवाद- प्रदिभाग	९०-६
सूर्यगड	..	१६४-१६	स्थान	जैनागम	७९-१७	*हंभीमालुक्कम्ब	भाग	९४-१९
*सुरपण्णती	जैनागम	७०-२०; १८०-२५	स्थूलभद्र	निर्ग्रन्थ-स्वविर	११-१०, १४	*हारिय	गोत्र	११-१९
सूर्यप्रकृति	..	७१-१७, १८	स्वभाववादिन्	दार्शनिक	७८-७	हारीत	..	११-२१
*सेज्जमघ	निर्ग्रन्थ-स्वविर	१०-२७	स्वाति	निर्ग्रन्थ-स्वविर	११-२१	हिमवत्	पर्वत	११-२१; ३३-२३; १३१-३
सेणित-य	राजपुत्र, राजा	१३४-२०; १३६-२५	स्वोपलक्षिका	जैनागम	५५-टि. २ (विशेषावश्यकटीका)	हिमवन्त	} निर्ग्रन्थ- १३-२१, ३० संज्ञक	
*सोयन्धिप्पण	दृष्टिवादप्रदिभाग	८७-११	हनूमत्	राजा (दानरवर्धमान)	१२३-२१	हिमवत्प्रनाश्रमण		
सौधर्म	देवलोक	१०८-३०	हरि	कृष्ण	१०९-१, ४, ५, १२ २१, २७	*हिमघ्न	..	१३-२१, २९
स्कन्दिलाचार्य	निर्ग्रन्थ-स्वविर	१३-१२, २२	हरिभद्र + सुरि	निर्ग्रन्थ-आचार्य (नन्दीसूत्रस्तुतिकार)	९७-७; १६७-टि १	हैमवत	क्षेत्र	३३-२६
स्तम्भतीर्थ	नगर	१६८-टि.						



पञ्चमं परिशिष्टम् ।

नन्दीसूत्रमूल-हारिभद्रीवृत्त्याद्यन्तर्गतानां व्याख्यातान्याख्यातशब्दानामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका ।

[अस्मिन् परिशिष्टे *एतत्फुल्लिकाचिह्नान्विताः शब्दा मूले व्याख्याताः, +एतदङ्किताः +*एतच्चिह्नद्वयाङ्किताश्च शब्दाः 'पाइयसंमहण्णवा'-
ख्यकोशानुपलभ्यमाना व्याख्याताः, +§एतच्चिह्नद्वयाङ्किताः शब्दाः 'पाइय० सं० म०' कोशानुपलभ्यमाना अन्याख्याताश्च ज्ञेयाः]

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पङ्क्ति	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र पङ्क्ति	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पङ्क्ति
अकर्मभूमि	अकम्मभूमि	३३-२६	अचित्ता कुप्रावचनिकी		१७७-३	+§अणिण्या=स्वामिनी		१४०-२०
अकारण	अकारण	९३-२०	द्व्यशरीर-भव्यशरीरव्यति- रिक्ता द्रव्यानुष्ठा			+अतित्थगरसिद्ध		३८-२२
अक्रिय	अक्रिरिय	७ ९	*अचित्ता लोइया जाणगस- रीर-भवियसरीरवतिरिक्ता		१७५-२९ तः १७६-३	अतिदूसमा		६७-३
अक्रियावादिन्	अक्रिरियावादि	७८-१०, ११	द्व्याणुण्णा			अतिशेष	अइसेस	१६३-२०
अक्ष = जीव	अक्ख	२०-८, ९, १०, १२; ११३-२०, २१, २२	*अचित्ता लोउत्तरिया		१७७-१०	अतिशेषसिद्धि	अइसेसइड्ड	१६३-२०
„ = इन्द्रिय	अक्ख	११४-१९ २०	द्व्याणुण्णा		तः १३	अतीर्थसिद्ध	अतित्थसिद्ध	३९-४ ५ ६
„ = चन्दनक	„	१७१-२	अच्छिन्नच्छेदणाय		८७-२४तः २६	अथोग्गह		१४४-२६
अक्षर	अक्खर	६८-८; १५८-१९तः२३	अजीव	अजीव	९३-२१	अथ	अह	४३-१५, १६, १७
अक्षरलब्धिक	अक्खरलब्धीय	५९-२४, २५, २६	+अज्जावण = तजन		१००-२७	अधर्मास्तिकाय		४४-२८, २९
अक्षरश्रुत	अक्खरसुय	५९-६ तः ९	अज्ञान	अण्णाण	७८-२०	अध्यवसायस्थान	अज्जवसाणट्ठाण	२६-७
अगमिक	अगमिय	६९-२१; १६१-१२, १३; १८५-२९	अज्ञानिक	अण्णाणिय	७८-२०तः २३	अनक्षरश्रुत	अणक्खरसुय	६०-८तः१७
अग्ग		८८-२८	अक्षिका+परपत्	अजाणिया+ परिसा	१७-१६, २१	अनगार	अणगार	२२-२६, २७
अग्गेणीय		८८-२८	+§अट्ठापय= दृष्टिवादप्रविभाग		८५-२३, २७	अनत्यक्षर	अणक्खर	१७२-५
अग्र	अग्ग	६८-१	*अणक्खरसुय		६०-३ ४, ५	अनन्त	अणंत	१३-३६
अङ्गचूलिका	अंगचूलिया	७२-३०तः ७३-१	+§अणंतर= दृष्टिवादप्रविभाग		८७-१०	अनन्तगुणित	अणंतगुणिय	६८-१
अङ्गप्रविष्ट	अंगप्रविष्ट	१६१-१५, १६ १७; १६३-१०	+अणाइसेसि= अनतिशायिन्		१८३-२२	अनन्तप्रदेशक	अणंतपएसिअ	३५-१
अङ्गवाह्य	अंगवाहिर	१६१-१५ १७, १८	*अणाणुगामिय[ओहिणाण]		२४-२७ तः २५-५	अनन्तरसिद्ध-	अणंतरसिद्ध-	३८-१८, १९
अचित्तजोणि		१००-७	+§अणुओगदार = जनागम		७०-१९	केवलज्ञान	केवलणाण	
*अचित्ता कुप्पावय- णिया जाणगसरी- रभवियसरीरवतिरि- क्ता द्व्याणुण्णा		१७६-२० तः २३	अणुकड्ढ		११६-७, ८	अनवधृत = अनियत		१६५-
			*अणुत्तरोववाइयदसा		८३-१३तः२५	अनाजीचिन्	अणाजीवि	१६३-२४, २५
			अणुभाग		१६७-५	अनात्यन्तिक		९९-
			+अणेगसिद्ध		३८-२५; ३९-२०, २१, २२	अनानुगामुक	अणाणुगामिय	२३-३; २५
			+अणलिंगसिद्ध		३८-२४	[अवधिज्ञान] [ओहिणाण]		६तः११; ११५ १९, २०
						अनुक्षा	अणुण्णा	१७०-८
						अनुत्तर	अणुत्तर	८३-२

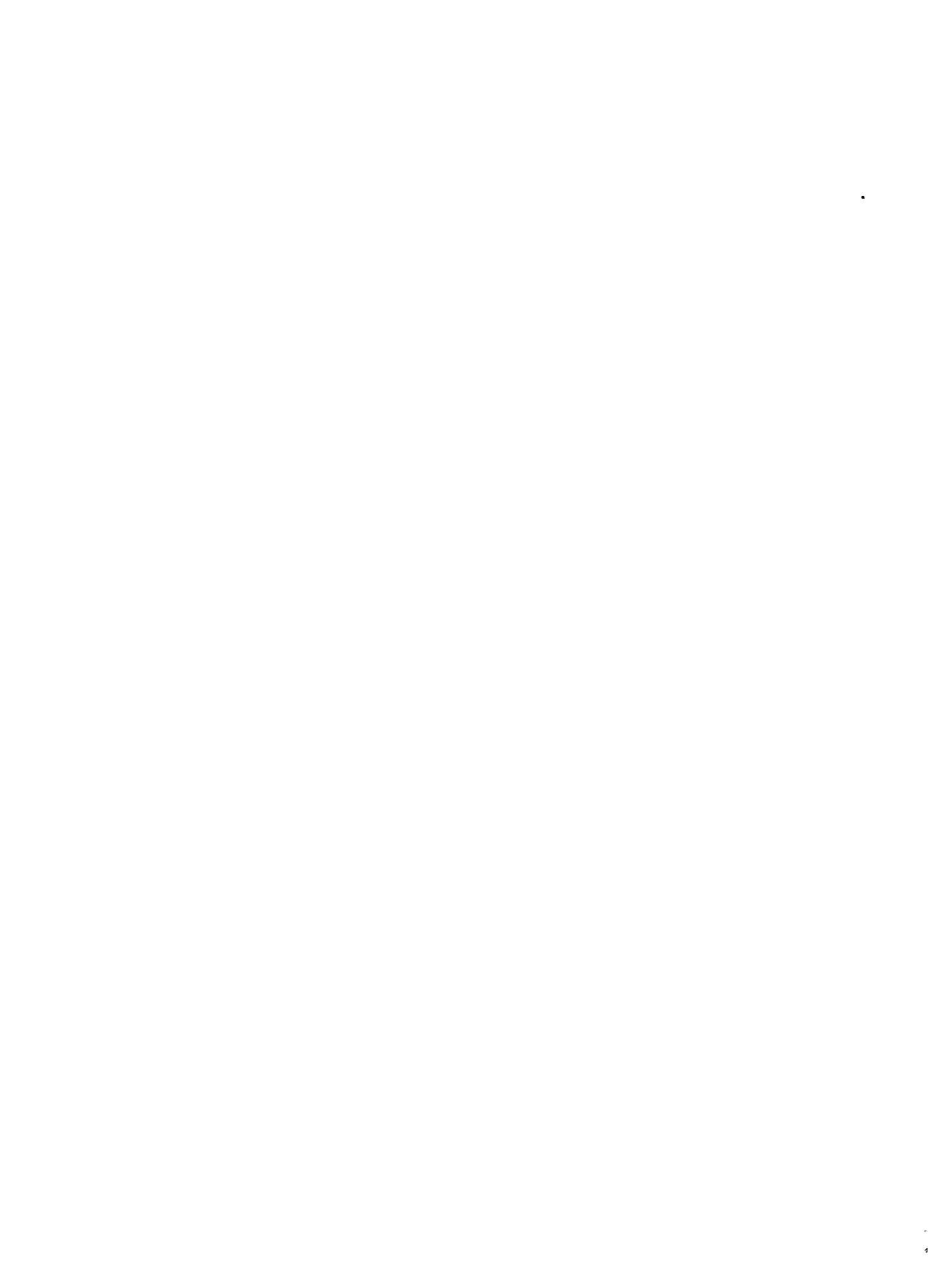
शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पृ. सं.	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पृ. सं.	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पृ. सं.
*अंतगडदसा		८२-२३त:२३-६	आगत	आगत	१००-३०	अंत	अंत	१००-३०
+आउरपचक्रवाण		७०-२२	आभीषतता	आभीषतता	१००-३०	आउर	आउर	७०-२२
आउं		८९-१५	आभयनतरताः	आभयनतरताः	१००-३०	आउं	आउं	८९-१५
आपस = प्रकार		५५-२८, १५९-३	+अभयानुगत-अभिमानाभय	अभयानुगत-अभिमानाभय	१००-३०	आपस	आपस	५५-२८, १५९-३
" = सूत्र		५६-२, १५९-१९	आय	आय	१००-३०	" = सूत्र	" = सूत्र	५६-२, १५९-१९
आगम	आगम	९६-५, १	+आयचार्य - अर्थदर्शकविभाग	आयचार्य - अर्थदर्शकविभाग	१००-३०	आगम	आगम	९६-५, १
*आगमओ द्वाणुण्णा		१७१-१९त:२८	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	*आगमओ द्वाणुण्णा	*आगमओ द्वाणुण्णा	१७१-१९त:२८
आगमतः		१८२-३०, ११	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आगमतः	आगमतः	१८२-३०, ११
आगमतो द्रव्यनन्दि		२-७, ८	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आगमतो द्रव्यनन्दि	आगमतो द्रव्यनन्दि	२-७, ८
आगमतो आगमओ		१७१-२९, ता:	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आगमतो आगमओ	आगमतो आगमओ	१७१-२९, ता:
द्रव्यानुज्ञा	द्रव्यानुज्ञा	१७३-२४	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	द्रव्यानुज्ञा	द्रव्यानुज्ञा	१७३-२४
आगमतो भावनन्दि		२-१७, १८	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आगमतो भावनन्दि	आगमतो भावनन्दि	२-१७, १८
आगमशास्त्र	आगमसत्य	९४-४त:७	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आगमशास्त्र	आगमसत्य	९४-४त:७
आगमसिद्ध		१२३-२१	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आगमसिद्ध		१२३-२१
आगर		७९-२२, २३	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आगर		७९-२२, २३
आगृहीत	आघत्रिय	१७४-१६	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आगृहीत	आघत्रिय	१७४-१६
आघविज्जंति	आख्यायन्ते	६७-८, १६४-१३	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आघविज्जंति	आख्यायन्ते	६७-८, १६४-१३
आचार	आयार	७५-७, ८, १२	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आचार	आयार	७५-७, ८, १२
आचार्य=दर्शनान्त-	आयरिय	१७७-१	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आचार्य=दर्शनान्त-	आयरिय	१७७-१
" = निर्ग्रन्थाचार्य	आयरिय	१७७-२०	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	" = निर्ग्रन्थाचार्य	आयरिय	१७७-२०
आतुर	आउर	७२-११	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आतुर	आउर	७२-११
आतुरप्रत्याख्यान	आउरपचक्रवाण	७२-१०	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आतुरप्रत्याख्यान	आउरपचक्रवाण	७२-१०
		त:१३	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०			त:१३
आत्मप्रदेशान्तर्गत[अवधिज्ञान]		११५-३०	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आत्मप्रदेशान्तर्गत[अवधिज्ञान]		११५-३०
आत्ममध्यगत [अवधिज्ञान]		११५-३२	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आत्ममध्यगत [अवधिज्ञान]		११५-३२
		त: ११६-१	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६			त: ११६-१
आत्मवादिन्		७८-६	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आत्मवादिन्		७८-६
आत्मविशुद्धि	आयविसोहि	७१-३०त:७२-१	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	आत्मविशुद्धि	आयविसोहि	७१-३०त:७२-१
आदेश = प्रकार	आएस	५५-३, ११२-३०;	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आदेश = प्रकार	आएस	५५-३, ११२-३०;
" = सूत्र		१४९-५; १८३-६	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	" = सूत्र		१४९-५; १८३-६
आनुगामुक[अ-आणुगामि-		२३-२; ११५-	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आनुगामुक[अ-आणुगामि-		२३-२; ११५-
वधिज्ञान]	यओहिणाण	१८, १९	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	वधिज्ञान]	यओहिणाण	१८, १९
आभिनिवोहिय		१५२-४, ५, १३, १४	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आभिनिवोहिय		१५२-४, ५, १३, १४
* " " " "		४४-१८	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	* " " " "		४४-१८
आभिनिवो-	आभिनिवो-	१८-१८त:२३;	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०	आभिनिवो-	आभिनिवो-	१८-१८त:२३;
धिक + दान	हियणाण	४५-१३; १११-	*आयार	आयार	७५-२८, १५९-६	धिक + दान	हियणाण	४५-१३; १११-
		१४त:३०; १२७-	+आयचिन्तोक्ति	आयचिन्तोक्ति	१००-३०			१४त:३०; १२७-

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-परिच्छेद	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-परिच्छेद	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-परिच्छेद
कूर्मेन्नता[योनि]	कुमुत्तया	१००-२१, २३	*स्वायोवसमिय [ओहिणाण]		२२-२५, १०,११	गुण = गुणगण	गुण	१६६-२
+§केउभूय = दृष्टिवादप्रविभाग		८४-२३,२७; ८६-४,७,११,१५,१९	+खुट्टियाविमाणपविभक्ति		७२-२१	गुरु	गुरु	४-६
+§केउभूयपडिगह = ,,		८५-२४;८६-१, ४,८,१२,१६,२०	*खेत्तओ थाभिणिनोदियणाणि [मणपज्जवणाण]		५५-२०	गुणवान्नोपगम	गुणयथोपगम	१०२-
केवलज्ञान	केवलणाण-	१९-५त:८; ४३-२६	*खेत्तओ उज्जुमति		३५-१;२,३	गोत्तर	गोत्तर	७५-१२
+§कोडलय = शास्त्र		६४-१९	[मणपज्जवणाण]			गौरगम		१६४-२५
+§कोलवाल = प्राणिविशेषवाल		१३९-२३	*खेत्तओ थोहिणाणि		३०-७,८	अन्थिम	मथिम	१७०-३०,३१
कोष्ठक	कोष्ठ	५१-२६,२७	*खेत्तओ केवलणाणि		४०-५,६	आत्त	मत्त,गेत्त	१०४-२४
कौटुम्बिक	कौटुम्बिअ	१७५-२२	*खेत्तओ विउलमति-		३५-४,५	घट		१६०-२०
क्रियावादिन्	किरियावादि	७७-३० त: ७८-१	[मणपज्जवणाण]			भोउ + य		१७५-१७;१७६-१८
क्रियाविशाल	किरियाविशाल	१६७-७,८	*खेत्तओ सम्मसुय		६५-२५	+§गोलचम्म = चामगोलक		१३८-३
क्षयोपशम		१२३-६	*खेत्ताणुणा		१७७-२७,२८	घोपसम		१७२-५६
क्षायोपशमिक	खयोवसमिय	२१ २७,२८	खेदन्न		१००-२८	चतुरन्तसंसा	चाउरंतसंसा-	९४-४
[अवधिज्ञान]	[ओहिणाण]		+§खोडमुह = शास्त्र		६४-२०	रकान्तार	रकंतार	
क्षुल्लकप्रतर	खुट्टागपयर	३५-२३ त:३६- १०	गणाचच्छेदक	गणावच्छेयअ	१७७-२५	+§चपकलि+ = आनन्द+मान		१४२-२३
क्षुल्लिकाविमान-	खुट्टियावि-	७२-२९,३०	गणिन् = गणपालक,आचार्य गणि		६४- २,३,४	गाउत्त		१४२-२३
प्रविभक्ति	माणपविभक्ति		,, = गुणगणवान् आचार्य गणि		७१-२४ त: २७	चरक		१०१-८
क्षेत्रत ऋजुमति-	खेत्तओ उज्जु-	३५-२१	गणपिटक	गणपिटग	६४-२त:५	चरण	चरण	७२-९,१०;७५-१४
विपुलमति [मन:- मति-विउलम- त- ३६			गणविद्या	गणविज्ञा	७१-२४,२५	चरणविधि	चरणविहि	७२-९ १०
पर्यायज्ञान]	ति[मणपज्जवणाण]	-१९	गण्डिका	गंडिया	९०-९,१२;१६७-१०	+चरणविधि		७०-२२
क्षेत्रत: केवल-	खेत्तओ केव-	४०-९,	गण्डिकानुयोग	गंडियाणुओग	९०-९ १०	चरित्राचार	चरित्तायार	७५-२८,२९
ज्ञानिन्	लणाणि	१०,११	गम = समानसूत्रोच्चार-	गम	६९-१८ १९	चित्त		१०१-१९
क्षेत्रतोऽवधिज्ञा-	खेत्तओ ओ-	३०-२०.	लक्षण			+चित्तंतरगंडिया		९०-७
निन्	हिणाणि	२१,२२	१ = अर्थपरिच्छेद		७७-१,२	चित्र	चित्त	९०-११
क्षेत्रमध्यगत [अवधिज्ञान]		११६-२	गमिक [श्रुत] = गमियसुय		६९-१८ १९,	चित्रकर्म	चित्तकम्म	१७०-३०
क्षेत्रानुष्ठा	खेत्ताणुणा	१७७-२९ ३०	१ सूत्रोच्चारणलक्षणवत्,		२०;१६१-१२;	चित्रान्तरग-	चित्तंतरगं-	९०-११त:१४
क्षेत्रान्तर्गत [अवधिज्ञान]		११५-३१	२ सदशाक्षरालापक, दृष्टिवाद		१८५-२९	ण्डिका	डिया	
खउरकठिनक-कठिणय		१०५-२४,२५, दि १	गर्ज		१०३-२	चिन्ता	चिता	५१-१,२;६१-३,४
+§खकखर + सह = 'खट्-खट्'शब्द		१३८-४	गवेपणता	गवेसणया	५०-३०त:५१-१	चीरिक		१०१-८,९
+§खरुग = मुद्रिका		१३२-२९;१३४-२५	गवेपणा	गवेसणा	५८-१७,१८;६१-३; १५२-८	चुडली	चुडलिया	२३-२९
+§खायजाणम = खातज्ञायक,		१३७-२६	गद्यूत	गाउय	२८-२	+§चुतमचुतसे = दृष्टिवादप्रविभाग		८५-२१;
भूम्यन्तर्गतपदार्थज्ञानिन्			*गंडियाणुओग		९०-४त:८	णियापरिकम्म-		८६-१८,२१
			गायटुगद्ध		१६१-१३,१४	चुयमचुयं		८६ २०
			+गिदिलिगसिद्ध		३८-२४	+§चुयमचुयावत्त = ,,		८६ २०
			गुण = सहवर्तिन्		१०२-१,४	+§चुल्लकप्पसुय		७०-२६
			,, = कृष्ण-नीलादि		१४६-६	चूडा	चूलिया	९३-१,२
						चूलिका		७३-१
						चैत्य	चैड्य	१६५-१७,१८
						च्यावित	चितिय	१७४-८,९

शब्द	मूलशब्द-आदि	पत्र-पङ्क्ति	शब्द	मूलशब्द-आदि	पत्र-पङ्क्ति	शब्द	मूलशब्द-आदि	पत्र-पङ्क्ति
प्रभावना	प्रभाषणा	१६३-१८,१९	शुद्धि	शुद्धि	१५३-१५,१६	भ्रातृभो केवलभाषि		७७-१
प्रमत्तसंयत	प्रमत्तसंयम	३४-१९,१७	+शुद्धि = अक्षयशत,		५१	भ्रातृभो विद्वन्मति		१५,१७,१७
प्रमाद	प्रमाय	१६२-२३	बोधिलाभ	बोधिलाभ	३६९-२२	[मणपञ्चवर्णाण]		
प्रमादाप्रमाद	प्रमायप्रमाय	७०-२८	[भक्त]प्रत्याग्यान भक्तप्रत्याग्यान		१३३-१०	भ्रातृभो मम्मसुय		३५-२८,३६-११
प्रयत्न		१५७-१०	भग	भग	३-२३,२५,३३-३५	भ्रातृभो केवल-	भ्रातृभो	४०-१२
प्ररूपित	परुहिय	१७४-१६,१७	भगवत्	भगवत्-भगवत्	३-२६,६३-३	प्रानिन्	के लण्णाणि	
प्ररूप्यन्ते	परुहिवृत्ति	६७-९;१६४-१३,१४			तः११	भ्रातृभोऽवभि-	भ्रातृभो	३०-२४,
प्रवर्तक	पवति	१७७-२१तः२३	भङ्गिका	भंगिका	१२-२५	ज्ञानिन्	भोहिणाणि	२५
प्रव्रज्यापर्याय	पव्वज्जापरियाग	१६५-२०	भणक	भणग	१२-५	भ्रातृभोऽन्दि		२-१७तः१९
प्रश्न	पसिण	१६६-१७	भम्भा		९९-१८	भ्रातृभोऽन्दि		७२-८
प्रश्नव्याकरण	पण्हावागरण	८४-१४	भर	भर	१०८-१२	भ्रातृभोऽन्दि		७२-८
प्रश्ना-ऽप्रश्न	पसिणा-ऽपसिण	१६६-१८	भरनिस्तरणसमर्थ	भरणिहारण-	४८-१३	भ्रातृभोऽन्दि		१७८-९तः१८
प्रसङ्ग	पसंग	४८-२४		समर्थ		भ्रातृभोऽन्दि		१७८-१९तः२१
प्राज्ञाप्त	पण्यत्त	१८-१४,१५	भव	भा	२१-२६,३७-१२	भ्रातृभोऽन्दि		२०-२६,२७
प्राण	पाण	१००-२५	भवप्रत्यय[अ-	भवपगतिय	२१-२६,२७	भ्रातृभोऽन्दि		१०२-७
प्राणापानपर्याप्ति		३४-३,४	वधिदान]	[ओहिणाण]		भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
प्राप्तद्धि	इडिडपत्त	३४-१८	भवसिद्धिक	भवसिद्धीय	६६-२२	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
प्रावचनिक		१०२-१२	भवस्थ-	भारतकेवलज्ञान	३७-१२,१३	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
प्रावादुक	पावादुय	७९-२	केवलज्ञान			भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
प्रेर		११६-५	*भवियसरीरद्रव्याणुण्णा		१७४-२३तः२६	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
फडुक		११५-२८;१८३-१३,१४	भव्य	भविय, भवसिद्धिय	९३-२१	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
फडुकावधिज्ञान		११५-२९	,, = विवक्षितपर्यायार्ह, भविय		१७४-२७,२८	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
फल = प्रयोजन	फल	४८-६	भव्यशरीरद्रव्यनन्दि		९९-१०,११	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
फलविपाक	फलविवाग	१६६-२३,२४	भव्यशरीर-	भवियसरी-	१७४-२७तः	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
फिडिय = निर्गत		१८२-२७	द्रव्यानुज्ञा	रद्व्याणुण्णा	१७५-७	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
वद्ध	वद्ध	५७-३१	+भंडग = आमरण		१७६-९,१२,२५	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
वद्धस्पृष्ट	वद्धस्पृष्ट	१५१-३,४,५	भाज्य	भइयव	२८-१७,२१	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
+वहुभंगिय = दृष्टिवादप्रविभाग		८७-१०	भामण्डल		१०१-२,३	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
+वहुल =		८७-११	भाव = पर्याय		३०-२४;९९-१३	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
वाढकार	वाढकार	९६-२०	,, = सत्ता स्वलक्षण		४३-१८;१२६-११	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
वाहिरावहि		१२०-७,८	,, = पदार्थ		६७-८;७७-९;९३-१३;	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
वाह्यग्रन्थ		१६३-१३	,, = अस्तित्वादि		१६४-१२	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
वाह्यतपः		५-२९	*भावओ आभिणिबोहियणाणि		५५-२२	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
वाह्या भ्रमि		१०१-७	*भावओ उज्जुमति		३५-८,९	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
बुद्ध = आचार्य, बुद्ध		३९-१४	[मणपञ्चवर्णाण]			भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
बुद्धबोधितसिद्ध		३९-१४	*भावओ ओहिणाणि		३०-११,१२	भ्रातृभोऽन्दि		३४-४
+बुद्धबोहियसिद्ध		३८-२४				भ्रातृभोऽन्दि		३४-४

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पङ्क्ति	अक्षर	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पङ्क्ति	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पङ्क्ति
वराटक	वराउभ	१७१-२	विद्या		१२१-२०	नेत्र		७३-७
वरुणोववाय		७२-२२	विद्याचरणनि	विद्याचरण-	७१-२२,२३	भोग्यता तुक्ति		१४२-१६
वर्ग = अध्ययनसमूह, वर्ग	७३-२; ८५-१:		निश्चय	निश्चय		वेदिका		११०-२१
		१६६-१३	विनय = शुकनृपा, विनय		५०-२५	+नेपालिय - विनायि		८७-११
वर्गचूलिका	वर्गचूलिया	७३-१,२	" = ज्ञानादि		५१-१३	+नेपालीय - विनायकविभाग		८७-११
वर्द्धमान[अव- धिज्ञान]	वर्द्धमानओ- हिणाण	२३-३,४: २६-६तः२८-३२: ११५-२१	विपाकश्रुत	विपाकश्रुत	८१-१०	+नेलेभरोनवाग		७२-२३
वल्क	वाग	१२७-१८,२०	विपुल	विपुल	३५-२५	वेदिम	वेदिम	१००-३१;१७१-१
वस्तु	वस्तु	१६७-९	विपुलतर + क	विपुलतर + क	३६-२०,२१, २६;१२२-२५,३०	वैनयिक = कर्मशायादि फल, नेणड्या		७५-१३
+*वंजणकखर		५९-१५	विपुलमति[म- नःपर्ययदान]	विपुलमति[म- नःपर्ययदान]	३५-२५तः २७;१२१- २०तः२७	" = दार्शनिक		७८-३०,३१
वंह		८९-१२	+विप्पजहणावत्त = दृष्टिवाद्प्रतिभाग		८६-१६	वैनयिकी [तुक्ति]	नेणड्या	५७-२५;४८- तुक्ति
+§वंसपत्ता [जोणि] = योनिविशेष		१००-२३	विप्रमुक्त	विप्रमुक्त	१७४-१०,११	व्यञ्जनाक्षर	तंजणमगर	५९-१६तः१८; १५२-२८
वाग्भोग = वाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याद्		३७-२६;	विप्रापक=अर्धविशेष		१०२-८	व्यञ्जनावप्रत	तंजणोमह	४९-१८,१९
जीवव्यापार, वाक्परिस्पन्द.		१२६-२४	विमर्ष	विमर्ष	५१-२,३;५८- १६,१७;६१-४,५;१५२-७	व्यतिजन्ति	विश्वयंति	१६९-१३
वाग्नीर्य			विमानप्रविभक्ति	विमानप- विभक्ति	७२-२८,२९	व्यत्याघ्रेडित	विनामेलिय	११०-१०
वाचक + वंश	वायग + वंश	१२-१७,१८	+§वियत्थि = वितस्ति			व्यपगत	ववगय	१७४-७
वाचना	वायणा	१७२-१९	*वियाड		८०-१३तः२३	व्यवच्छित्तित-	विउच्छित्ति-	६५-१६,१७
वात्सल्य	वच्छल	१६३-१८	विरमण	वेरमण	१६६-२,३	यार्थता	णयट्टया	
वाद	वाअ	८५-१५	विराधना		१६९-११	व्यवसाय	ववसाय	५७-३
वाम्य	वम्म	१०४-२१	*विवागसुत		८४-२०तः८५-९	व्यवहार	ववहार	१७३-५
वार्तिककर = अर्थविशेष		१०२-८,९	+विवाहचूलिया		७२-२२	व्याकरण	वागरण	१२-२१
वासना = मतिज्ञानभेद, स्थापना		१४५-५,६; १५०-२७	विशुद्ध	विशुद्ध	४८-५	व्याख्या	विद्याह	७३-२;८०-२४; १६५-१३
विश्वइस्संति	व्यतित्रजिष्यन्ति	१६९-१३	विशुद्धतर	विशुद्धतर	३६-२१,२६; १२२-३०	व्याख्याचूलिका	विद्याहचूलिया	७३-३
विश्वइंसु = व्यक्तिकान्तवन्तः,		९४-१६;	विशुद्धफडुक		११६-१०	व्याख्यान	वक्खण	१५-१०
व्यतित्रजितवन्तः		१६९-१२	विसाल		८९-१६	व्यूह	बुह	७९-३;१६४-१६,१७; १८६-१३
विश्वव्यंति = व्युत्क्रामन्ति		९४-१७	+विहारकल्प		७०-२२	शङ्खावर्ता	संखवत्ता	जोणि
विकृष्ट [तपः]		१६२-२२	विहारकल्प	विहारकल्प	७२-८,९	शत = अध्ययन,	सत	१००-२१,२३
विचारण	वियालण	५७-२	वीतरागश्रुत	वीतरागसुय	७२-१,२	शब्दनय	सहनय	१६५-१५
+§विजयचरिय = दृष्टिवाद्प्रविभाग		८७-१०	+वीरारायसुत		७०-२२	शय्या	सेजा	१७३-२०
+विज्ञाचरणविणिच्छअ		७०-२१	+§वीरिय = पूर्व		८८-२	शय्यागत	सेजागय	१७४-१२,१३
विज्ञप्ति	विज्ञप्ति	४३-१९;१२६- ११,१२	वीर्याचार	वीरियाचार	७६-१,२,३	शरीरपर्याप्ति		३४-२
विज्ञान	विष्णाण	५१-१५	वृत्ति	वित्ति	७५-१५	शाश्वत		१००-२९
विज्ञायक	वियाणअ	३-६	वृत्तिदशा		१८६-२	शास्त्र	सत्थ	९६-५;१६९ २०,२१
वित्तिमिरतर + क	वित्तिमिरतराग	३६- २४,२६;१२२-३०;१२३-७				शिक्षा	सिक्खा	७५-१३

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पृष्ठ-वर्ष	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पृष्ठ-वर्ष	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पृष्ठ-वर्ष
+संवट्ट = संकोचन		१०३-२०	मकमात्रलोमता	मक	१०३-२०	विभक्ति	विभक्ति	१०३-२०
संवर = प्रत्याख्यानरूप		१-१३	सुनिष	सुनिष	१०३-२०	विभक्ति-प्रत्यय	विभक्ति-प्रत्यय	१०३-२०
+ ,, = अनुज्ञा		१०३-२०	*सुन	सुन	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
संवर्त संवत्		१२२-१५	सुप्रणिभान	सुप्र	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
संवर्तकमेघ		१०३-२०	सुप्र	सुप्र	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
संवाद संवाय		१६६-२१	*सुप्रपञ्चान	सुप्र	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
संवित्		१११-५	*सुप्रणान	सुप्र	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
संवृतयोनि संवृजोणि		१००-१६, १८	*सुप्रणानलंभ	सुप्र	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
संवृतविवृता संवृडवियडा		१००-१६, २१	सुसम	सुसम	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
[योनि]	[जोणि]		सुसमदूसमा	सुसम	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
+§संसारपडिगह = दृष्टिवादप्रविभाग		८५-२४;	सुत्र	सुत्र	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
		८६-१, ५ ८, १२, १६, २०	सुत्रकृन्	सुत्रकृन्	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
संस्तार संथार		१०४-१३	*सुप्रपञ्च	सुप्र	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
संस्तारगत संथारगत		१०४-१३	सुप्रप्रज्ञप्ति	सुप्र	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
साचिद्व्य		११६-१५	ने = अण	ने	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सादि सादीयं		६५-१६	,, = तस्य	,,	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सादिसपर्यवसान आईनिहणत्त		४१-१	सेणिट्टन	सेणिट्टन	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सामान्यार्थाव- सामण्णत्था-		१५०-१९,	सेनापत्ति	सेनापत्ति	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
ग्रहण	वगग्रहण	२०	सेयकाल	सेयकाल	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
साम्परायिकसात		१०१-५	सेल	सेल	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सार		४८-२२	+§सोवद्विथ्यपपण = दृष्टिवादप्रविभाग		८५-११	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सार्थवाह सत्थवाह		१०५-२५तः२७	सकन्ध	सकन्ध	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सित		१२३-२३	सथच्चिर	सथच्चिर	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सिद्ध		३७-१३तः१९; १६९-८	स्थान	स्थान	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सिद्धकेवलज्ञान सिद्धकेवलणान		३७-१३	स्थापना = धारणा, ठवणा	स्थापना	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
		तः२०	(मतिज्ञानमेद)	(मतिज्ञानमेद)	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सिद्धशिलात सिद्धशिलातलमय		१०४-१४	स्थापनानन्दि	स्थापनानन्दि	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
लगत्त			स्थापनानुज्ञा	स्थापनानुज्ञा	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
+§सिद्धावत्त = दृष्टिवादप्रविभाग		८५-२५	स्थापनापुञ्जा	स्थापनापुञ्जा	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सिहरि		७९-२०	स्थासक = आदर्श, धासम	स्थासक	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०
सिगनाइय		१८६-१	स्थित	स्थित	१०३-२०	सम्प्रसार	सम्प्रसार	१०३-२०



पत्रस्य पृष्ठी	शब्दार्थः	विशेषणम्	पत्रस्य पृष्ठी	शब्दार्थः	विशेषणम्
१०८	१९	सप्त पं	१०८	१९	सप्त पं
११४	३२	योग-देवी	११४	३२	योग-देवी
११६	५	आदिप्रकाश	११६	५	आदिप्रकाश
"	१५	११	११६	२१	११
"	२७	'संक्षिप्तम्'	"	२७	'संक्षिप्तम्'
"	३१	'लादि'	११३	३०	संक्षिप्तम्
११७	२०	सूक्ष्मार्थ	११३	२	संक्षिप्तम्
११८	१३	'संश्लेषका'	११५	८	संक्षिप्तम्
"	२२	'तम्। पं. १६	११५	१५	संक्षिप्तम्
"	"	'वृद्धौ'	११५	१६	संक्षिप्तम्
११९	१	तदाऽङ्गल'	११८	२०	'भूतार्थ'
"	१४	'दिपु'-	११९	१३	'संज्ञा-य'
"	२६	'अन्तराद्'	"	३१	राजः
१२५	१७	'योगभावे	१६३	३	जरातीयं धूम्र-
१२७	१६	तयोर्भेद	१६५	२	७७
१४०	९	१२	"	१०	१५
१४१	२६	दिष्टो	"	२५	२०
१४२	१४	निगच्छंती	१७४	१४	सिद्धशिला'
"	२४	आहा	१७५	२२	कौटुम्बिकः
१४४	२	'णयासमत्ता	१८५	शिर्षके 'सज्ञ'	'सज्ञ'
१४५	२३	'मित्यादिका			



-Demy Quarto size, Pages 114 : Price Rs. 12

This is the earliest Prakrit text on the subject of Pancha Mahabhuta. It was written in the 10th Century A. D. by Vimala. The work is printed with the Hindi translation. It is edited by Muni Shri Punyavijayaji and translated by Prof. S. M. Vora, M. A., Director, Indore : Pr. It is published by the Indore : Pr. It is published by the Indore : Pr.

7. PĀTASADDAMĀHĀNĀVA

-Demy Quarto size..Pages 64-932. Price Rs. 22 for student edition and Rs. 34 for the library edition

This great Prakrit-Hindi Dictionary is published in its second edition adding some new words.

8. NANDISŪTRACŪṆI

-Demy Quarto size, Pages 104 : Price Rs. 12

Nandisūtra with its Cūṇi is critically edited by Muni Shri Punyavijayaji for the first time. Five indices have been added at the end.

WORKS IN THE PRESS.

1. PAUMACARIAM Part II

-Demy Quarto size..

The second part of this great work will be published very soon.

2. PĀSACARIU

-Demy Quarto size..

This work is critically edited and translated in Hindi by Prof. P. K. Modi, Principal, Sanskrit College, Indore.

This is a work on the life of Pārśvanātha, the 23rd Tirthaṅkara in Apabhraṃśa language.

3. SŪTRAKṚITĀNGA

-Demy Quarto size..

Sūtrakṛtāṅga is an important canonical text of the Jains. It gives the fare idea of the various Sects and Philosophical Schools of the sixth Century B. C. and also deals with fundamental teachings of Lord Mahāvīra.

This is critically edited by Muni Shri Punyavijayaji with two commentaries in Prakrit, viz. Niryukti and Cūṇi.

4 DASAKĀLIKA.

-Demy Quarto size..

Dasakālika is written by Śayyambhava in the 4th Century B. C. It will be published with Niryukti and Cūṇi of Agastyaśiṃha for the first time. It deals with the conduct of the Jaina Monks.

It is edited by Muni Shri Punyavijayaji.

5. PUHAVICANDACARIYAM

This work written by Ācārya Śāntisūri deals with the famous story of Pṛthvicandra, It is a fine piece of ornate Prakrit poetry.

6. MŪLAŚUDDHI

The text is written by Ācārya Pradyumnasūri and is commentated by Ācārya Devacandra the Guru of Hemacandrasūri. This important work contains many stories regarding purity of the faith etc.



E

A.

tr

-

-

i

.

काले चरणह बुद्धी, कालो भइयव्वु खेत्तबुद्धीए ।

बुद्धीए दव्व-पज्जव भइयव्वा खेत्त-काला उ ॥ ५१ ॥

सुहुमो य होइ कालो, ततो सुहुमयस्यं हवइ खेत्तं ।

अंगुलसेढीमेत्ते ओसप्पिणिओ असंखेज्जा ॥ ५२ ॥

5 से तं वड्डमाणयं ओहिणाणं ३ ।

२४. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् वर्द्धमानकम् ? 'वर्द्धमानकं' वर्द्धमानमेव वर्द्धमानकं प्रशस्तेष्व-
ध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्य वर्त्तमानचारित्रस्य । इहौघतो द्रव्यलेश्योपरञ्जितं चित्तमध्यवसायस्थानमुच्यते, अस्य
चानवस्थितत्वात् तद्रव्यसाचिव्ये सति विशेषभावाद् बहुत्वमिति । तत्र 'प्रशस्तेषु' इत्यनेनाप्रशस्तकृष्णालेश्यादि-
द्रव्योपरञ्जितव्यवच्छेदमाह । अध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्य, प्रशस्ताध्यवसायस्येत्यर्थः, 'सर्वतः' समन्तादवधिः
10 परिवर्द्धत इति योगः, अनेनाविरतसम्यग्दृष्टेरपि वर्द्धमानक उक्तो वेदितव्यः । वर्त्तमानचारित्रस्येत्यनेन तु देशविरत-
सर्वविरतयोरिति । 'विशुध्यमानस्य' तदावरणकर्ममलविगमादुत्तरोत्तरं शुद्धिमनुभवतः अविरतसम्यग्दृष्टेरेव, अने-
नावधेः शुद्धिजन्यत्वमाह, विशुध्यमानचारित्रस्य देश-सर्वविरतस्य सर्वतः समन्तादवधिः परिवर्द्धत इति, ततः
परिवर्द्धत इत्युक्तम् ॥ अथ सर्वजघन्योऽयं कियत्प्रमाणो भवति ? इति प्रश्नसम्भवे क्षेत्रतः प्रतिपादयन्नाह—

जावइया० गाहा । व्याख्या—'यावती' यावत्प्रमाणा, आहारयतीत्याहारकः, त्रिसमयं आहारकः त्रिसमया-

15 हारकः, त्रीन् वा समयानिति तस्य । सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मस्तस्य । पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवः, वनस्पति-
विशेष इत्यर्थः, तस्य । अत्रगाहन्ते यस्यां प्राणिनः सा अत्रगाहना, तन्नुरित्यर्थः । 'जघन्या' सर्वस्तोका । अवधेः
क्षेत्रं अवधिक्षेत्रम् । 'जघन्यं' सर्वस्तोकम् । तुवाब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, तस्य चैवं प्रयोगः—अवधिक्षेत्रं
जघन्यमेतावदेवेति । अत्र च सम्प्रदायसमधिगम्योऽयमर्थः—

योजनसहस्रमानो मत्स्यो मृत्वा स्वकायदेशे यः । उत्पद्यते हि' सूक्ष्मः पनकत्वेनेह स ग्राह्यः ॥ १ ॥

20 संहृत्य चाऽऽद्यसमये स ह्यायामं करोति च प्रतरम् । सङ्ख्यातीताख्याङ्गुलविभागवाहल्यमानं तु ॥ २ ॥

स्वकतनुपृथुत्वमात्रं दीर्घत्वेनापि जीवसामर्थ्यात् । तमपि द्वितीयसमये संहृत्य करोत्यसौ सूचिम् ॥ ३ ॥

सङ्ख्यातीताख्याङ्गुलविभागविष्कम्भमाननिर्दिष्टाम् । निजतनुपृथुत्वदैर्घ्यां तृतीयसमये तु संहृत्य ॥ ४ ॥

उत्पद्यते च पनकः स्वदेहदेशे स सूक्ष्मपरिणामः । समयत्रयेण तस्याऽत्रगाहना यावती भवति ॥ ५ ॥

तावज्जघन्यमवधेरालम्बनवस्तुभाजनं क्षेत्रम् । इदमित्थमेव मुनिगणसुसम्प्रदायात् समवसेयम् ॥ ६ ॥

25 अत्र काश्चिदाह—किमिति महान् मत्स्यः ? किं वा तस्य तृतीयसमये निजदेहदेशे समुत्पादः त्रिसमयाहारकत्वं

वा कल्प्यते ? इति, अत्रोच्यते, स एव हि महामत्स्यस्त्रिभिः समयैरात्मानं सङ्क्षिपन् प्रयत्नविशेषात् सूक्ष्मा-

यगाहनो भवति, नान्यः; प्रथम-द्वितीयसमययोश्चातिसूक्ष्मः, चतुर्थादिषु चातिसूक्ष्मः, त्रिसमयाहारक एव च तद्योग्य

इत्यतस्तद्ग्रहणमिति । अन्ये तु व्याचक्षते—त्रिसमयाहारक इति आयामविष्कम्भ संहारसमयद्वयं सूचिसंहरणोत्पा-

दसमयधैते त्रयः समयः, विग्रहाभावाच्चाऽऽहारक एतेष्वित्यत उत्पादसमय एव त्रिसमयाहारकः सूक्ष्मः पनकजीवो

30 जघन्यायगाहनश्च, अनस्तत्प्रमाणं जघन्यमधिक्षेत्रमिति, एतच्चायुक्तम्, त्रिसमयाहारकत्वस्य पनकजीवविशेषणत्वात्,

मत्स्यायाम-विष्कम्भसंहरणसमयद्वयस्य च पनकसमयायोगात् त्रिसमयाहारकत्वाख्यविशेषणानुपपत्तिप्रसङ्गात् । अलं

१. हि पनकः सूक्ष्मत्वेनेह मत्स्यगिरिवृत्तौ ॥

प्रसङ्गेनेति गायार्थः ॥४५॥ एवं तावज्जयन्यमवधिक्षेत्रमुक्तम् । इदानीमुत्कृष्टविभागमभिधातुकाम आह—

सञ्चवहुअगणिजीवा० गाहा । व्याख्या— सर्वेभ्यः—विभक्तकालावस्थायिभ्योऽनलजीवेभ्य एव बहवः सर्ववहवः, न भूत-भविष्यद्भ्यो नापि शेषजीवेभ्यः । कुतः ? असम्भवात् । अग्रयश्च ते जीवाश्च अग्निजीवाः, सर्ववहवश्च ते अग्निजीवाश्च सर्ववह्वग्निजीवाः । निरन्तरमिति क्रियाविशेषणम् । 'यावद्' यावत्परिमाणं 'भृतवन्तः' व्याप्तवन्तः 'क्षेत्रम्' आकारम् । एतदुक्तं भवति—नैरन्तर्येण विशिष्टसूचिरचनया यावद् भृतवन्त इति । भूतकाल-निर्देशश्च 'अजितत्वामिकाल एव प्रायः सर्ववहवोऽनलजीवा भवन्त्यस्यामत्रसर्पिण्याम्' इत्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थम् । इदमनन्तरोदितविशेषणं क्षेत्रमेकदिकमपि भवति अत आह—सर्वदिकम्, अनेन सूचीपरिभ्रमणप्रमितमेवाह । परम-श्वासावधिश्व परमावधिः क्षेत्रम्—अनन्तरव्यावर्णितं प्रभूतानलजीवमितमङ्गीकृत्य निर्दिष्टः क्षेत्रनिर्दिष्टः प्रतिपादितो गणधरादिभिरिति, ततश्च पर्यायेण परमावधेरेतावत् क्षेत्रमित्युक्तं भवति । अथवा सर्ववह्वग्निजीवा निरन्तरं यावद् भृतवन्तः क्षेत्रं सर्वदिकं एतावति क्षेत्रे यानि अवस्थितानि द्रव्याणि तत्परिच्छेदसामर्थ्ययुक्तः परमावधिः क्षेत्रम-ङ्गीकृत्य निर्दिष्टः, भावार्थस्तु पूर्ववदेव । अयमक्षरार्थः । इदानीं साम्प्रदायिकः प्रतिपाद्यते—तत्र सर्ववह्वग्निजीवा वादराः प्रायोऽजितत्वामितीर्थकरकाले भवन्ति, तदारम्भकपुरुषवाहुल्यात्, सूक्ष्माथोत्कृष्टपादिनस्तत्रैवावरुध्यन्ते, ततश्च सर्ववहवो भवन्ति, तेषां च बुद्ध्या पोढाऽवस्थानं कल्प्यते—एकैकक्षेत्रप्रदेशे एकैकजीवावगाहनया सर्वतश्च-तुरस्रो घनः प्रथमम् १, स एव जीवः स्वावगाहनया द्वितीयम् २, एवं प्रतरोऽपि द्विभेदः ३-४, श्रेण्यपि द्विभेदा ५-६, तत्राऽऽद्याः पञ्च प्रकारा अनादेशाः, क्षेत्रस्याल्पत्वात् क्वचित् समयविरोधाच्च, पृष्ठप्रकारस्तु सूत्रादेश इति । ततश्चासौ श्रेणी अवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु शरीरपर्यन्तेन भ्राम्यते, सा चासहचयेयानलोके लोकमात्रान् क्षेत्रविभागान् व्याप्नोति एतावदवधिक्षेत्रमुत्कृष्टमिति । सामर्थ्यमङ्गीकृत्यैवं प्ररूप्यते, एतावति क्षेत्रे यदि द्रष्टव्यं भवति पश्यति, न त्वलोके द्रष्टव्यमस्तीति गायार्थः ॥४६॥ एवं तावज्जयन्यमुत्कृष्टं चावधिक्षेत्रमभिहितम् । इदानीं विमध्यमप्रतिपिपादयिषया एतावत्क्षेत्रोपलम्भे चैतावत्कालोपलम्भे तथा एतावत्कालोपलम्भे चैतावत्क्षेत्रोपलम्भ इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय चेदं गाथाचतुष्टयं जगाद शास्त्रकारः—

अंगुलमाचलियाणं० गाहा । हृत्थम्मि० गाहा । भरहृम्मि० गाहा । संखेज्जम्मि ३० गाहा । आसां व्याख्या—'अङ्गुलं' क्षेत्राधिकारात् प्रमाणाङ्गुलं गृह्यते, अवध्यधिकारावोच्छ्रयाङ्गुलमित्येके । आवलिका—असहचयेयसमयसङ्घातोपलक्षितः कालः, उक्तं च—“असंखेयाणं नमयाणं नमुदयसमितिमनागमेणं एणा आवलिका चि बुद्धि” [अनुयो० सूत्रं १३८ पत्रं १७८-२] अङ्गुलं च आवलिका च अङ्गुल्या-ऽऽवलिकं नयोऽङ्गुल्या-ऽऽवलि-कयोर्भागमसहचयेयं पश्यति अवधिज्ञानी । एतदुक्तं भवति—क्षेत्रमङ्गुलमाहचयेयभागमात्रं पश्यन् काल्य आवलिका-या असहचयेयमेव भागं पश्यति अतीतमनागतं चेति । क्षेत्र-कालदर्शनसुस्चारंणोच्यते, अन्यथा हि क्षेत्रव्यवस्थितानि दर्शनयोग्यानि द्रव्याणि तत्पर्यायांश्च विवक्षितकालान्तर्वर्तिनः पश्यति, न तु क्षेत्र-कालो, न तु द्रव्यालम्बनव्याप्त्यं, एवं सर्वत्र भावना द्रष्टव्या । त्रिव्या च गाथाचतुष्टयेऽप्यध्याहार्या । तथा 'द्वयोः' अङ्गुल्या-ऽऽवलिकयोः सहचयेयो भागो पश्यति, अङ्गुलसहचयेयभागमात्रं क्षेत्रं पश्यन्माचलिकायाः सहचयेयभागमेव पश्यतीत्यर्थः । तथा अङ्गुलं पश्यन् क्षेत्रत आवलिकान्तः पश्यति, भिन्नामाचलिकान्तित्यर्थः । तथा काल्य आवलिकां पश्यन् क्षेत्रतोऽङ्गुलमु-धवत्त्वं पश्यति, पृथक्त्वं हि हिप्रभृतिरानवभ्यः । इति प्रथमगाथायः ॥४७॥

द्वितीयगाथाव्याख्या—'हन्ते' इति हन्तविषयः क्षेत्रतोऽवधिः कालतो मुहूर्तान्तः पश्यति, निद-

मुहूर्त्तमित्यर्थः, अवध्यवधिमतोरभेदोपचारादवधिः पश्यतीत्युच्यते । तथा कालतः 'दिवसान्तः' भिन्नदिवसं पश्यन् क्षेत्रतः 'गव्यूते' इति गव्यूतविषयो बोद्धव्यः । तथा योजनविषयः क्षेत्रतोऽवधिः कालतो दिवसपृथक्त्वं पश्यति । तथा 'पक्षान्तः' भिन्नं पक्षं पश्यन् कालतः पञ्चविंशतिं योजनानि पश्यतीति द्वितीयगाथार्थः ॥ ४८ ॥

तृतीयगाथान्याख्या— 'भरते' इति क्षेत्रतो भरतविषयेऽवधौ कालतः अर्द्धमास उक्तः । एवं जम्बूद्वीप-
5 विषये चावधौ साधिको मासः । वर्षं च मनुष्यलोकविषयेऽवधाविति, मनुष्यलोकः खल्वर्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रपरि-
माणः । वर्षपृथक्त्वं च रुचकारख्यवाह्यद्वीपविषयेऽवधाववगन्तव्यमिति तृतीयगाथार्थः ॥ ४९ ॥

चतुर्थगाथान्याख्या—सह्यायत इति सह्येयः, स च संवत्सरलक्षणोऽपि भवति । तुशब्दो विशेषणार्थः ।
किं विशिनष्टि ? सह्येयो वर्षसहस्रात् परतोऽपि गृह्यत इति, तस्मिन् सह्येये कलनं कालः तस्मिन् काले अवधे-
गोचरे सति क्षेत्रतस्तस्यैवावधेर्गोचरतया द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीप-समुद्रा अपि भवन्ति सह्येयाः । अपिशब्दाद् महा-
10 नेकोऽपि तदेकदेशोऽपीति । तथा 'कालेऽसह्येये' पत्योपमादिलक्षणेऽवधेर्विषये सति तस्यैवासह्येयकालपरिच्छे-
दकस्यावधेः क्षेत्रतः परिच्छेद्यतया द्वीप-समुद्रास्तु भाज्याः कदाचिदसह्येया एव । यदा इह कस्यचिन्मनुष्यस्या-
सह्येयद्वीप-समुद्रविषयोऽवधिरूपघट इति, कदाचिन्महान्तः सह्येयाः, कदाचिदेकदेशः स्वयम्भूरमणतिरश्चोऽवधि-
विज्ञेयः, स्वयम्भूरमणविषयमनुष्यवाह्यावधेर्वा, योजनापेक्षया च सर्वपक्षेष्वसह्येयमेव क्षेत्रमिति गाथार्थः ॥ ५० ॥
एवं तावत् परिस्थूरन्यायमङ्गीकृत्य क्षेत्रवृद्ध्या कालवृद्धिरनियता, कालवृद्ध्या च क्षेत्रवृद्धिः प्रतिपादिता । साम्प्रतं
15 द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया यस्य वृद्धौ यस्य वृद्धिर्भवति यस्य वा न भवत्यमुमर्थमभिहितसुराह —

काले० गाहा । व्याख्या—'काले' अवधिज्ञानगोचरे वर्द्धमाने 'चतुर्णां' द्रव्यादीनां वृद्धिर्भवति । कालस्तु
'भाज्यः' विकल्पयितव्यः क्षेत्रस्य वृद्धिः क्षेत्रवृद्धिः तस्यां क्षेत्रवृद्धौ सत्याम्, कदाचिद् वर्द्धते कदाचिन्नेति । कुतः ?
क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात्, कालस्य च स्थूलत्वात् । द्रव्य-पर्यायौ तु वर्द्धेते । सप्तम्यन्तता चास्य —

ए होइ अयारंते पयम्मि वीयाए बहुसु पुळ्लिगे । तइयाइसु छट्टी-सत्तमीण एकम्मि महिलत्थे ॥ १ ॥

20

[]

अस्माल्लक्षणात् सिद्धेति । एवमन्यत्रापि प्राकृतशैल्या इष्टविभक्त्यन्तता पदानामवगन्तव्येति । तथा वृद्धौ च
द्रव्यं च पर्यायश्च द्रव्य-पर्यायौ तयोर्वृद्धौ सत्यां 'भाज्यौ' विकल्पनीयौ क्षेत्र-कालावेव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्,
कदाचिदनयोर्वृद्धिर्भवति कदाचिन्नेति, द्रव्य-पर्याययोः सकाशात् परिस्थूरत्वात् क्षेत्र-कालयोरिति भावार्थः । द्रव्य-
वृद्धौ तु पर्याया वर्द्धन्त एव, पर्यायवृद्धौ च द्रव्यं भाज्यम्, द्रव्यात् पर्यायाणां सूक्ष्मत्वाद् एकस्मिन् भावे
25 क्रमवर्तिनामपि च वृद्धिसम्भवात् कालवृद्धयभावो भावनीय इति गाथार्थः ॥५१॥ अत्र कश्चिदाह—जघन्य-मध्य-
मोत्कृष्टभेदभिन्नयोरवधिज्ञानसम्बन्धिनोः क्षेत्र-कालयोरङ्गुला-ऽऽवलिक्ताऽसङ्ख्येयभागोपलक्षितयोः परस्परतः प्रदेश-
समयसङ्ख्यया परिस्थूर-सूक्ष्मत्वे सति कियता भागेन हीना-ऽधिकत्वम् ? इति, अत्रोच्यते, सर्वत्र प्रतियोगिनः
खलवावलिक्ताऽसङ्ख्येयभागादेः कालादसङ्ख्येयगुणं क्षेत्रम् । कुत एतत् ? अत आह—

सहूमो य० गाहा । व्याख्या—सूक्ष्मश्च-श्लक्ष्णश्च भवति कालः, यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे समयाः प्रतिपत्र-
30 मसह्येयाः प्रतिपादिताः । तथापि ततः कालात् सूक्ष्मतरं भवति क्षेत्रम् । कुतः ? यस्मादङ्गुलश्रेणिमात्रे क्षेत्रे प्रदेश-
परिमाणं प्रतिप्रदेशं समयगणनया अवसर्पिण्यः असह्येयास्तीर्थकृद्धिः प्रतिपादिताः । एतदुक्तं भवति—अङ्गुलश्रे-
णिमात्रक्षेत्रप्रदेशाग्रमसह्येयावसर्पिणीसमयराशिपरिमाणमिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

से त्तं इत्यादि, तदेतद् वर्द्धमानकं अवधिज्ञानमिति ३॥

२५. से किं तं हायमाणयं ओहिणाणं ? हायमाणयं ओहिणाणं अप्ससत्थेहिं अज्झवसायट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाणचरित्तस्स सब्बओ समंता ओही परिहायति । से त्तं हायमाणयं ओहिणाणं ४ ।

२५. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् हीयमानकम् ? हीयमानकं कथञ्चिद्व्याप्तं सद् अपशस्तेष्वध्य- 5
वसायस्थानेषु वर्तमानस्य सतोऽविरतसम्यग्दृष्टेः, 'वर्तमानचारित्रस्य' देशविरतादेः, 'संकिल्यमानस्य' वध्यमा-
नकर्मसंसर्गादुत्तरोत्तरं संक्लेशमासादयत अविरतसम्यग्दृष्टेरेव, 'संकिल्यमानचारित्रस्य' देशविरतादेः, सर्वतः
समन्तादवधिः परिक्षीयते । तदेतद् हीयमानकमवधिज्ञानमिति ४॥

२६. से किं तं पडिवाति ओहिणाणं ? पडिवाति ओहिणाणं जणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं वा संखेज्जतिभागं वा वालग्गं वा वालग्गपुहत्तं वा लिक्खं वा लिक्खपुहत्तं 10
वा जूयं वा जूयपुहत्तं वा जवं वा जवपुहत्तं वा अंगुलं वा अंगुलपुहत्तं वा पायं वा पायपुहत्तं वा
वियत्थि वा वियत्थिपुहत्तं वा रयणिं वा रयणिपुहत्तं वा कुच्चिं वा कुच्चिपुहत्तं वा धणुयं वा
धणुयपुहत्तं वा गाउयं वा गाउयपुहत्तं वा जोयणं वा जोयणपुहत्तं वा जोयणसयं वा जोयणसय-
पुहत्तं वा जोयणसहस्सं वा जोयणसहस्सपुहत्तं वा जोयणसतसहस्सं वा जोयणसतसहस्सपुहत्तं 15
वा जोयणकोडिं वा जोयणकोडिपुहत्तं वा जोयणकोडाकोडिं वा जोयणकोडाकोडिपुहत्तं
वा उक्कोसेण लोमं वा पासित्ता णं पडिवएज्जा । से त्तं पडिवाति ओहिणाणं ५ ।

२६. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् प्रतिपात्यवधिज्ञानम् ? प्रतिपात्यवधिज्ञानं "जघ"मिति 'यद्' 20
अवधिज्ञानं 'जघन्येन' सर्वस्तोकतयाऽङ्गुलान्यासङ्गयेयभागमात्रं वा. उक्तपंच सर्वमच्युतया यावद् 'लोकं दृष्ट्वा'
लोकमुपलभ्य तथाविधंधयोपशमजन्त्यत्वात् प्रतिपत्तेत् न भवेदित्यर्थः. तदेतत् प्रतिपात्यवधिज्ञानमिति क्रिया । शेषं
प्रायो निगदसिद्धम् । नवरं 'पृथक्त्वमिति' द्विप्रभृतिः आ नवभ्य इति सिद्धवद्विभागः । तथा हस्तद्वयं कुक्षिगन्धने ।
चत्वारो हस्ता धनुरिति । "से त्तं"मित्यादि तदेतत् प्रतिपात्यवधिज्ञानम् ५॥

२७. से किं तं अपडिवाति ओहिणाणं ? अपडिवाति ओहिणाणं जेणं अल्लोगस्स एगमवि आगासपदेसं पासेज्जा तेण परं अपडिवाति ओहिणाणं । से त्तं अपडिवाति ओहिणाणं ६ ।

२७. से किं तमित्यादि । अथ किं तदप्रतिपात्यवधिज्ञानम् ? "जेणं" ति 'केन' अवधिज्ञानेनाद्योक्तस्य 25
सम्यग्निधनमेकमप्याकाशप्रदेशम्. अपिशब्दाद् बहून् वा 'पदेत' शब्दप्रदेशयोस्तमेत. एतावन्तयोः समनयं यद्
'नत् उर्ध्वमिति' तत् आरभ्याप्रतिपाति आ केवलप्राप्तेरवधिज्ञानमिति । अयमत्र भावार्थः—एतावन्तयोः समम-
म्भात्मा विनिहतप्रधानप्रतिपक्षयोः सहात इव नृपतिर्न पुनः कर्मद्वेषा परिश्रयते. किं तर्हि ? समानादिर्देवा-
दाद्योक्त एवमिति नृपतः शेषमपि कर्मशत्रुं विनिर्जित्वाऽऽप्नोति केवलगाव्यवधिमिति । व्योम-ऽप्योऽवधिज्ञानस्य च—

संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगवभवकंतियमणुस्साणं अणिड्ढिपत्तअपमत्तसंजयसम्मदिड्ढि-
पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगवभवकंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! इड्ढिपत्तअपमत्तसंजय-
सम्मदिड्ढिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगवभवकंतियमणुस्साणं, णो अणिड्ढिपत्तअपम-
त्तसंजयसम्मदिड्ढिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगवभवकंतियमणुस्साणं मणपज्जवणाणं
समुप्पज्जइ ।

5

३०. से किं तं मणपज्जवणाणमित्यादि । अथ किं तद् मनःपर्यायज्ञानम् ? इदं प्राग्विरूपितशब्दार्थमेव ।
साम्प्रतमुत्पत्ति-स्वामिमार्गणाद्वारेण चिन्त्यते । तथा चाह—“मणपज्जवणाणे णं भंते” इत्यादि । मनःपर्यायज्ञानं
“ण”मिति वाचक्यालङ्कारे, ‘भदन्त !’ इति गुर्वामन्त्रणम्, ‘किम्’ इति परिप्रश्ने, मनुष्याणामुत्पद्यत इति प्रकटा-
र्थम्, अमनुष्याणामुत्पद्यत इति । अमनुष्याः—देवादयः । अत्रेदं निर्वचनम्—“गौतम ! मणुस्साण”मित्यादि । आह—
किमिदं अक्राण्ड एव गौतमामन्त्रणम् ? ननु देवाचक्रचितोऽयं ग्रन्थ इत्युच्यते, सत्यम्, किन्तु वेते पूर्वसूत्रालापका
एवार्थवशाद् विरचिताः, “जावइया तिसमयाहारगस्से” [आव. नि. गा. ३०] त्यादिनिर्मुक्तिगाथासूत्रवद् इत्यतो न
दोषः, तत्र च गौतमप्रश्न-भगवन्निर्वचनरूप एव ग्रन्थ इति । पुनरप्याह—ननु गौतमोऽपि सूत्रतः प्रवचनप्रणेतृत्वात् चतु-
र्दशपूर्वधरत्वात् सकलप्रज्ञापनीयभावपरिज्ञानयुक्तत्वात् सर्वज्ञकल्प एव, उक्तं च—

संखातीते वि भवे साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । ण य णं अणाइसेसी वियाणई एस छउमत्थो ॥ १ ॥

[आव. नि. गा. ५९०] 15

ततः किमर्थं पृच्छति ? अत्रोच्यते, कुतश्चिदभिप्रायात्, जानान एव स्वशिष्येभ्यो वा प्ररूप्य तत्सम्प्रत्यय-
निमित्तम्, सूत्ररचनाकल्पतो वेति न दोषः, कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रन्तुमः—गौतमेन पृष्टो भगवानाह—गौतम !
मनुष्याणामुत्पद्यते, नान्येषाम्, विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यभावात् । एवमन्यत्रापि भावना कार्येति । सम्मूर्च्छिममनु-
ष्या गर्भच्युत्क्रान्तिकमनुष्यवान्तादिसमुद्भवाः । उक्तं च—“कहि णं भंते ! सम्मूर्च्छिममणुस्सा सम्मूर्च्छंति ?
गोयमा ! अंतोमणुस्सखेत्ते पणयालीसाए जोयणसयसदस्सेणु अइदाउज्जेणु दीवन्मदेणु पत्तरणणु कम्मभूमिणु
तीसाए अकम्मभूमिणु छप्पन्नाते अंतरदीवणु गवभवकंतियमणुस्साणं चेव उणाणु वा पाणवणु वा वेत्तेणु वा
सियाणु वा वेत्तेणु वा पिच्चेणु वा [पूणु वा] सोणिएणु वा मुक्केणु वा मुक्कणोणवणु वा विगय[जीव]कळे-
वरेणु वा थी-पुरिससंजोणेणु वा गामणिद्धमणेणु वा णगरणिद्धमणेणु वा नय्येणु चेव अमुराणु वा, एण्य णं
सम्मूर्च्छिममणुस्सा सम्मूर्च्छंति अंगुलत्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओणाहणाए अगरी मित्तइदी अन्नाणी गव्यादि
पज्जत्तीं अपज्जत्ता अंतोमुहुत्तदाउया चेव कालं करंति । [प्रज्ञा० पदं १ सूत्रं ३६ पदं ५०-१] अथाद्याः पश्चाद्वा
कर्मभूमयः । हेमवताद्यादिशदकर्मभूमयः । त्रीणि योजनशतानि त्वमजलधिजलमध्यमद्विदत्त किमर्थात्किमर्थात्प्राप्तप्रतिष्ठिता
एकोरकाद्याः पट्टपश्चादन्तर्हीपा भवन्ति । कर्मभूमौ जाताः कर्मभूमिना इत्येवमङ्गसंज्ञिता कार्या । सर्वव्यर-
पाणुपः—पूर्वकोट्यादिजीविनः । अस्तव्येयवर्पाणुपः—पल्योपसादिर्जाविन इति ।

एत पर्याभिर्नाम-शक्तिः. ता च पुद्गलद्रव्योपचयादुत्पद्यते । ता इतः पट्टमकाया, तद्वत्-आद्यान्पर्याभिः १
शरीरपर्याभिः २ इन्द्रियपर्याभिः ३ प्राणापानपर्याभिः ४ भासापर्याभिः ५ मनःपर्याभिः इति ६ । एत पर्याभिः— ०

१ 'पूर्वकोट्यादिजीविनः' शानप्रयादापर्यपूर्ववत्का अलापका इत्यर्थः ॥